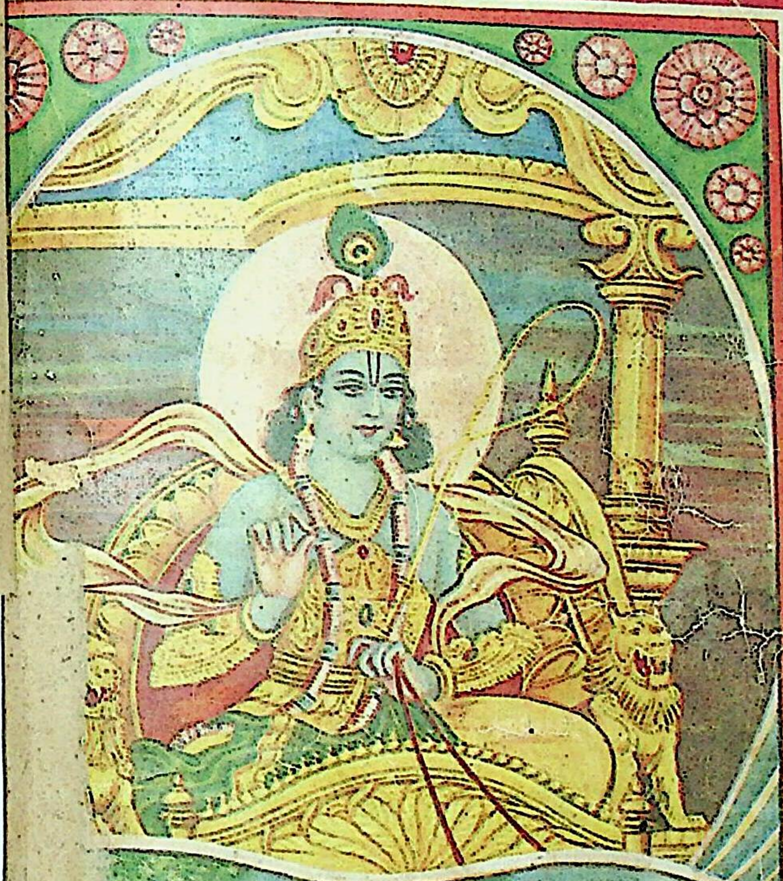
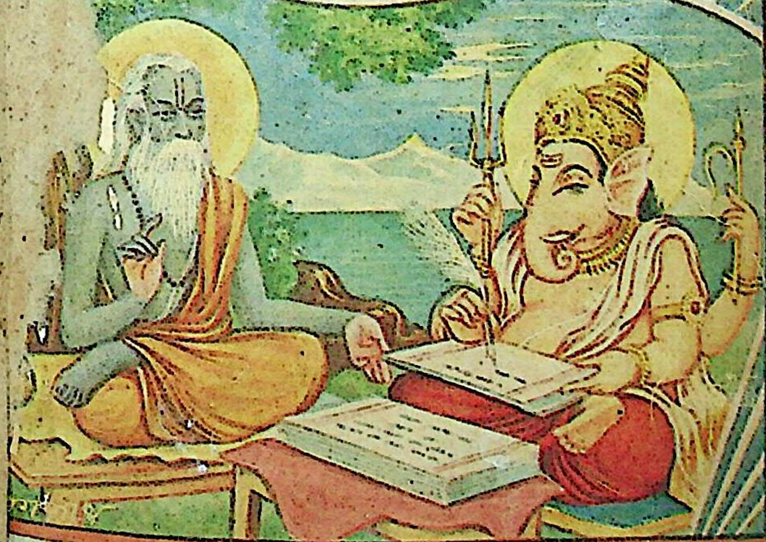

महाभारत



संस्कृत मूल

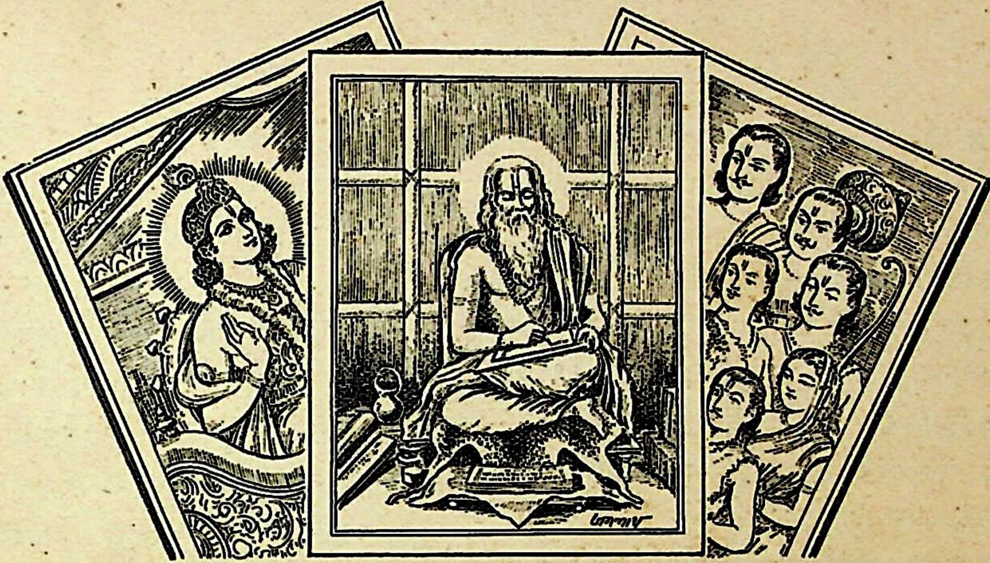
हिन्दी अनुवाद



गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या १

ॐ श्रीपरमात्मने नमः



महाभारत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष १ } गोरखपुर, भाद्रपद २०१३, सितम्बर १९५६ { संख्या ११
पूर्ण संख्या ११

महाभारतमें वेदका सिद्धान्त—भगवद्भक्तिकी महत्ता

भक्तिर्हरेर्विजयते सकलाघहन्त्री
किं कर्मणाथ तपसाखिलसाधनैर्वा ।
सिद्धान्त एष निगमस्य मुनिप्रणीतः
श्रीभारते शृणुत भोः कृतिनो महान्तः ॥

हे महान् पुण्यात्मा पुरुषो ! भगवान्‌की भक्ति समस्त पापोंका नाश करनेवाली है, उसकी सर्वत्र विजय है । (उसके रहते) कर्म, तपस्या अथवा अन्य सारे साधनोंकी क्या आवश्यकता है ? वेदका यह सिद्धान्त है, जो महर्षि व्यासद्वारा श्रीमहाभारत-ग्रन्थमें प्रतिपादित हुआ है । इसे आप लोग सुनें ।

(महाभारत, तात्पर्यप्रकाश)

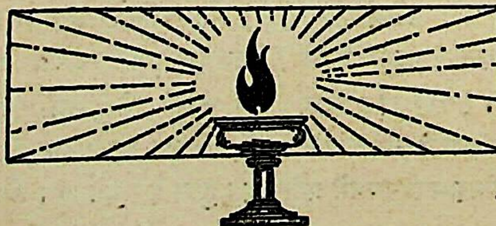
*

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची



चित्र-सूची



॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

उद्योगपर्व

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार
टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुन और कृपाचार्यका युद्ध देखनेके लिये देवताओंका आकाशमें विमानोंपर आगमन

वैशम्पायन उवाच

तान्यनीकान्यदृश्यन्त कुरूणामुग्रधन्विनाम् ।
संसर्पन्ते यथा मेघा घर्मान्ते मन्दमारुताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भयंकर धनुष धारण करनेवाले कौरवोंके वे सैनिक शनैः-शनैः आगे बढ़ने लगे । उस समय वे ऐसे दिखायी देते थे, मानो ग्रीष्मके अन्त एवं वर्षाके प्रारम्भमें मन्द वायुद्वारा प्रेरित मेघ धीरे-धीरे आ रहे हों ॥ १ ॥

अभ्याशे वाजिनस्तस्थुः समारूढाः प्रहारिणः ।
भीमरूपाश्च मातङ्गास्तोमराङ्कुशनोदिताः ।
महामात्रैः समारूढा विचित्रकवचोज्ज्वलाः ॥ २ ॥

घुड़सवार योद्धा समीप आकर खड़े हो गये । घोड़ोंके साथ ही भयंकर हाथी भी आगे बढ़ आये । उन्हें महावत तोमर और अङ्कुशोंकी मारसे आगे बढ़नेकी प्रेरणा दे रहे थे और उन हाथियोंपर बैठे हुए शूर-वीर अपने विचित्र कवचोंकी प्रभासे प्रकाशित हो रहे थे ॥ २ ॥

ततः शक्रः सुरगणैः समारुह्य सुदर्शनम् ।
सहोपायात् तदा राजन् विश्वाश्विमरुतां गणैः ॥ ३ ॥

राजन् ! इसी समय देवताओंसहित इन्द्र विमानपर बैठकर विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गणोंके साथ वहाँ आये, जहाँ परस्पर शत्रुता रखनेवाले दो दलोंका भयंकर संघर्ष छिड़ा हुआ था ॥ ३ ॥

तद् देवयक्षगन्धर्वमहोरगसमाकुलम् ।
शुशुभेऽभ्रविनिर्मुक्तं ग्रहाणामिव मण्डलम् ॥ ४ ॥

उस समय देवता, यक्ष, गन्धर्व तथा बड़े-बड़े नागों (के विमानों) से भरा हुआ वहाँका आकाश बादलोंके आवरणसे रहित ग्रहमण्डलकी भाँति शोभा पाने लगा ॥ ४ ॥

अस्त्राणां च बलं तेषां मानुषेषु प्रयुञ्जताम् ।
तच्च भीमं महद् युद्धं कृपार्जुनसमागमे ।
द्रष्टुमभ्यागता देवाः स्वविमानैः पृथक् पृथक् ॥ ५ ॥

कृपाचार्य और अर्जुनके संग्राममें देवताओंके उन अस्त्रोंकी शक्तिका मनुष्योंपर प्रयोग करनेवाले शूरवीरोंके उस महाभयंकर युद्धको अपनी आँखों देखनेके लिये देवतालोग पृथक्-पृथक् अपने विमानोंपर बैठकर आये थे ॥ ५ ॥

शतं शतसहस्राणां यत्र स्थूणा हिरण्मयी ।
मणिरत्नमयी चान्या प्रासादं तदधारयत् ॥ ६ ॥

ततः कामगमं दिव्यं सर्वरत्नविभूषितम् ।
विमानं देवराजस्य शुशुभे खेचरं तदा ॥ ७ ॥

उन विमानोंमें देवराज इन्द्रका आकाशचारी विमान उस समय सबसे अधिक शोभा पा रहा था । वह इच्छानुसार चलनेवाला दिव्य यान सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित था । उस विमानको एक करोड़ खंभोंने धारण कर रक्खा था । उनमें एक ओर सोनेके और दूसरी ओर मणि एवं रत्नोंके खंभे लगे थे ॥ ६-७ ॥

तत्र देवास्त्रयस्त्रिंशत् तिष्ठन्ति सहवासवाः ।
गन्धर्वा राक्षसाः सर्पाः पितरश्च महर्षिभिः ॥ ८ ॥
तथा राजा वसुमना बलाक्षः सुप्रतर्दनः ।
अष्टकश्च शिबिश्चैव ययातिर्नहुषो गयः ॥ ९ ॥
मनुः पूरू रघुर्भानुः कृशाश्वः सगरो नलः ।
विमाने देवराजस्य समदृश्यन्त सुप्रभाः ॥ १० ॥

उस विमानमें इन्द्रसहित तैंतीस देवता विराजमान थे । इनके सिवा गन्धर्व, राक्षस, सर्प, पितर, महर्षिगण, राजा वसुमना, बलाक्ष, सुप्रतर्दन, अष्टक, शिबि, ययाति, नहुष, गय, मनु, पूरु, रघु, भानु, कृशाश्व, सगर तथा नल—ये सब तेजस्वी रूप धारण करके देवराजके विमानमें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ८–१० ॥

अग्नेरीशस्य सोमस्य वरुणस्य प्रजापतेः ।
तथा धातुर्विधातुश्च कुबेरस्य यमस्य च ॥ ११ ॥
अलम्बुषोग्रसेनानां गन्धर्वस्य च तुम्बुरोः ।
यथामानं यथोद्देशं विमानानि चकाशिरे ॥ १२ ॥

अग्नि, ईश, सोम, वरुण, प्रजापति, धाता, विधाता कुबेर, यम, अलम्बुष और उग्रसेन आदि गन्धर्व तथा गन्धर्वराज तुम्बुरुके भी पृथक्-पृथक् विमान अपनी-अपनी लंबाई-चौड़ाईके अनुसार आकाशके विभिन्न प्रदेशोंमें प्रकाशित हो रहे थे ॥ ११-१२ ॥

सर्वदेवनिकायाश्च सिद्धाश्च परमर्षयः ।
अर्जुनस्य कुरूणां च द्रष्टुं युद्धमुपागताः ॥ १३ ॥

ये सभी देवसमुदाय, सिद्ध और महर्षिगण अर्जुन तथा कौरवदलका युद्ध देखनेके लिये जुटे थे ॥ १३ ॥

दिव्यानां सर्वमाल्यानां गन्धः पुण्योऽथ सर्वशः ।
प्रससार वसन्ताग्रे वनानामिव भारत ॥ १४ ॥

जनमेजय ! जैसे वसन्तके प्रारम्भमें वनके फूलोंकी मनोहर सुगन्ध सब ओर फैलने लगती है, उसी प्रकार दिव्य मालाओंकी पुण्यमय गन्ध वहाँ सब ओर छा गयी ॥ १४ ॥

तत्र रत्नानि देवानां समदृश्यन्त तिष्ठताम्।
आतपत्राणि वासांसि स्रजश्च व्यजनानि च ॥ १५ ॥

उन विमानोंमें बैठे हुए देवताओंके रत्न, छत्र, वस्त्र, मालाएँ और चँवर आदि स्पष्ट दिखायी दे रहे थे ॥ १५ ॥

उपाशाम्यद् रजो भौमं सर्वं व्याप्तं मरीचिभिः।
दिव्यगन्धानुपादाय वायुर्योधानसेवत ॥ १६ ॥

धरतीकी धूल शान्त हो गयी थी और पृथ्वीकी प्रत्येक वस्तुपर (दिव्य) किरणोंका प्रकाश छा गया था। वायु दिव्य गन्ध लेकर वहाँपर स्थित योद्धाओंका सेवन करती थी ॥ १६ ॥

प्रभासितमिवाकाशं चित्ररूपमलंकृतम्।
सम्पतद्भिः स्थितैश्चापि नानारत्नविभासितैः ॥ १७ ॥

विमानैर्विविधैश्चित्रैरुपानीतैः सुरोत्तमैः।
वज्रभृच्छुशुभे तत्र विमानस्थैः सुरैर्वृतः ॥ १८ ॥
बिभ्रन्मालां महातेजाः पद्मोत्पलसमायुताम्।
विप्रेक्ष्यमाणो बहुभिर्नातृप्यत् सुमहाहवम् ॥ १९ ॥

श्रेष्ठ देवताओंद्वारा लाये हुए भाँति-भाँतिके विचित्र विमान अनेकानेक रत्नोंसे उद्भासित थे। उनमेंसे कुछ स्थिर हो गये थे और कुछ (नीचे-ऊपर) उड़ रहे थे। उनके द्वारा उद्भासित होनेवाले आकाशकी विचित्र शोभा हो रही थी। वहाँ विमानस्थ देवताओंसे घिरे हुए वज्रधारी महातेजस्वी इन्द्र पद्म और उत्पलोंकी माला पहने सुशोभित हो रहे थे। वे अनेक वीरोंके साथ छिड़े हुए अर्जुनके उस महान् संग्रामको बार-बार देखते थे, तो भी तृप्त नहीं होते थे ॥ १७–१९ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि देवागमने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें देवागमनविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कृपाचार्य और अर्जुनका युद्ध तथा कौरवपक्षके सैनिकोंद्वारा कृपाचार्यको हटा ले जाना

वैशम्पायन उवाच

दृष्ट्वा व्यूढान्यनीकानि कुरूणां कुरुनन्दन।
तत्र वैराटिमामन्त्र्य पार्थो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कौरवसेनाओंको व्यूह-रचना करके खड़ी हुई देखकर कुन्तीनन्दन अर्जुनने विराटकुमार उत्तरको सम्बोधित करके कहा— ॥ १ ॥

जाम्बूनदमयी वेदी ध्वजे यस्य प्रदृश्यते।
तस्य दक्षिणतो याहि कृपः शारद्वतो यतः ॥ २ ॥

'उत्तर! जिसकी ध्वजापर सोनेकी वेदीका चिह्न दिखायी देता है, उस रथके दाहिने होकर चलो। उधर ही शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य हैं' ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

धनंजयवचः श्रुत्वा वैराटिस्त्वरितस्ततः।
हयान् रजतसंकाशान् हेमभाण्डानचोदयत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! धनंजयकी बात सुनकर विराटकुमार उत्तरने तुरंत ही चाँदीके समान चमकीले उन श्वेत घोड़ोंको, जो सोनेके साज-सामानसे सुशोभित हो रहे थे, हाँका ॥ ३ ॥

आनुपूर्व्यात् तु तत् सर्वमास्थाय जवमुत्तमम्।
प्राहिणोच्चन्द्रसंकाशान् कुपितानिव तान् हयान् ॥ ४ ॥

घोड़ोंको वेगपूर्वक भगानेके जितने उत्तम ढंग हैं, क्रमशः उन सबका सहारा लेकर उत्तरने उन चन्द्रमाके समान श्वेत घोड़ोंको इतनी तीव्र गतिसे आगे बढ़ाया, मानो वे कुपित होकर भाग रहे हों ॥ ४ ॥

स गत्वा कुरुसेनायाः समीपं हयकोविदः।
पुनरावर्तयामास तान् हयान् वातरंहसः ॥ ५ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य मण्डलं सव्यमेव च।

अश्वविद्यामें प्रवीण विराटपुत्रने पहले कौरवसेनाके समीप जाकर उन वायुके समान वेगशाली घोड़ोंको पुनः लौटाया और दाँयीं ओरसे घुमाकर बाँयीं ओर बढ़ा दिया ॥ ५½ ॥

कुरून् सम्मोहयामास मत्स्यो यानेन तत्त्ववित् ॥ ६ ॥
कृपस्य रथमास्थाय वैराटिरकुतोभयः।
प्रदक्षिणमुपावृत्य तस्थौ तस्याग्रतो बली ॥ ७ ॥

अश्वसंचालनका रहस्य जाननेवाले मत्स्यनरेशके पुत्रने रथकी चालसे कौरवोंको मोह (भ्रम) में डाल दिया—वे यह न जान सके कि रथ किस महारथीके पास जाना चाहता है। विराटनन्दन महाबली उत्तरको किसी ओरसे कोई भय नहीं था। उसने कृपाचार्यके रथके समीप जा रथद्वारा उनकी प्रदक्षिणा की। फिर उनके सामने जा वह रथ रोककर खड़ा हो गया ॥ ६-७ ॥

ततोऽर्जुनः शङ्खवरं देवदत्तं महारवम्।
प्रदध्मौ बलमास्थाय नाम विश्राव्य चात्मनः ॥ ८ ॥

तब अर्जुनने अपना नाम सुनाकर और पूरा बल लगाकर भारी आवाज करनेवाले अपने उत्तम शङ्ख देवदत्तको बजाया ॥

तस्य शब्दो महानासीद् धम्यमानस्य जिष्णुना।
तथा वीर्यवता संख्ये पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ ९ ॥

युद्धभूमिमें वैसे महापराक्रमी विजयशील अर्जुनके द्वारा बजाये जानेपर उस शङ्खसे इतने जोरकी आवाज हुई, मानो कोई पर्वत फट गया हो ॥ ९ ॥

पूजयांचक्रिरे शङ्खं कुरवः सहसैनिकाः।
अर्जुनेन तथा ध्मातः शतधा यन्न दीर्यते ॥ १० ॥

उस समय समस्त कौरव अपने सैनिकोंके साथ यह कहकर उस शङ्खकी सराहना करने लगे कि अहो! यह अद्भुत शङ्ख है, जो अर्जुनके इस प्रकार बजानेपर भी उसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते! ॥ १० ॥

दिवमावृत्य शब्दस्तु निवृत्तः शुश्रुवे पुनः।
सृष्टो मघवता वज्रः प्रपतन्निव पर्वते ॥ ११ ॥

वह शङ्खनाद स्वर्गलोकसे टकराकर जब पुनः लौटा, तब इस प्रकार सुनायी दिया, मानो इन्द्रका चलाया हुआ वज्र किसी पर्वतपर गिरा हो ॥ ११ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरो बलवीर्यसमन्वितः।
अर्जुनं प्रति संरब्धः कृपः परमदुर्जयः।
अमृष्यमाणस्तं शब्दं कृपः शारद्वतस्तदा ॥ १२ ॥
अर्जुनं प्रति संरब्धो युद्धार्थी स महारथः।
महोदधिजमादाय दध्मौ वेगेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥

वीरवर कृपाचार्य बल और पराक्रमसे सम्पन्न थे। उन्हें जीतना अत्यन्त कठिन था। वे अर्जुनके शङ्ख बजानेके अनन्तर उनके प्रति कुपित हो उठे। शरद्वान्‌के पुत्र महारथी कृपाचार्य उस समय अर्जुनके शङ्खनादको नहीं सह सके उनके मनमें अर्जुनपर कुछ रोष हो आया; इसलिये युद्धके (उसके साथ) अभिलाषी होकर उन महापराक्रमी महारथीने अपना शङ्ख लेकर उसे बड़े जोरसे फूँका ॥ १२-१३ ॥

स तु शब्देन लोकांस्त्रीनावृत्य रथिनां वरः।
धनुरादाय सुमहज्ज्याशब्दमकरोत् तदा ॥ १४ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने उस शङ्खनादसे तीनों लोकोंको गुँजाकर उस समय हाथमें धनुष ले लिया और उसकी प्रत्यञ्चा खींचकर टंकारध्वनि की ॥ १४ ॥

तौ रथौ सूर्यसंकाशौ योत्स्यमानौ महाबलौ।
शारदाविव जीमूतौ व्यरोचेतां व्यवस्थितौ ॥ १५ ॥

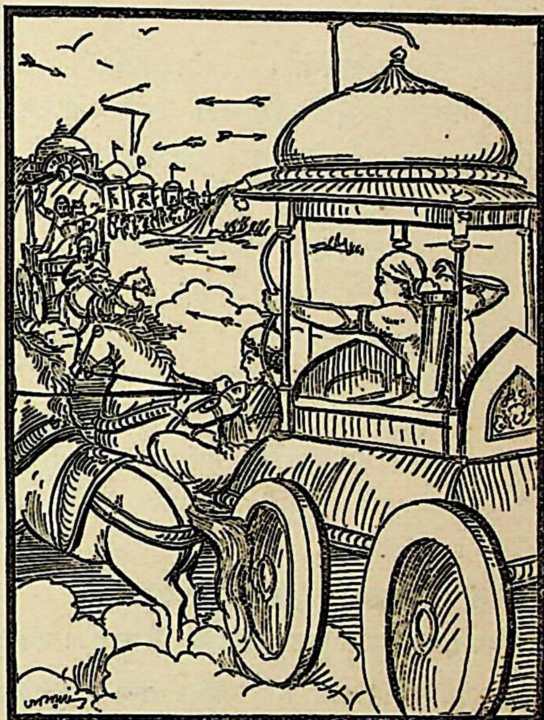
वे दोनों महारथी बड़े पराक्रमी और सूर्यके समान तेजस्वी थे, अतः युद्ध करनेके लिये खड़े हुए वे दोनों वीर शरत्कालके दो मेघोंकी भाँति शोभा पाने लगे ॥ १५ ॥

ततः शारद्वतस्तूर्णं पार्थं दशभिराशुगैः।
विव्याध परवीरघ्नं निशितैर्मर्मभेदिभिः ॥ १६ ॥

तदनन्तर कृपाचार्यने मर्मस्थानको विदीर्ण कर देनेवाले दस तीखे बाणोंद्वारा शत्रुवीरोंके संहारक कुन्तीनन्दन अर्जुनको तुरंत बींध डाला ॥ १६ ॥

पार्थोऽपि विश्रुतं लोके गाण्डीवं परमायुधम्।
विकृष्य चिक्षेप बहून् नाराचान् मर्मभेदिनः ॥ १७ ॥

तब अर्जुनने भी अपने विश्वविख्यात उत्तम आयुध गाण्डीवको (कानतक) खींचकर बहुत-से मर्मभेदी नाराच छोड़े ॥ १७ ॥



तान् प्राप्तान्छितैर्बाणैर्नाराचान् रक्तभोजनान्।
कृपश्चिच्छेद पार्थस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १८ ॥

किंतु अर्जुनके द्वारा चलाये हुए उन रक्त पीनेवाले नाराचोंको अपने पास आनेसे पहले ही कृपाचार्यने तीखे बाण मारकर उनके सैकड़ों और हजारों टुकड़े कर डाले ॥ १८ ॥

ततः पार्थस्तु संक्रुद्धश्चित्रान् मार्गान् प्रदर्शयन्।
दिशः संछादयन् बाणैः प्रदिशश्च महारथः।
एकच्छायमिवाकाशमकरोत् सर्वतः प्रभुः ॥ १९ ॥

तब सामर्थ्यशाली महारथी कुन्तीपुत्र अर्जुनने क्रोधमें भरकर बाण चलानेकी विचित्र पद्धतियोंका प्रदर्शन करते हुए बाणोंकी झड़ी लगाकर सम्पूर्ण दिशा-विदिशाओंको ढँक दिया और आकाशको सब ओरसे एकमात्र अन्धकारमें निमग्न-सा कर दिया ॥ १९ ॥

प्राच्छादयदमेयात्मा पार्थः शरशतैः कृपम्।
स शरैरर्दितः क्रुद्धः शितैरग्निशिखोपमैः ॥ २० ॥

तदनन्तर अचिन्त्य मन-बुद्धिवाले पृथापुत्र अर्जुनने

सैकड़ों बाण मारकर कृपाचार्यको ढँक दिया । आगकी लपटोंके समान जलानेवाले उन तीखे बाणोंसे पीड़ित होनेपर कृपाचार्यको बड़ा क्रोध हुआ ॥ २० ॥

तूर्णं दशसहस्रेण पार्थमप्रतिमौजसम् ।
अर्दयित्वा महात्मानं ननर्द समरे कृपः ॥ २१ ॥

तब उन्होंने अनुपम पराक्रमी महात्मा पृथापुत्रको युद्धमें तुरंत ही दस हजार बाणोंसे पीड़ित करके बड़े जोरसे गर्जना की ॥ २१ ॥

ततः कनकपर्वाग्रैर्वीरः संनतपर्वभिः ।
त्वरन् गाण्डीवनिर्मुक्तैरर्जुनस्तस्य वाजिनः ॥ २२ ॥
चतुर्भिश्चतुरस्तीक्ष्णैरविध्यत् परमेषुभिः ।
ते हया निशितैर्बाणैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः ।
उत्पेतुः सहसा सर्वे कृपः स्थानादथाच्यवत् ॥ २३ ॥

तब वीर अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए झुकी हुई गाँठ और सुनहरे पर्वाग्र (फल) वाले चार बाणोंद्वारा बड़ी उतावलीसे कृपाचार्यके चारों घोड़ोंको बींध डाला । वे चारों बाण बड़े तीखे और उत्तम थे । विषाग्निसे जलते हुए सर्पोंकी भाँति उन तेज बाणोंकी मार खाकर वे सभी घोड़े सहसा उछल पड़े । इससे कृपाचार्य अपने स्थानसे गिर गये ॥ २२-२३ ॥

च्युतं तु गौतमं स्थानात् समीक्ष्य कुरुनन्दनः ।
नाविध्यत् परवीरघ्नो रक्षमाणोऽस्य गौरवम् ॥ २४ ॥

कृपाचार्यको स्थानसे गिरा हुआ देख शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले कुरुनन्दन अर्जुनने उनके गौरवकी रक्षा करते हुए उनपर बाणोंसे आघात नहीं किया ॥ २४ ॥

स तु लब्ध्वा पुनः स्थानं गौतमः सव्यसाचिनम् ।
विव्याध दशभिर्बाणैस्त्वरितः कङ्कपत्रिभिः ॥ २५ ॥

किंतु कृपाचार्यने पुनः अपना स्थान ग्रहण कर लेनेपर तुरंत ही सफेद चीलके पंखोंसे युक्त दस बाणोंका प्रहार करके सव्यसाची अर्जुनको बींध डाला ॥ २५ ॥

ततः पार्थो धनुस्तस्य भल्लेन निशितेन ह ।
चिच्छेदैकेन भूयश्च हस्तावापमथाहरत् ॥ २६ ॥

तब अर्जुनने एक तीखे भल्ल नामक बाणद्वारा कृपाचार्यका धनुष काट डाला और पुनः उनके दस्तानेको नष्ट कर दिया ॥ २६ ॥

अथास्य कवचं बाणैर्निशितैर्मर्मभेदिभिः ।
व्यधमन्न च पार्थोऽस्य शरीरमवपीडयत् ॥ २७ ॥

उसके बाद पार्थने मर्मभेदी तीखे बाणोंद्वारा उनके कवचको भी छिन्न-भिन्न कर दिया, किंतु उनके शरीरको तनिक भी कष्ट नहीं पहुँचाया ॥ २७ ॥

तस्य निर्मुच्यमानस्य कवचात् काय आबभौ ।
समये मुच्यमानस्य सर्पस्येव तनुर्यथा ॥ २८ ॥

कवचसे मुक्त होनेपर कृपाचार्यका शरीर इस प्रकार सुशोभित हुआ, मानो समयपर केंचुल छूटनेके बाद सर्पका शरीर सुशोभित हो रहा हो ॥ २८ ॥

छिन्ने धनुषि पार्थेन सोऽन्यदादाय कार्मुकम् ।
चकार गौतमः सज्यं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २९ ॥

अर्जुनद्वारा धनुष काट दिये जानेपर गौतम(कृप)ने दूसरा धनुष लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा ली । यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ २९ ॥

स तदप्यस्य कौन्तेयश्चिच्छेद नतपर्वणा ।
एवमन्यानि चापानि बहूनि कृतहस्तवत् ।
शारद्वतस्य चिच्छेद पाण्डवः परवीरहा ॥ ३० ॥

परंतु कुन्तीनन्दनने झुकी हुई गाँठवाले एक बाणसे उनके उस धनुषको भी काट दिया और इसी प्रकार कृपाचार्यके बहुत-से दूसरे धनुष भी शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पाण्डुनन्दनने हाथकी फुर्ती दिखानेमें कुशल वीरकी भाँति छिन्न-भिन्न कर डाले ॥ ३० ॥

सच्छिन्नधनुरादाय रथशक्तिं प्रतापवान् ।
प्राहिणोत् पाण्डुपुत्राय प्रदीप्तामशनीमिव ॥ ३१ ॥

इस तरह धनुष कट जानेपर प्रतापी कृपाचार्यने पाण्डुपुत्र अर्जुनपर वज्रकी भाँति प्रज्वलित रथशक्ति चलायी ॥ ३१ ॥

तामर्जुनस्तदाऽऽयान्तीं शक्तिं हेमविभूषिताम् ।
वियद्गतां महोल्काभां चिच्छेद दशभिः शरैः ॥ ३२ ॥
सापतद् दशधा छिन्ना भूमौ पार्थेन धीमता ॥ ३३ ॥

तब अर्जुनने भारी उल्काकी भाँति अपनी ओर आती हुई उस सुवर्णभूषित शक्तिको दस बाण मारकर आकाशमें ही काट डाला । बुद्धिमान् पार्थके द्वारा दस टुकड़ोंमें कटी हुई वह शक्ति पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३२-३३ ॥

युगपच्चैव भल्लैस्तु ततः सज्यधनुः कृपः ।
तमाशु निशितैः पार्थं बिभेद दशभिः शरैः ॥ ३४ ॥

तब कृपाचार्यने पुनः प्रत्यञ्चासहित धनुष लेकर उसके ऊपर एक ही साथ भल्ल नामक दस बाणोंका संधान किया और उन दसों तीक्ष्ण बाणोंद्वारा तुरंत ही अर्जुनको बींध डाला ॥ ३४ ॥

ततः पार्थो महातेजा विशिखानग्नितेजसः ।
चिक्षेप समरे क्रुद्धस्त्रयोदश शिलाशितान् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी कुन्तीपुत्रने उस संग्रामभूमिमें कुपित हो (कृपाचार्यपर) पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए अग्निके समान तेजस्वी तेरह बाण चलाये ॥ ३५ ॥

अथास्य युगमेकेन चतुर्भिश्चतुरो हयान्।
षष्ठेन च शिरः कायाच्छरेण रथसारथेः ॥ ३६ ॥

एक बाणसे उनके रथका जूआ काटकर चार बाणोंसे चारों घोड़े मार डाले और छठे बाणसे रथके सारथिका सिर धड़से अलग कर दिया ॥ ३६ ॥

त्रिभिस्त्रिवेणुं समरे द्वाभ्यामक्षं महारथः।
द्वादशेन तु भल्लेन चकर्तास्य ध्वजं तदा ॥ ३७ ॥
ततो वज्रनिकाशेन फाल्गुनः प्रहसन्निव।
त्रयोदशेनेन्द्रसमः कृपं वक्षस्यविध्यत ॥ ३८ ॥

फिर उन महारथी अर्जुनने तीन बाणोंसे रथके तीनों वेणु, दोसे रथका धुरा और बारहवें भल्ल नामक बाणसे उनके रथकी ध्वजाको भी उस समय रणभूमिमें काट गिराया। इसके बाद इन्द्रके समान पराक्रमी फाल्गुनने हँसते हुए-से वज्रसदृश तेरहवें बाणद्वारा कृपाचार्यकी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ ३७-३८ ॥

सच्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
गदापाणिरवप्लुत्य तूर्णं चिक्षेप तां गदाम् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार धनुष, रथ, घोड़े और सारथि आदिके नष्ट हो जानेपर कृपाचार्य हाथमें गदा लिये रथसे कूद पड़े और तुरंत ही उसे अर्जुनपर दे मारा ॥ ३९ ॥

सा च मुक्ता गदा गुर्वी कृपेण सुपरिष्कृता।
अर्जुनेन शरैर्नुन्ना प्रतिमार्गमथागमत् ॥ ४० ॥

जिसका सुवर्ण आदिसे भलीभाँति परिष्कार किया गया था, वह कृपाचार्यद्वारा चलायी हुई भारी गदा अर्जुनके बाणोंसे प्रेरित हो उल्टी लौट गयी ॥ ४० ॥

तं तु योधाः परीप्सन्तः शारद्वतममर्षणम्।
सर्वतः समरे पार्थं शरवर्षैरवाकिरन् ॥ ४१ ॥

शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य अत्यन्त अमर्षमें भरे थे। उनके प्राण बचानेकी इच्छावाले कौरव सैनिक सब ओरसे आकर उस युद्धमें अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥

ततो विराटस्य सुतः सव्यमावृत्य वाजिनः।
यमकं मण्डलं कृत्वा तान् योधान् प्रत्यवारयत् ॥ ४२ ॥

यह देख विराटपुत्र उत्तरने घोड़ोंको दाँयीं ओरसे घुमाकर यमकमण्डलसे रथ-संचालन करते हुए उन सब योद्धाओंको बाणवर्षासे रोक दिया ॥ ४२ ॥

ततः कृपमुपादाय विरथं ते नरर्षभाः।
अपजह्रुर्महावेगा कुन्तीपुत्राद् धनंजयात् ॥ ४३ ॥

इतनेमें ही वे नरश्रेष्ठ सैनिक कुन्तीपुत्र धनंजयसे डरकर रथहीन कृपाचार्यको बड़े वेगसे हटा ले गये ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहणे कृपापयाने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोष्ठकी गौओंके अपहरणके प्रसङ्गमें कृपाचार्यका पलायनसम्बन्धी सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनका द्रोणाचार्यके साथ युद्ध और आचार्यका पलायन

वैशम्पायन उवाच

कृपेऽपनीते द्रोणस्तु प्रगृह्य सशरं धनुः।
अभ्यद्रवदनाधृष्यः शोणाश्वः श्वेतवाहनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब कृपाचार्य रणभूमिसे बाहर हटा दिये गये, तब लाल घोड़ोंवाले दुर्धर्ष वीर आचार्य द्रोणने धनुष-बाण लेकर श्वेतवाहन अर्जुनपर धावा किया ॥ १ ॥

स तु रुक्मरथं दृष्ट्वा गुरुमायान्तमन्तिकात्।
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठ उत्तरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

सुवर्णमय रथपर आरूढ़ गुरुदेवको अपने निकट आते देख विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उत्तरसे इस प्रकार बोले ॥ २ ॥

अर्जुन उवाच

यत्रैषा काञ्चनी वेदी ध्वजे यस्य प्रकाशते।
उच्छ्रिता प्रवरे दण्डे पताकाभिरलङ्कृता।
अत्र मां वह भद्रं ते द्रोणानीकाय सारथे ॥ ३ ॥

अर्जुनने कहा—सारथे! तुम्हारा कल्याण हो। जिस रथकी ध्वजामें ऊँचे डंडेके ऊपर पताकाओंसे विभूषित यह ऊँची सुवर्णमयी वेदी प्रकाशित हो रही है, वहाँ आचार्य द्रोणकी सेना है। मुझे वहीं ले चलो ॥ ३ ॥

अश्वाः शोणाः प्रकाशन्ते बृहन्तश्चारुवाहिनः।
स्निग्धविद्रुमसंकाशास्ताम्रास्याः प्रियदर्शनाः।
युक्ता रथवरे यस्य सर्वशिक्षाविशारदाः ॥ ४ ॥
दीर्घबाहुर्महातेजा बलरूपसमन्वितः।
सर्वलोकेषु विक्रान्तो भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५ ॥

जिनके श्रेष्ठ रथमें जुते हुए सब प्रकारकी शिक्षाओंमें निपुण, चिकने, मूँगेके समान लाल रंगके, ताँबे-से मुखवाले, सुन्दर तथा अच्छे ढंगसे रथका भार वहन करनेवाले बड़े-बड़े अश्व सुशोभित हो रहे हैं, वे महातेजस्वी दीर्घबाहु, बल एवं रूपसे सम्पन्न तथा समस्त संसारमें विख्यात पराक्रमी प्रतापी वीर भरद्वाजनन्दन द्रोण हैं ॥ ४-५ ॥

बुद्ध्या तुल्यो ह्युशनसा बृहस्पतिसमो नये।
वेदास्तथैव चत्वारो ब्रह्मचर्यं तथैव च ॥ ६ ॥
ससंहाराणि सर्वाणि दिव्यान्यस्त्राणि मारिष।
धनुर्वेदश्च कात्स्‍र्न्येन यस्मिन् नित्यं प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥

ये बुद्धिमें शुक्राचार्य और नीतिमें बृहस्पतिके समान हैं। मारिष[1]! इनमें चारों वेद, ब्रह्मचर्य, संहार-विधिसहित सम्पूर्ण दिव्यास्त्र और समस्त धनुर्वेद सदा प्रतिष्ठित है ॥ ६-७ ॥

क्षमा दमश्च सत्यं च आनृशंस्यमथार्जवम्।
एते चान्ये च बहवो यस्मिन् नित्यं द्विजे गुणाः ॥ ८ ॥

इन विप्रशिरोमणिमें क्षमा, इन्द्रियसंयम, सत्य, कोमलता, सरलता तथा अन्य बहुत-से सद्गुण नित्य विद्यमान हैं ॥ ८ ॥

तेनाहं योद्धुमिच्छामि महाभागेन संयुगे।
तस्मात् तं प्रापयाचार्यं क्षिप्रमुत्तर वाहय ॥ ९ ॥

अतः मैं इन्हीं महाभाग आचार्यके साथ इस समरभूमिमें युद्ध करना चाहता हूँ। अतः उत्तर! रथ बढ़ाओ और मुझे शीघ्र उन आचार्यके समीप पहुँचा दो ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु वैराटिर्हेमभूषणान्।
चोदयामास तानश्वान् भारद्वाजरथं प्रति ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अर्जुनके इस प्रकार आदेश देनेपर विराटनन्दन उत्तरने सोनेके आभूषणोंसे विभूषित उन अश्वोंको आचार्य द्रोणके रथकी ओर हाँक दिया ॥ १० ॥

तमापतन्तं वेगेन पाण्डवं रथिनां वरम्।
द्रोणः प्रत्युद्ययौ पार्थं मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥ ११ ॥

महारथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन अर्जुनको बड़े वेगसे अपनी ओर आते देख आचार्य द्रोण भी पार्थकी ओर आगे बढ़ आये, ठीक उसी तरह जैसे एक उन्मत्त गजराज दूसरे मतवाले गजराजसे भिड़नेके लिये जा रहा हो ॥ ११ ॥

ततः प्राध्मापयच्छङ्खं भेरीशतनिनादिनम्।
प्रचुक्षुभे बलं सर्वमुद्धूत इव सागरः ॥ १२ ॥

तदनन्तर द्रोणने सौ नगाड़ोंके बराबर आवाज करनेवाले अपने शङ्खको बजाया। उसे सुनकर सारी सेनामें हलचल मच गयी, मानो समुद्रमें ज्वार आ गया हो ॥ १२ ॥

अथ शोणान् सदश्वांस्तान् हंसवर्णैर्मनोजवैः।
मिश्रितान् समरे दृष्ट्वा व्यस्मयन्त रणे नराः ॥ १३ ॥

रणभूमिमें उन लाल रंगके सुन्दर घोड़ोंको हंसके समान वर्णवाले मनके सदृश वेगशाली श्वेत घोड़ोंसे मिला देख युद्ध करनेके विषयमें सब लोग आश्चर्यमें पड़ गये ॥ १३ ॥

तौ रथौ वीर्यसम्पन्नौ दृष्ट्वा संग्राममूर्धनि।
आचार्यशिष्यावजितौ कृतविद्यौ मनस्विनौ ॥ १४ ॥
समाश्लिष्टौ तदान्योन्यं द्रोणपार्थौ महाबलौ।
दृष्ट्वा प्राकम्पत मुहुर्भरतानां महद् बलम् ॥ १५ ॥

महाबली द्रोण और कुन्तीपुत्र अर्जुन दोनों महारथी बल-वीर्य-सम्पन्न, अजेय, अस्त्रविद्याके विशेषज्ञ और मनस्वी थे। युद्धके सिरेपर वे दोनों आचार्य और शिष्य अपने-अपने रथपर बैठे हुए (ही एक-दूसरेकी ओर हाथ बढ़ाकर मानो) परस्पर आलिङ्गन करने लगे। उन्हें इस अवस्थामें देखकर भरतवंशियोंकी वह विशाल सेना बारंबार भयसे काँपने लगी ॥

हर्षयुक्तस्ततः पार्थः प्रहसन्निव वीर्यवान्।
रथं रथेन द्रोणस्य समासाद्य महारथः ॥ १६ ॥
अभिवाद्य महाबाहुः सामपूर्वमिदं वचः।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा कौन्तेयः परवीरहा ॥ १७ ॥

तदनन्तर शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले महारथी और महापराक्रमी कुन्तीपुत्र महाबाहु अर्जुन हर्षोल्लासमें भर गये और आचार्य द्रोणके रथसे अपना रथ भिड़ाकर उन्हें प्रणाम करके हँसते हुए-से शान्तिपूर्वक मधुर वाणीमें यों बोले—॥

उषिताः स्मो वने वासं प्रतिकर्म चिकीर्षवः।
कोपं नार्हसि नः कर्तुं सदा समरदुर्जय ॥ १८ ॥
अहं तु प्रहृते पूर्वं प्रहरिष्यामि तेऽनघ।
इति मे वर्तते बुद्धिस्तद् भवान् कर्तुमर्हति ॥ १९ ॥

'आचार्य! युद्धमें आपपर विजय पाना सर्वथा कठिन है। हमलोग बहुत वर्षोंतक वनमें रहकर कष्ट उठाते रहे हैं। अब शत्रुओंसे बदला लेनेकी इच्छासे आये हैं; अतः आप हमलोगोंपर क्रोध न करें। अनघ! मैं तो आपपर तभी प्रहार करूँगा, जब पहले आप मुझपर प्रहार कर लेंगे। मेरा यही निश्चय है, अतः आप ही पहले मुझपर प्रहार करें' ॥ १८-१९ ॥

ततोऽस्मै प्राहिणोद् द्रोणः शरानधिकविंशतिम्।
अप्राप्तांश्चैव तान् पार्थश्चिच्छेद कृतहस्तवत् ॥ २० ॥

तब आचार्य द्रोणने अर्जुनपर इक्कीस बाण चलाये; किंतु पार्थने उन सबको अपने पास आनेसे पहले ही काट गिराया, मानो उनके हाथ इस कलामें पूर्ण सुशिक्षित थे ॥

ततः शरसहस्रेण रथं पार्थस्य वीर्यवान्।
अवाकिरत् ततो द्रोणः शीघ्रमस्त्रं विदर्शयन् ॥ २१ ॥

तदनन्तर पराक्रमी द्रोणने अपनी अस्त्र चलानेकी फुर्ती दिखाते हुए अर्जुनके रथपर सहस्रों बाणोंकी वृष्टि की ॥ २१ ॥

हयांश्च रजतप्रख्यान् कङ्कपत्रैः शिलाशितैः।
अवाकिरदमेयात्मा पार्थं संकोपयन्निव ॥ २२ ॥

उनका आत्मबल असीम था। उन्होंने चाँदीके समान रंगवाले अर्जुनके श्वेत घोड़ोंको भी शानपर चढ़ाकर ते

1. 'आर्यस्तु मारिषः' (अमरकोष)

किये हुए सफेद चीलकी पाँखवाले बाणोंसे ढँक दिया। जान पड़ता था, आचार्य यह सब करके अर्जुनके क्रोधको उभाड़ना चाहते थे ॥ २२ ॥

एवं प्रवृत्ते युद्धे भारद्वाजकिरीटिनोः।
समं विमुञ्चतो संख्ये विशिखान् दीप्ततेजसः ॥ २३ ॥

इस प्रकार भरद्वाजनन्दन द्रोण और किरीटधारी अर्जुनमें युद्ध छिड़ गया। वे दोनों समरभूमिमें (एक-दूसरेपर) समान-रूपसे तेजस्वी बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २३ ॥

तावुभौ ख्यातकर्माणावुभौ वायुसमौ जवे।
उभौ दिव्यास्त्रविदुषावुभावुत्तमतेजसौ।
क्षिपन्तौ शरजालानि मोहयामासतुर्नृपान् ॥ २४ ॥

दोनों ही विख्यात पराक्रमी थे। वेगमें दोनों ही वायुके समान थे। वे दोनों गुरु-शिष्य दिव्यास्त्रोंके महापण्डित और उत्तम तेजसे सम्पन्न थे। परस्पर बाणोंकी झड़ी लगाते हुए दोनोंने सब राजाओंको मोहमें डाल दिया ॥ २४ ॥

व्यस्मयन्त ततो योधा ये तत्रासन् समागताः।
शरान् विसृजतोस्तूर्णं साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ २५॥

तदनन्तर जो-जो सैनिक वहाँ आये थे, वे एक-दूसरेपर तीव्र गतिसे बाण-वर्षा करनेवाले दोनों वीरोंकी 'साधु-साधु' कहकर सराहना करने लगे— ॥ २५ ॥

द्रोणं हि समरे कोऽन्यो योद्धुमर्हति फाल्गुनात्।
रौद्रः क्षत्रियधर्मोऽयं गुरुणा यदयुध्यत।
इत्यब्रुवञ्जनास्तत्र संग्रामशिरसि स्थिताः ॥ २६ ॥

'भला, युद्धमें अर्जुनके सिवा दूसरा कौन द्रोणाचार्यका सामना कर सकता है? यह क्षत्रियधर्म कितना भयंकर है कि शिष्यको गुरुसे युद्ध करना पड़ा है।' इस प्रकार वहाँ युद्धके मुहानेपर खड़े हुए योद्धा आपसमें बातें करते थे ॥२६॥

वीरौ तावभिसंरब्धौ संनिकृष्टौ महाभुजौ।
छादयेतां शरव्रातैरन्योन्यमपराजितौ ॥ २७ ॥

दोनों महाबाहु वीर क्रोधमें भरकर निकट आ गये और बाणसमूहोंसे एक-दूसरेको आच्छादित करने लगे। उनमेंसे कोई भी पराजित होनेवाला न था ॥ २७ ॥

विस्फार्य सुमहच्चापं हेमपृष्ठं दुरासदम्।
भारद्वाजोऽथ संक्रुद्धः फाल्गुनं प्रत्यविध्यत ॥ २८ ॥

भरद्वाजनन्दन द्रोण अत्यन्त कुपित हो, जिसके पृष्ठभागमें सुवर्ण जड़ा हुआ था और जिसे उठाना दूसरोंके लिये बहुत कठिन था, उस महान् धनुषको खींचकर अर्जुनको बाणोंसे बींधने लगे ॥ २८ ॥

स सायकमयैर्जालैरर्जुनस्य रथं प्रति।
भानुमद्भिः शिलाधौतैर्भानोराच्छादयत् प्रभाम् ॥२९॥

उन्होंने अर्जुनके रथपर बाणोंका जाल-सा बिछा दिया। इतना ही नहीं, शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए उन तेजस्वी बाणोंद्वारा उन्होंने सूर्यकी प्रभाको भी आच्छादित कर दिया ॥

पार्थं च सुमहाबाहुर्महावेगैर्महारथः।
विव्याध निशितैर्बाणैर्मेघो वृष्ट्येव पर्वतम् ॥ ३० ॥

जैसे मेघ पर्वतपर जलकी वर्षा करता है, उसी प्रकार महाबाहु महारथी द्रोण पृथापुत्र अर्जुनको अत्यन्त वेगशाली तीखे बाणोंद्वारा बींध रहे थे ॥ ३० ॥

तथैव दिव्यं गाण्डीवं धनुरादाय पाण्डवः।
शत्रुघ्नं वेगवान् हृष्टो भारसाधनमुत्तमम् ॥ ३१ ॥
विससर्ज शरांश्चित्रान् सुवर्णविकृतान् बहून्।
नाशयन् शरवर्षाणि भारद्वाजस्य वीर्यवान्।
तूर्णं चापविनिर्मुक्तैस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार हर्षमें भरे हुए वेगशाली पाण्डुनन्दन अर्जुन भी भार सहन करनेमें समर्थ और शत्रुओंका नाश करनेवाला उत्तम एवं दिव्य गाण्डीव धनुष लेकर बहुत-से स्वर्णभूषित विचित्र बाणोंकी वर्षा कर रहे थे। पराक्रमी पार्थ अपने धनुषसे छूटे हुए बाणसमूहोंद्वारा तुरंत ही आचार्य द्रोणकी बाण-वर्षाको नष्ट करते जाते थे। यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ ३१-३२ ॥

स रथेन चरन् पार्थः प्रेक्षणीयो धनंजयः।
युगपद् दिक्षु सर्वासु सर्वतोऽस्त्राण्यदर्शयत् ॥ ३३ ॥
एकच्छायमिवाकाशं बाणैश्चक्रे समन्ततः।
नादृश्यत तदा द्रोणो नीहारेणेव संवृतः ॥ ३४ ॥

रथसे विचरनेवाले कुन्तीपुत्र धनंजय सबके लिये दर्शनीय हो रहे थे। उन्होंने सब दिशाओंमें एक ही साथ अस्त्रोंकी वर्षा दिखायी और आकाशको चारों ओरसे बाणोंद्वारा ढँककर एकमात्र अन्धकारमें निमग्न-सा कर दिया। उस समय आचार्य द्रोण कुहरेसे ढके हुएकी भाँति अदृश्य हो गये ॥

तस्याभवत् तदा रूपं संवृतस्य शरोत्तमैः।
जाज्वल्यमानस्य तदा पर्वतस्येव सर्वतः ॥ ३५ ॥

उत्तम बाणोंसे ढके हुए द्रोणाचार्यका स्वरूप उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो सब ओरसे जलता हुआ कोई पर्वत हो ॥ ३५ ॥

दृष्ट्वा तु पार्थस्य रणे शरैः स्वरथमावृतम्।
स विस्फार्य धनुः श्रेष्ठं मेघस्तनितनिस्वनम् ॥ ३६ ॥
अग्निचक्रोपमं घोरं व्यकर्षत् परमायुधम्।
व्यशातयच्छरांस्तांस्तु द्रोणः समितिशोभनः॥ ३७ ॥

आचार्य द्रोण संग्रामभूमिमें बड़ी शोभा पानेवाले थे। संग्राममें उन्होंने अपने रथको जब अर्जुनके बाणोंसे ढका हुआ देखा, तब मेघगर्जनाके समान गम्भीर नाद करनेवाले अग्निचक्रके

सदृश भयंकर परम उत्तम आयुधश्रेष्ठ धनुषकी टंकार फैलाते हुए उसे (कानोंतक) खींचा और अपने शर-समूहोंसे अर्जुनके उन सब बाणोंको काट डाला ॥ ३६-३७ ॥

महानभूत् ततः शब्दो वंशानामिव दह्यताम् ॥ ३८ ॥

उस समय जलते हुए बाँसोंके चटखनेका-सा बड़ा भयंकर शब्द हो रहा था ॥ ३८ ॥

जाम्बूनदमयैः पुङ्खैश्चित्रचापविनिर्गतैः ।
प्राच्छादयदमेयात्मा दिशः सूर्यस्य च प्रभाम् ॥ ३९ ॥

जिनकी मन-बुद्धि अमेय है, उन द्रोणने अपने विचित्र धनुषसे छूटे हुए सुवर्णमय पंखोंवाले बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओं तथा सूर्यके प्रकाशको भी ढक दिया ॥ ३९ ॥

ततः कनकपुङ्खानां शराणां नतपर्वणाम् ।
वियच्चराणां वियति दृश्यन्ते बहवो व्रजाः ॥ ४० ॥

उस समय सोनेकी पाँख और झुकी हुई गाँठवाले आकाशचारी बाणोंके बहुत-से समुदाय आकाशमें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ४० ॥

द्रोणस्य पुङ्खसक्ताश्च प्रभवन्तः शरासनात् ।
एको दीर्घ इवादृश्यदाकाशे संहतः शरः ॥ ४१ ॥

वे सभी पक्षधारी बाण-समुदाय आचार्य द्रोणके धनुषसे प्रकट हुए थे। आकाशमें उन बाणोंका समूह परस्पर सटकर एक ही विशाल बाणके समान दिखायी देता था ॥ ४१ ॥

एवं तौ स्वर्णविकृतान् विमुञ्चन्तौ महाशरान् ।
आकाशं संवृतं वीरावुल्काभिरिव चक्रतुः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार वे दोनों वीर सुवर्णविभूषित महाबाणोंकी वर्षा करते हुए आकाशको मानो उल्काओंसे आच्छादित करने लगे ॥ ४२ ॥

शरास्तयोस्तु विबभुः कङ्कबर्हिणवाससः ।
पङ्क्त्यः शरदि खस्थानां हंसानां चरतामिव ॥ ४३ ॥

कङ्क और मोरकी पाँखवाले उन दोनोंके बाण शरद्ऋतुमें आकाशमें विचरनेवाले हंसोंकी पाँतके समान सुशोभित होते थे ॥

युद्धं समभवत् तत्र सुसंरब्धं महात्मनोः ।
द्रोणपाण्डवयोर्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥ ४४ ॥

महामना द्रोण और पाण्डुनन्दन अर्जुनका वह रोषपूर्ण युद्ध वृत्रासुर और इन्द्रके समान भयंकर प्रतीत होता था ॥

तौ गजाविव चासाद्य विषाणाग्रैः परस्परम् ।
शरैः पूर्णायतोत्सृष्टैरन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ ४५ ॥

जैसे दो हाथी एक दूसरेसे भिड़कर दाँतोंके अग्रभागसे प्रहार करते हों, उसी प्रकार वे दोनों धनुषको अच्छी तरह खींचकर छोड़े हुए बाणोंद्वारा एक दूसरेको घायल कर रहे थे ॥ ४५ ॥

तौ व्यवहरतां युद्धे संरब्धौ रणशोभिनौ ।
उदीरयन्तौ समरे दिव्यान्यस्त्राणि भागशः ॥ ४६ ॥

क्रोधमें भरे हुए उन दोनों वीरोंकी रणभूमिमें बड़ी शोभा हो रही थी। वे उस संग्राममें पृथक्-पृथक् दिव्यास्त्र प्रकट करते हुए धर्मयुद्ध कर रहे थे ॥ ४६ ॥

अथ त्वाचार्यमुख्येन शरान् सृष्टाञ्छिलाशितान् ।
न्यवारयच्छितैर्बाणैरर्जुनो जयतां वरः ॥ ४७ ॥

तदनन्तर विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने आचार्यप्रवर द्रोणके द्वारा चलाये हुए शानपर तेज किये हुए बाणोंको अपने तीखे सायकोंसे नष्ट कर दिया ॥ ४७ ॥

दर्शयन् वीक्षमाणानामस्त्रमुग्रपराक्रमः ।
इषुभिस्तूर्णमाकाशं बहुभिश्च समावृणोत् ॥ ४८ ॥
जिघांसन्तं नरव्याघ्रमर्जुनं तिग्मतेजसम् ।
आचार्यमुख्यः समरे द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ।
अर्जुनेन सहाक्रीडच्छरैः संनतपर्वभिः ॥ ४९ ॥

वे भयानक पराक्रमी थे, उन्होंने दर्शकोंको अपना अस्त्र-कौशल दिखाते हुए तुरंत बहुसंख्यक बाणोंद्वारा आकाशको ढँक दिया। यद्यपि प्रचण्ड तेजस्वी नरश्रेष्ठ अर्जुन विपक्षीको मार डालनेकी इच्छा रखते थे, तो भी शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ आचार्यप्रवर द्रोण उस समरभूमिमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा प्रहार करके अर्जुनके साथ मानो खेल कर रहे थे (उनमें अर्जुनके प्रति वात्सल्यका भाव उमड़ रहा था) ॥ ४८-४९ ॥

दिव्यान्यस्त्राणि वर्षन्तं तस्मिन् वै तुमुले रणे ।
अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य फाल्गुनं समयोधयत् ॥ ५० ॥

उस तुमुल युद्धमें अर्जुन दिव्यास्त्रोंकी वर्षा कर रहे थे, किंतु आचार्य अपने अस्त्रोंद्वारा उनके अस्त्रोंका निवारण-मात्र करके उन्हें लड़ा रहे थे ॥ ५० ॥

तयोरासीत् सम्प्रहारः क्रुद्धयोर्नरसिंहयोः ।
अमर्षिणोस्तदान्योन्यं देवदानवयोरिव ॥ ५१ ॥

वे दोनों नरश्रेष्ठ जब क्रोध और अमर्षमें भर गये, तब उनमें परस्पर देवताओं और दानवोंकी भाँति घमासान युद्ध छिड़ गया ॥ ५१ ॥

ऐन्द्रं वायव्यमाग्नेयमस्त्रमस्त्रेण पाण्डवः ।
द्रोणेन मुक्तमात्रं तु ग्रसति स्म पुनः पुनः ॥ ५२ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन आचार्य द्रोणके छोड़े हुए ऐन्द्र, वायव्य और आग्नेय आदि अस्त्रोंको उसके विरोधी अस्त्रद्वारा बार-बार नष्ट कर देते थे ॥ ५२ ॥

एवं शूरौ महेष्वासौ विसृजन्तौ शिताञ्छरान् ।
एकच्छायं चक्रतुस्तावाकाशं शरवृष्टिभिः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार वे दोनों महान् धनुर्धर शूरवीर तीखे बाणों

छोड़ते हुए अपनी बाणवर्षाद्वारा आकाशको एकमात्र अन्धकारमें निमग्न करने लगे ॥ ५३ ॥

तत्रार्जुनेन मुक्तानां पततां वै शरीरिषु।
पर्वतेष्विव वज्राणां शराणां श्रूयते स्वनः ॥ ५४ ॥

अर्जुनके छोड़े हुए बाण जब देहधारियोंपर पड़ते थे, तब पर्वतोंपर गिरनेवाले वज्रके समान भयंकर शब्द सुनायी देता था ॥ ५४ ॥

ततो नागा रथाश्चैव वाजिनश्च विशाम्पते।
शोणिताक्ता व्यदृश्यन्त पुष्पिता इव किंशुकाः॥ ५५ ॥

जनमेजय ! उस समय हाथीसवार, रथी और घुड़सवार लोहूलुहान होकर फूले हुए पलाश वृक्षके समान दिखायी देते थे ॥ ५५ ॥

बाहुभिश्च सकेयूरैर्विचित्रैश्च महारथैः।
सुवर्णचित्रैः कवचैर्ध्वजैश्च विनिपातितैः ॥ ५६ ॥
योधैश्च निहतैस्तत्र पार्थबाणप्रपीडितैः।
बलमासीत् समुद्भ्रान्तं द्रोणार्जुनसमागमे ॥ ५७ ॥

द्रोणाचार्य और अर्जुनके उस युद्धमें पार्थके बाणोंसे पीड़ित हो कितने ही योद्धा मर गये थे। कितनोंकी केयूरभूषित भुजाएँ कटकर गिरी थीं। विचित्र वेष-भूषावाले महारथी धराशायी हो रहे थे। सुवर्णजटित विचित्र कवच और ध्वजाएँ वहाँ बिखरी पड़ी थीं। इन सब कारणोंसे वह सारी सेना उद्भ्रान्त- (भयसे अचेत-) सी हो गयी थी ॥५६-५७॥

विधुन्वानौ तु तौ तत्र धनुषी भारसाधने।
आच्छादयेतामन्योन्यं तितक्षतुरथेषुभिः ॥ ५८ ॥

उन दोनोंके धनुष भार सहन करनेमें समर्थ थे। वे उन धनुषोंको कँपाते हुए (तीखे) बाणोंद्वारा एक दूसरे-को बींधते और आच्छादित कर देते थे ॥ ५८ ॥

तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं भरतर्षभ।
द्रोणकौन्तेययोस्तत्र बलिवासवयोरिव ॥ ५९ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! तदनन्तर द्रोण और कुन्तीपुत्रमें बलि और इन्द्रके संग्राम-सा तुमुल युद्ध होने लगा ॥ ५९ ॥

अथ पूर्णायतोत्सृष्टैः शरैः संनतपर्वभिः।
व्यदारयेतामन्योन्यं प्राणद्यूते प्रवर्तिते ॥ ६० ॥

उस समय प्राणोंकी बाजी लगाकर (युद्धका जूआ खेला जा रहा था।) दोनों वीर धनुषको कानतक खींचकर छोड़े हुए झुकी गाँठवाले बाणोंसे एक दूसरेको विदीर्ण कर रहे थे ॥ ६० ॥

अथान्तरिक्षे नादोऽभूद् द्रोणं तत्र प्रशंसताम्।
दुष्करं कृतवान् द्रोणो यदर्जुनमयोधयत् ॥ ६१ ॥

प्रमाथिनं महावीर्यं दृढमुष्टिं दुरासदम्।
जेतारं देवदैत्यानां सर्वेषां च महारथम् ॥ ६२ ॥

इसी समय आचार्य द्रोणकी प्रशंसा करनेवाले देवताओं-का यह शब्द आकाशमें गूँज उठा—'अहो ! द्रोणाचार्यने बड़ा दुष्कर कार्य किया कि अबतक अर्जुनके साथ युद्धमें डटे रह गये। ये अर्जुन तो शत्रुओंको मथ डालनेवाले, महापराक्रमी, दृढ़ मुष्टिवाले, दुर्धर्ष तथा सम्पूर्ण देवताओं और दैत्योंको जीतनेवाले महारथी वीर हैं' ॥ ६१-६२ ॥

अविभ्रमं च शिक्षां च लाघवं दूरपातिताम्।
पार्थस्य समरे दृष्ट्वा द्रोणस्याभूच्च विस्मयः ॥ ६३ ॥

उस समरभूमिमें अर्जुनका कभी न चूकनेका स्वभाव, अस्त्र-शस्त्रोंकी अद्भुत शिक्षा, हाथोंकी फुर्ती और दूरतक बाण मारनेकी शक्ति देखकर आचार्य द्रोणको भी बड़ा विस्मय हुआ ॥ ६३ ॥

अथ गाण्डीवमुद्यम्य दिव्यं धनुरमर्षणः।
विचकर्ष रणे पार्थो बाहुभ्यां भरतर्षभ ॥ ६४ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर रणभूमिमें कुन्तीपुत्रने दिव्य गाण्डीव धनुषको ऊँचे उठाकर कुपित हो उसे दोनों हाथोंसे खींचना आरम्भ किया ॥ ६४ ॥

तस्य बाणमयं वर्षं शलभानामिवायतिम्।
दृष्ट्वा ते विस्मिताः सर्वे साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ ६५ ॥

फिर तो टिड्डियोंके झुंडके समान उनकी (अद्भुत) बाण-वर्षा देखकर वे सभी सैनिक आश्चर्यचकित हो 'साधु-साधु' कहते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ६५ ॥

न च बाणान्तरे वायुरस्य शक्नोति सर्पितुम्।
अनिशं संदधानस्य शरानुत्सृजतस्तथा ॥ ६६ ॥
ददर्श नान्तरं कश्चित् पार्थस्याददतोऽपि च ॥ ६७ ॥

उनके बाणोंके भीतर वायु भी प्रवेश नहीं कर पाती थी। कुन्तीनन्दन अर्जुन निरन्तर बाणोंको हाथमें लेते, धनुषपर रखते और छोड़ते थे। कोई भी उनकी इन क्रियाओंमें क्षण-भरका भी अन्तर नहीं देख पाता था ॥ ६६-६७ ॥

तथा शीघ्रास्त्रयुद्धे तु वर्तमाने सुदारुणे।
शीघ्रं शीघ्रतरं पार्थः शरानन्यानुदीरयत् ॥ ६८ ॥

इस प्रकार शीघ्रतापूर्वक अस्त्रप्रहारके द्वारा चलनेवाले उस अत्यन्त भयंकर संग्राममें कुन्तीपुत्र अर्जुन शीघ्र एवं अत्यन्त शीघ्र दूसरे-दूसरे बाण प्रकट करने लगे ॥ ६८ ॥

ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम्।
युगपत् प्रापतंस्तत्र द्रोणस्य रथमन्तिकात् ॥ ६९ ॥
कीर्यमाणे तदा द्रोणे शरैर्गाण्डीवधन्वना।
हाहाकारो महानासीत् सैन्यानां भरतर्षभ ॥ ७० ॥

तत्पश्चात् एक ही साथ झुकी हुई गाँठवाले एक लाख बाण द्रोणाचार्यके रथके समीप आ गिरे। जनमेजय! गाण्डीवधन्वा अर्जुनके द्वारा जब द्रोणपर इस प्रकार बाणवर्षा होने लगी, तब कौरव-सैनिकोंमें भारी हाहाकार मच गया ॥ ६९-७० ॥

पाण्डवस्य तु शीघ्रास्त्रं मघवा प्रत्यपूजयत्।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव ये च तत्र समागताः ॥ ७१ ॥

पाण्डुनन्दनके शीघ्रतापूर्वक अस्त्र-संचालनके लिये इन्द्रने उनकी बड़ी प्रशंसा की। उनके सिवा वहाँ जो गन्धर्व और अप्सराएँ आयी थीं, उन्होंने भी उनकी बड़ी सराहना की ॥ ७१ ॥

ततो वृन्देन महता रथानां रथयूथपः।
आचार्यपुत्रः सहसा पाण्डवं पर्यवारयत् ॥ ७२ ॥

तदनन्तर रथियोंके यूथपति आचार्यपुत्र अश्वत्थामाने रथारोहियोंके विशाल समूहके साथ सहसा वहाँ पहुँचकर पाण्डुनन्दनको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ७२ ॥

अश्वत्थामा तु तत् कर्म हृदयेन महात्मनः।
पूजयामास पार्थस्य कोपं चास्याकरोद् भृशम् ॥ ७३ ॥

अश्वत्थामाने महात्मा अर्जुनके उस पराक्रमकी मन-ही-मन भूरि-भूरि प्रशंसा की और उनपर अपना महान् क्रोध प्रकट किया ॥ ७३ ॥

स मन्युवशमापन्नः पार्थमभ्यद्रवद् रणे।
किरञ्छरसहस्राणि पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ ७४ ॥

आचार्यपुत्र क्रोधके वशीभूत हो गया था। वह रणभूमिमें जल बरसानेवाले मेघकी भाँति सहस्रों बाणोंकी बौछार करता हुआ पार्थपर टूट पड़ा ॥ ७४ ॥

आवृत्य तु महाबाहुर्यतो द्रौणिस्ततो हयान्।
अन्तरं प्रददौ पार्थो द्रोणस्य व्यपसर्पितुम् ॥ ७५ ॥

तब महाबाहु अर्जुनने जिधर अश्वत्थामा था, उसी ओर घोड़ोंको घुमाकर आचार्य द्रोणको भाग जानेका अवसर दे दिया ॥ ७५ ॥

स तु लब्ध्वान्तरं तूर्णमपायाज्जवनैर्हयैः।
छिन्नवर्मध्वजः शूरो निकृत्तः परमेषुभिः ॥ ७६ ॥

अर्जुनके उत्तम बाणोंसे द्रोणके कवच और ध्वज छिन्न-भिन्न हो चुके थे। वे स्वयं भी बहुत घायल हो गये थे; अतः मौका पाते ही वेगशाली घोड़ोंको बढ़ाकर तुरंत वहाँसे भाग निकले ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि द्रोणापयाने अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें द्रोणाचार्यके पलायनसे सम्बन्ध रखनेवाला अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

अश्वत्थामाके साथ अर्जुनका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रौणिर्महाराज प्रययावर्जुनं रणे।
तं पार्थः प्रतिजग्राह वायुवेगमिवोद्धतम्।
शरजालेन महता वर्षमाणमिवाम्बुदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! तदनन्तर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने रणभूमिमें जब अर्जुनपर बड़े वेगसे आक्रमण किया, तब अर्जुनने भी प्रचण्ड वायुवेगके समान तीव्र गतिसे आते हुए अश्वत्थामाको रोका। उस समय जल बरसानेवाले मेघकी भाँति वह महान् शरसमूहकी वर्षा कर रहा था ॥ १ ॥

तयोर्देवासुरसमः संनिपातो महानभूत्।
किरतोः शरजालानि वृत्रवासवयोरिव ॥ २ ॥

उन दोनोंमें देवताओं और असुरोंके समान भारी संघर्ष होने लगा। वे दोनों (एक-दूसरेपर) बाणसमूहोंकी बौछार करते हुए वृत्रासुर और इन्द्रके समान जान पड़ते थे ॥ २ ॥

न स्म सूर्यस्तदा भाति न च वाति समीरणः।
शरजालावृते व्योम्निच्छायाभूते समन्ततः ॥ ३ ॥

उनके बाणोंके जालसे आच्छादित होकर आकाश सब ओरसे अन्धकारमय हो रहा था। उस समय न तो सूर्य प्रकाशित हो रहे थे और न वायु ही चल पाती थी ॥ ३ ॥

महांश्चटचटाशब्दो योधयोर्हन्यमानयोः।
दह्यतामिव वेणूनामासीत् परपुरंजय ॥ ४ ॥

शत्रुविजयी जनमेजय! जब दोनों योद्धा एक दूसरेपर आघात करते, तब जलते हुए बाँसोंके चटखनेकी भाँति चट-चट शब्द होने लगता था ॥ ४ ॥

हयानस्यार्जुनः सर्वान् कृतवानल्पजीवितान्।
ते राजन् न प्रजानन्त दिशं काञ्चन मोहिताः ॥ ५ ॥

अर्जुनने अश्वत्थामाके घोड़ोंको घायल करके अल्पजीवी बना दिया। राजन्! वे मोहग्रस्त (मूर्च्छित) होनेके कारण किसी भी दिशाको नहीं जान पाते थे ॥ ५ ॥

ततो द्रौणिर्महावीर्यः पार्थस्य विचरिष्यतः ।
विवरं सूक्ष्ममालोक्य ज्यां चिच्छेद क्षुरेण ह ।
तदस्यापूजयन् देवाः कर्म दृष्ट्वातिमानुषम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर महापराक्रमी अश्वत्थामाने रणभूमिमें विचरते हुए अर्जुनका छोटा-सा छिद्र (तनिक-सी असावधानी) देखकर क्षुर नामक बाणसे उनकी प्रत्यञ्चा काट डाली । उसके इस अतिमानुष कर्मको देखकर सब देवता उसकी बड़ी प्रशंसा करने लगे ॥ ६ ॥

द्रोणो भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्चैव महारथाः ।
साधु साध्विति भाषन्तोऽपूजयन् कर्म तस्य तत् ॥ ७ ॥

द्रोण, भीष्म, कर्ण और कृपाचार्य—ये सभी महारथी साधुवाद देते हुए अश्वत्थामाके उस कार्यकी सराहना करने लगे ॥ ७ ॥

ततो द्रौणिर्धनुः श्रेष्ठमपकृष्य रथर्षभम् ।
पुनरेवाहनत् पार्थं हृदये कङ्कपत्रिभिः ॥ ८ ॥

तदनन्तर द्रोणपुत्रने अपना श्रेष्ठ धनुष खींचकर कङ्क पक्षीके पंखवाले बाणोंद्वारा रथियोंमें श्रेष्ठ पार्थकी छातीमें पुनः भारी आघात पहुँचाया ॥ ८ ॥

ततः पार्थो महाबाहुः प्रहस्य स्वनवत् तदा ।
योजयामास नवया मौर्व्या गाण्डीवमोजसा ॥ ९ ॥

उस समय महाबाहु पार्थ ठहाका मारकर हँसने लगे । फिर उन्होंने गाण्डीव धनुषपर बलपूर्वक नयी प्रत्यञ्चा चढ़ा दी ॥ ९ ॥

ततोऽर्धचन्द्रमावृत्य तेन पार्थः समागमत् ।
वारणेनेव मत्तेन मत्तो वारणयूथपः ॥ १० ॥

तदनन्तर पसीनेसे अर्धचन्द्राकार धनुषकी डोरीको माँजकर अर्जुन अश्वत्थामासे भिड़ गये, मानो कोई उन्मत्त गजयूथाधिपति किसी दूसरे मतवाले हाथीके साथ जा भिड़ा हो ॥ १० ॥

ततः प्रववृते युद्धं पृथिव्यामेकवीरयोः ।
रणमध्ये द्वयोरेवं सुमहल्लोमहर्षणम् ॥ ११ ॥

इसके बाद उस रणभूमिमें भूमण्डलके इन दोनों अनुपम वीरोंका ऐसा भयंकर संग्राम हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ ११ ॥

तौ वीरौ ददृशुः सर्वे कुरवो विस्मयान्विताः ।
युध्यमानौ महावीर्यौ यूथपाविव संगतौ ॥ १२ ॥

समस्त कौरव विस्मयविमुग्ध होकर उन दोनों वीरोंकी ओर देखने लगे । महापराक्रमी अश्वत्थामा और अर्जुन परस्पर भिड़े हुए दो यूथपतियोंकी भाँति लड़ रहे थे ॥ १२ ॥

तौ समाजघ्नतुर्वीरावन्योन्यं पुरुषर्षभौ ।
शरैराशीविषाकारैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः ॥ १३ ॥

वे दोनों पुरुषसिंह वीर विषधर सर्पके समान आकारवाले जलते हुए-से बाणोंद्वारा एक दूसरेको चोट पहुँचाने लगे ॥ १३ ॥

अक्षय्याविषुधी दिव्यौ पाण्डवस्य महात्मनः ।
तेन पार्थो रणे शूरस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १४ ॥

महात्मा पाण्डुनन्दनके पास दो दिव्य अक्षय तूणीर थे, इससे कुन्तीपुत्र शूरवीर अर्जुन रणभूमिमें पर्वतकी भाँति अविचल खड़े रहे ॥ १४ ॥

अश्वत्थाम्नः पुनर्बाणाः क्षिप्रमभ्यस्यतो रणे ।
जग्मुः परिक्षयं तूर्णमभूत् तेनाधिकोऽर्जुनः ॥ १५ ॥

परंतु संग्राममें शीघ्रतापूर्वक बार-बार शरसंधान करनेवाले अश्वत्थामाके बाण जल्दी समाप्त हो गये । इस कारण अर्जुन उसकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए ॥ १५ ॥

ततः कर्णो महाचापं विकृष्याभ्यधिकं तदा ।
अवाक्षिपत् ततः शब्दो हाहाकारो महानभूत् ॥ १६ ॥

तब कर्णने अपने महान् धनुषको बड़े जोरसे खींचकर टंकार की । उससे वहाँ महान् हाहाकारका शब्द होने लगा ॥ १६ ॥

ततश्चक्षुर्दधे पार्थो यत्र विस्फार्यते धनुः ।
ददर्श तत्र राधेयं तस्य कोपो व्यवर्धत ॥ १७ ॥

तब अर्जुनने जहाँ धनुषकी टंकार हो रही थी, उधर दृष्टि डाली, तो वहाँ राधानन्दन कर्ण दिखायी पड़ा । इससे उनका क्रोध बहुत बढ़ गया ॥ १७ ॥

स रोषवशमापन्नः कर्णमेव जिघांसया ।
तमैक्षत विवृत्ताभ्यां नेत्राभ्यां कुरुपुङ्गवः ॥ १८ ॥

तब कुरुश्रेष्ठ अर्जुन रोषके वशीभूत हो कर्णको ही मार डालनेकी इच्छासे दोनों आँखें फाड़-फाड़कर उसकी ओर देखने लगे ॥ १८ ॥

तथा तु विमुखे पार्थे द्रोणपुत्रस्य सायकान् ।
त्वरिताः पुरुषा राजन्नुपाजह्रुः सहस्रशः ॥ १९ ॥

राजन् ! इस प्रकार जब अर्जुनने उधरसे दृष्टि हटाकर दूसरी ओर मुँह फेर लिया, तब बहुत-से सैनिक तुरंत वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने द्रोणपुत्रके हजारों बाणोंको (रणभूमिसे उठाकर) उन्हें समर्पित कर दिया ॥ १९ ॥

उत्सृज्य च महाबाहुर्द्रोणपुत्रं धनंजयः ।
अभिदुद्राव सहसा कर्णमेव सपत्नजित् ॥ २० ॥

तब शत्रुविजयी महाबाहु धनंजयने द्रोणपुत्रको वहीं छोड़कर सहसा कर्णपर ही धावा किया ॥ २० ॥

तमभिद्रुत्य कौन्तेयः क्रोधसंरक्तलोचनः ।

कामयन् द्वैरथं तेन युद्धं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

और कर्णके पास पहुँचकर उसके साथ द्वन्द्वयुद्धकी इच्छा रखते हुए कुन्तीकुमारने क्रोधसे लाल आँखें करके यह बात कही ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनाश्वत्थामयुद्धे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय अर्जुन और अश्वत्थामाके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और कर्णका संवाद तथा कर्णका अर्जुनसे हारकर भागना

अर्जुन उवाच

कर्ण यत् ते सभामध्ये बहु वाचा विकत्थितम्।
न मे युधि समोऽस्तीति तदिदं समुपस्थितम्॥ १ ॥

अर्जुन बोले—कर्ण ! पहले कौरवोंकी सभामें तूने जो अपनी बहुत प्रशंसा करते हुए यह बात कही थी कि युद्धमें मेरे समान दूसरा कोई योद्धा नहीं है। (उसकी सच्चाईकी परीक्षाके लिये) यह युद्धका अवसर उपस्थित हो गया है ॥ १ ॥

सोऽद्य कर्ण मया सार्धं व्यवहृत्य महामृधे।
ज्ञास्यस्यबलमात्मानं न चान्यानवमंस्यसे ॥ २ ॥

कर्ण ! आज इस महासंग्राममें मेरे साथ भिड़कर तू अपनेको भलीभाँति निर्बल समझ लेगा और फिर कभी दूसरोंका अपमान नहीं करेगा ॥ २ ॥

अवोचः परुषा वाचो धर्ममुत्सृज्य केवलम्।
इदं तु दुष्करं मन्ये यदिदं ते चिकीर्षितम् ॥ ३ ॥

पहले तूने केवल धर्मकी अवहेलना करके बड़ी कठोर बातें कही हैं, परंतु तू जो कुछ करना चाहता है, वह तेरेलिये मैं अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ ॥ ३ ॥

यत् त्वया कथितं पूर्वं मामनासाद्य किंचन।
तदद्य कुरु राधेय कुरुमध्ये मया सह ॥ ४ ॥

राधानन्दन ! मेरे साथ भिड़न्त होनेके पहले कौरवोंकी सभामें तूने जो कुछ कहा है, आज मेरे साथ युद्ध करके वह सब सत्य कर दिखा ॥ ४ ॥

यत् सभायां स पाञ्चालीं क्लिश्यमानां दुरात्मभिः।
दृष्टवानसि तस्याद्य फलमाप्नुहि केवलम् ॥ ५ ॥

अरे ! भरी सभामें दुरात्मा कौरव पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको क्लेश दे रहे थे और तू मौजसे यह सब देखता रहा। आज केवल उस अत्याचारका फल भोग ले ॥ ५ ॥

धर्मपाशनिबद्धेन यन्मया मर्षितं पुरा।
तस्य राधेय कोपस्य विजयं पश्य मे मृधे ॥ ६ ॥

पहले मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हुआ था। इसलिये मैंने सब कुछ (चुपचाप) सह लिया। परंतु राधापुत्र ! आजके युद्धमें मेरे उस क्रोधका फल मेरी विजयके रूपमें अभी देख ले ॥ ६ ॥

वने द्वादश वर्षाणि यानि सोढानि दुर्मते।
तस्याद्य प्रतिकोपस्य फलं प्राप्नुहि सम्प्रति ॥ ७ ॥

ओ दुर्मते ! हमने बारह वर्षोंतक वनमें रहकर जो क्लेश सहन किये हैं, उनका बदला चुकानेके लिये आज मेरे बढ़े हुए क्रोधका फल तू अभी चख ले ॥ ७ ॥

एहि कर्ण मया सार्धं प्रतियुध्यस्व सङ्गरे।
प्रेक्षकाः कुरवः सर्वे भवन्तु तव सैनिकाः ॥ ८ ॥

कर्ण ! आ, रणभूमिमें मेरा सामना कर। समस्त कौरव और तेरे सैनिक सब दर्शक होकर हमारे युद्धको देखें ॥ ८ ॥

कर्ण उवाच

ब्रवीषि वाचा यत् पार्थ कर्मणा तत् समाचर।
अतिशेते हि ते वाक्यं कर्मैतत् प्रथितं भुवि ॥ ९ ॥

कर्णने कहा—कुन्तीपुत्र ! तू मुझसे जो कुछ कहता है, उसे क्रियाद्वारा करके दिखा। तेरी बातें कार्य करनेकी अपेक्षा बहुत बढ़-चढ़कर होती हैं। यह बात भूमण्डलमें प्रसिद्ध है ॥ ९ ॥

यत् त्वया मर्षितं पूर्वं तदशक्तेन मर्षितम्।
इतो गृह्णीमहे पार्थ तव दृष्ट्वा पराक्रमम् ॥ १० ॥

पार्थ ! तेरा यह जबानी पराक्रम देखकर तो हम इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि तूने पहले जो कुछ सहन किया है, वह अपनी असमर्थताके ही कारण किया है ॥ १० ॥

धर्मपाशनिबद्धेन यत् त्वया मर्षितं पुरा।
तथैव बद्धमात्मानमबद्धमिव मन्यसे ॥ ११ ॥

यदि तूने पहले धर्मके बन्धनमें बँधकर कष्ट सहन किया है, तो आज भी तू उसी प्रकार बँधा हुआ है; तो भी तू अपने आपको उस बन्धनसे मुक्त-सा मान रहा है ॥ ११ ॥

यदि तावद् वने वासो यथोक्तश्चरितस्त्वया।
तत् त्वं धर्मार्थवित् क्लिष्टः स मया योद्धुमिच्छसि॥ १२ ॥

यदि तूने वनवासके पूर्वोक्त नियमका भलीभाँति पालन

कर लिया है, तो तू धर्म और अर्थका ज्ञाता ठहरा। इसलिये तूने कष्ट सहा है और उसीको याद करके इस समय मेरे साथ लड़ना चाहता है ॥ १२ ॥

यदि शक्रः स्वयं पार्थ युध्यते तव कारणात्।
तथापि न व्यथा काचिन्मम स्याद् विक्रमिष्यतः॥ १३ ॥

पार्थ! यदि इस समय साक्षात् इन्द्र भी तेरे लिये युद्ध करने आयें, तो भी युद्धमें पराक्रम दिखाते हुए मुझको किसी प्रकारकी व्यथा न होगी ॥ १३ ॥

अयं कौन्तेय कामस्ते नचिरात् समुपस्थितः।
योत्स्यसे हि मया सार्धमद्य द्रक्ष्यसि मे बलम्॥ १४ ॥

कुन्तीकुमार! मेरे साथ युद्धका जो तेरा हौसला है, वह अभी-अभी प्रकट हुआ है। अतः अब मेरे साथ तेरा युद्ध होगा और आज तू मेरा बल स्वयं देख लेगा ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

इदानीमेव तावत् त्वमपयातो रणान्मम।
तेन जीवसि राधेय निहतस्त्वनुजस्तव ॥ १५ ॥

अर्जुन बोले—राधापुत्र! अभी कुछ ही देर पहलेकी बात है, मेरे सामने युद्धसे पीठ दिखाकर तू भाग गया था, इसीलिये अबतक जी रहा है; किंतु तेरा छोटा भाई मारा गया ॥ १५ ॥

भ्रातरं घातयित्वा कस्त्यक्त्वा रणशिरश्च कः।
त्वदन्यः कः पुमान् सत्सु ब्रूयादेवं व्यवस्थितः ॥ १६ ॥

तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपने भाईको मरवाकर और युद्धका मुहाना छोड़कर (भाग जानेके बाद भी) भलेमानसोंके बीचमें खड़ा हो ऐसी डींग मारेगा? ॥१६॥

वैशम्पायन उवाच

इति कर्णं ब्रुवन्नेव बीभत्सुरपराजितः।
अभ्ययाद् विसृजन् बाणान् कायावरणभेदिनः॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुन किसीसे भी परास्त होनेवाले नहीं थे। वे कर्णसे उपर्युक्त बातें कहकर कवचको भी विदीर्ण कर देनेवाले बाण छोड़ते हुए उसकी ओर बढ़े ॥ १७ ॥

प्रतिजग्राह तं कर्णः प्रीयमाणो महारथः।
महता शरवर्षेण वर्षमाणमिवाम्बुदम्॥ १८ ॥

महारथी कर्णने बड़ी प्रसन्नताके साथ मेघके सदृश बाणोंकी वृष्टि करनेवाले अर्जुनको अपने सायकोंकी भारी बौछार करके रोका ॥ १८ ॥

उत्पेतुः शरजालानि घोररूपाणि सर्वशः।
अविध्यदश्वान् बाह्वोश्च हस्तावापं पृथक् पृथक्॥ १९ ॥

सोऽमृष्यमाणः कर्णस्य निषङ्गस्यावलम्बनम्।
चिच्छेद निशिताग्रेण शरेण नतपर्वणा ॥ २० ॥

फिर तो आकाशमें सब ओर भयंकर बाणोंके समूह उड़ने लगे। अर्जुनसे यह सहन न हो सका; अतः उन्होंने झुकी हुई गाँठ एवं तीखी नोकवाले बाणसे कर्णके घोड़ोंको बींध डाला। भुजाओंमें भी गहरी चोट पहुँचायी और हाथोंके दस्तानोंको भी पृथक्-पृथक् विदीर्ण कर दिया। इतना ही नहीं, कर्णके भाथा लटकानेकी रस्सीको भी काट गिराया ॥ १९-२० ॥

उपासङ्गादुपादाय कर्णो बाणानथापरान्।
विव्याध पाण्डवं हस्ते तस्य मुष्टिरशीर्यत ॥ २१ ॥

तब कर्णने (अलग रक्खे हुए) छोटे तरकससे दूसरे बाण लेकर पाण्डुनन्दन अर्जुनके हाथमें चोट पहुँचायी। इससे उनकी मुट्ठी ढीली पड़ गयी ॥ २१ ॥

ततः पार्थो महाबाहुः कर्णस्य धनुरच्छिनत्।
स शक्तिं प्राहिणोत् तस्मै तां पार्थो व्यधमच्छरैः॥

तब महाबाहु पार्थने कर्णका धनुष काट दिया। यह देख कर्णने अर्जुनपर शक्ति चलायी; किंतु पार्थने उसे बाणोंसे नष्ट कर दिया ॥ २२ ॥

ततोऽनुपेतुर्बहवो राधेयस्य पदानुगाः।
तांश्च गाण्डीवनिर्मुक्तैः प्राहिणोद् यमसादनम्॥ २३ ॥

इतनेमें ही राधापुत्र कर्णके बहुत-से सैनिक वहाँ आ पहुँचे; किंतु अर्जुनने गाण्डीवद्वारा छोड़े हुए बाणोंसे मारकर उन सबको यमलोक भेज दिया ॥ २३ ॥

ततोऽस्याश्वाञ्छरैस्तीक्ष्णैर्बीभत्सुर्भारसाधनैः।
आकर्णमुक्तैरवधीत् ते हताः प्रापतन् भुवि ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् बीभत्सुने भार (शत्रुओंके आघात) सहनेमें समर्थ तीखे बाणोंद्वारा, जो धनुषको कानतक खींचकर छोड़े गये थे, कर्णके घोड़ोंको घायल कर दिया। वे घोड़े मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २४ ॥

अथापरेण बाणेन ज्वलितेन महौजसा।
विव्याध कर्णं कौन्तेयस्तीक्ष्णेनोरसि वीर्यवान्॥ २५ ॥

तत्पश्चात् पराक्रमी कुन्तीकुमारने महान् तेजस्वी तथा अग्निके समान प्रज्वलित दूसरे बाणद्वारा कर्णकी छातीमें आघात किया ॥ २५ ॥

तस्य भित्त्वा तनुत्राणं कायमभ्यगमच्छरः।
ततः स तमसाऽऽविष्टो न स्म किंचित् प्रजज्ञिवान्॥

वह बाण कर्णका कवच काटकर उसके वक्षःस्थलके भीतर घुस गया। इससे कर्णको मूर्च्छा आ गयी और उसे किसी भी बातकी सुध-बुध न रही ॥ २६ ॥

स गाढवेदनो हित्वा रणं प्रायादुदङ्मुखः।
ततोऽर्जुन उदक्रोशदुत्तरश्च महारथः ॥ २७ ॥

कर्णको उस चोटसे बड़ी भारी वेदना हुई और वह युद्धभूमिको छोड़कर उत्तर दिशाकी ओर भागा। यह देख अर्जुन और उत्तर दोनों महारथी जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि कर्णापयाने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें कर्णका पलायनविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनका उत्तरकुमारको आश्वासन तथा अर्जुनसे दुःशासन आदिकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

ततो वैकर्तनं जित्वा पार्थो वैराटिमब्रवीत्।
एतन्मां प्रापयानीकं यत्र तालो हिरण्मयः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार वैकर्तन कर्णको जीतकर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरसे कहा—'सारथे ! तुम मुझे इस सेनाकी ओर ले चलो, जिसकी ध्वजापर सुवर्णमय ताड़ वृक्षका चिह्न है ॥ १ ॥

अत्र शान्तनवो भीष्मो रथेऽस्माकं पितामहः।
काङ्क्षमाणो मया युद्धं तिष्ठत्यमरदर्शनः ॥ २ ॥

'उस रथपर हम सबके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मजी बैठे हैं। वे मेरे साथ युद्धकी इच्छा रखकर खड़े हैं। उनका दर्शन देवताओंके समान है' ॥ २ ॥

अथ सैन्यं महद् दृष्ट्वा रथनागहयाकुलम्।
अब्रवीदुत्तरः पार्थमपविद्धः शरैर्भृशम् ॥ ३ ॥
नाहं शक्ष्यामि वीरेह नियन्तुं ते हयोत्तमान्।
विषीदन्ति मम प्राणा मनो विह्वलतीव मे ॥ ४ ॥

यह सुनकर उत्तरने, जो बाणोंसे अत्यन्त घायल हो चुका था, रथों, हाथियों और घोड़ोंसे भरी हुई विशाल सेनाकी ओर देखकर कहा—'वीर ! अब मैं युद्धभूमिमें आपके उत्तम घोड़ोंको नहीं सम्हाल सकूँगा। मेरे प्राण बड़ी व्यथामें हैं और मन व्याकुल-सा हो रहा है ॥ ३-४ ॥

अस्त्राणामिव दिव्यानां प्रभावः सम्प्रयुज्यताम्।
त्वया च कुरुभिश्चैव द्रवन्तीव दिशो दश ॥ ५ ॥

'आपके तथा कौरव वीरोंके द्वारा प्रयुक्त होनेवाले दिव्यास्त्रोंका प्रभाव यह है कि मुझे दसों दिशाएँ भागती-सी प्रतीत होती हैं ॥ ५ ॥

गन्धेन मूर्च्छितश्चाहं वसारुधिरमेदसाम्।
द्वैधीभूतं मनो मेऽद्य तव चैव प्रपश्यतः ॥ ६ ॥

'मैं चर्बी, रक्त और मेदकी गन्धसे मूर्च्छित हो रहा हूँ। आज आपके देखते-देखते मेरा मन दुविधामें पड़ गया है ॥६॥

अदृष्टपूर्वः शूराणां मया संख्ये समागमः।
गदापातेन महता शङ्खानां निस्वनेन च ॥ ७ ॥
सिंहनादैश्च शूराणां गजानां बृंहितैस्तथा।
गाण्डीवशब्देन भृशमशनिप्रतिमेन च।
श्रुतिः स्मृतिश्च मे वीर प्रणष्टा मूढचेतसः ॥ ८ ॥

'युद्धमें इतने शूरवीरोंका जमघट मैंने पहले कभी नहीं देखा था। वीरवर ! गदाओंके भारी आघात, शङ्खोंके भयंकर शब्द, शूरवीरोंके सिंहनाद, हाथियोंके चिग्घाड़ तथा वज्रकी गड़गड़ाहटके समान गाण्डीव धनुषकी भारी टंकार-ध्वनिसे मेरा चित्त मोहित हो गया है। मेरी श्रवणशक्ति और स्मरणशक्ति भी जवाब दे चुकी है ॥ ७-८ ॥

अलातचक्रप्रतिमं मण्डलं सततं त्वया।
व्याक्षिप्यमाणं समरे गाण्डीवं च प्रकर्षता।
दृष्टिः प्रचलिता वीर हृदयं दीर्यतीव मे ॥ ९ ॥

'रणभूमिमें आप निरन्तर गाण्डीव धनुषको खींचते और टंकारते रहते हैं, जिससे यह अलातचक्रके समान गोल प्रतीत होता है। उसे देखकर मेरी आँखें चौंधियाँ रही हैं तथा हृदय फटा-सा जा रहा है ॥ ९ ॥

वपुश्चोग्रं तव रणे क्रुद्धस्येव पिनाकिनः।
व्यायच्छतस्तव भुजं दृष्ट्वा भीर्मे भवत्यपि ॥ १० ॥

'इस संग्राममें कुपित हुए पिनाकपाणि भगवान् रुद्रकी भाँति आपका शरीर भयानक जान पड़ता है और लगातार धनुष-बाण चलानेके व्यायाममें संलग्न रहनेवाले आपकी भुजाओंको देखकर भी मुझे भय लगता है ॥ १० ॥

नाददानं न संधानं न मुञ्चन्तं शरोत्तमान्।
त्वामहं सम्प्रपश्यामि पश्यन्नपि न चेतनः ॥ ११ ॥

'आप कब उत्तम बाणोंको हाथमें लेते, कब धनुषपर रखते और कब उन्हें छोड़ते हैं, यह सब मैं नहीं देख पाता और देखनेपर भी मुझे चेत नहीं रहता ॥ ११ ॥

अवसीदन्ति मे प्राणा भूरियं चलतीव च।
न च प्रतोदं रश्मींश्च संयन्तुं शक्तिरस्ति मे ॥ १२ ॥

इस समय मेरे प्राण अकुला रहे हैं। यह पृथ्वी काँपती सी जान पड़ती है। इस समय मुझमें इतनी शक्ति नहीं है कि घोड़ोंकी रास सँभालूँ और चाबुक लेकर इन्हें हाँकूँ'

अर्जुन उवाच

मा भैषीः स्तम्भयात्मानं त्वयापि नरपुङ्गव ।
अत्यद्भुतानि कर्माणि कृतानि रणमूर्धनि ॥ १३ ॥

अर्जुन बोले—नरश्रेष्ठ ! डरो मत । अपने आपको सँभालो । तुमने भी युद्धके मुहानेपर बड़े अद्भुत पराक्रम दिखाये हैं ॥ १३ ॥

राजपुत्रोऽसि भद्रं ते कुले मत्स्यस्य विश्रुते ।
जातस्त्वं शत्रुदमने नावसीदितुमर्हसि ॥ १४ ॥
धृतिं कृत्वा सुविपुलां राजपुत्र रथे मम ।
युध्यमानस्य समरे हयान् संयच्छ शत्रुहन् ॥ १५ ॥

तुम राजकुमार हो । तुम्हारा कल्याण हो । तुमने मत्स्यनरेशके विख्यात वंशमें जन्म ग्रहण किया है; अतः शत्रुओंके संहारके अवसरपर तुम्हें शिथिल नहीं होना चाहिये। राजपुत्र ! तुम तो शत्रुओंका नाश करनेवाले हो, अतः पूर्णरूपसे धैर्य धारण करके रथपर बैठो और युद्ध करते समय मेरे घोड़ोंको काबूमें रक्खो ॥ १४-१५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाबाहुर्वैराटिं नरसत्तमः ।
अर्जुनो रथिनां श्रेष्ठ उत्तरं वाक्यमब्रवीत् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार समझा-बुझाकर रथियोंमें श्रेष्ठ और मनुष्योंमें सर्वोत्तम महाबाहु अर्जुन विराट-कुमार उत्तरसे पुनः यह वचन बोले—॥ १६ ॥

सेनाग्रमाशु भीष्मस्य प्रापयस्वैतदेव माम् ।
आच्छेत्स्याम्यहमेतस्य धनुर्ज्यामपि चाहवे ॥ १७ ॥

'राजकुमार ! तुम शीघ्र ही पितामह भीष्मकी इसी सेनाके सामने मेरा रथ ले चलो, मुझे पहुँचाओ । इस युद्धमें मैं इनकी प्रत्यञ्चा भी काट डालूँगा ॥ १७ ॥

अस्यन्तं दिव्यमस्त्रं मां चित्रमद्य निशामय ।
शतह्रदामिवायान्तीं स्तनयित्नोरिवाम्बरे ॥ १८ ॥
सुवर्णपृष्ठं गाण्डीवं द्रक्ष्यन्ति कुरवो मम ।
दक्षिणेनाथ वामेन कतरेण स्विदस्यति ॥ १९ ॥
इति मां सङ्गताः सर्वे तर्कयिष्यन्ति शत्रवः ।
शोणितोदां रथावर्तां नागनक्रां दुरत्ययाम् ।
नदीं प्रस्कन्दयिष्यामि परलोकप्रवाहिनीम् ॥ २० ॥

'आज मुझे विचित्र दिव्यास्त्रोंका प्रहार करते देखो । जैसे आकाशमें मेघोंकी घटासे बिजली प्रकट होती है, उसी प्रकार (बाणोंकी विद्युच्छटा प्रकट करनेवाले) मेरे गाण्डीव धनुषको, जिसके पृष्ठभागमें सोना मढ़ा है, आज कौरवलोग विस्मित होकर देखेंगे । आज सारी शत्रुमण्डली इकट्ठी होकर यह अनुमान लगायेगी कि अर्जुन किस हाथसे बाण चलाते हैं ? दाहिने हाथसे या बायेंसे ? आज मैं परलोककी ओर प्रवाहित होनेवाली (शत्रुसेनारूप) दुर्लङ्घ्य नदीको मथ डालूँगा, जिसमें रक्त ही जल है, रथ भँवर हैं और हाथी ग्राहके स्थानमें हैं ॥ १८—२० ॥

पाणिपादशिरःपृष्ठबाहुशाखानिरन्तरम् ।
वनं कुरूणां छेत्स्यामि शरैः संनतपर्वभिः ॥ २१ ॥

'आज झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा कौरवसेनारूपी जंगलको काट डालूँगा । हाथ, पैर, सिर, पृष्ठ (पीठ) तथा बाहु आदि अङ्ग ही विविध शाखाओंके रूपमें फैलकर इस कौरव-वनको सघन किये हुए हैं ॥ २१ ॥

जयतः कौरवीं सेनामेकस्य मम धन्विनः ।
शतं मार्गा भविष्यन्ति पावकस्येव कानने ॥ २२ ॥

'जैसे वनमें लगे हुए दावानलको आगे बढ़नेके लिये सैकड़ों मार्ग सुलभ होते हैं, उसी प्रकार कौरवसेनापर विजय पानेवाले मुझ एकमात्र धनुर्धर वीरके लिये इसमें सैकड़ों मार्ग प्रकट हो जायँगे ॥ २२ ॥

मया चक्रमिवाविद्धं सैन्यं द्रक्ष्यसि केवलम् ।
इष्वस्त्रे शिक्षितं चित्रमहं दर्शयितास्मि ते ॥ २३ ॥

'मेरे बाणोंसे घायल हुई सारी सेनाको तुम चक्रकी भाँति घूमती हुई देखोगे । आज तुम्हें बाणविद्यामें प्राप्त की हुई अपनी विचित्र शिक्षाका परिचय कराऊँगा ॥ २३ ॥

असम्भ्रान्तो रथे तिष्ठ समेषु विषमेषु च ।
दिवमावृत्य तिष्ठन्तं गिरिं भिन्द्यां स्म पत्रिभिः ॥ २४ ॥

'तुम सम-विषम (ऊँची-नीची) भूमियोंमें सम्भ्रम-रहित (सावधान) होकर रथपर बैठो (और घोड़ोंकी सँभाल रखो।) आज मैं सारे आकाशको घेरकर खड़े हुए (महान्) पर्वतको भी अपने बाणोंसे विदीर्ण कर डालूँगा ॥ २४ ॥

अहमिन्द्रस्य वचनात् संग्रामेऽभ्यहनं पुरा ।
पौलोमान् कालखञ्जांश्च सहस्राणि शतानि च ॥ २५ ॥

'मैंने पहले देवराज इन्द्रकी आज्ञासे युद्धमें उनके शत्रु पौलोम और कालखञ्ज नामक लाखों दानवोंका वध किया है ॥ २५ ॥

अहमिन्द्राद् दृढां मुष्टिं ब्रह्मणः कृतहस्तताम् ।
प्रगाढे तुमुलं चित्रमिति विद्धि प्रजापतेः ॥ २६ ॥

'तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि मैंने धनुष पकड़ते समय मुट्ठीको दृढ़ रखना इन्द्रसे, बाण चलाते समय हाथोंकी फुर्ती ब्रह्माजीसे तथा संकटके समय विचित्र प्रकारसे तुमुल युद्ध करनेकी कला प्रजापतिसे सीखी है ॥ २६ ॥

अहं पारे समुद्रस्य हिरण्यपुरवासिनाम् ।
जित्वा षष्टिं सहस्राणि रथिनामुग्रधन्विनाम् ॥ २७ ॥

'पहलेकी बात है, मैंने समुद्रके उस पार हिरण्यपुरमें

निवास करनेवाले साठ हजार अत्यन्त भयंकर धनुर्धर महारथियोंको परास्त किया था ॥ २७ ॥

शीर्यमाणानि कूलानि प्रवृद्धेनेव वारिणा ।
मया कुरूणां वृन्दानि पात्यमानानि पश्य वै ॥ २८ ॥

'आज देख लेना, जैसे प्रबल वेगसे आयी हुई जलकी बाढ़ किनारोंको काट-काटकर गिरा देती है, उसी प्रकार मैं कौरवदलके सैन्यसमूहोंको मार गिराऊँगा ॥ २८ ॥

ध्वजवृक्षं पत्तितृणं रथसिंहगणायुतम् ।
वनमादीपयिष्यामि कुरूणामस्त्रतेजसा ॥ २९ ॥

'कौरवोंकी सेना एक जंगलके समान है, उसमें ध्वज ही वृक्ष हैं, पैदल सैनिक घास-फूस हैं तथा रथ ही सिंहोंके स्थानमें हैं। मैं अपने अस्त्र-शस्त्ररूपी अग्निसे आज इस कौरववनको जलाकर भस्म कर दूँगा ॥ २९ ॥

तानहं रथनीडेभ्यः शरैः संनतपर्वभिः ।
यत्तान् सर्वानतिबलान् योत्स्यमानानवस्थितान् ।
एकः संकालयिष्यामि वज्रपाणिरिवासुरान् ॥ ३० ॥

'जैसे व्याध घोंसलेमें बैठे हुए पक्षियोंको भी मार गिराता है, उसी प्रकार मैं मुड़ी हुई नोकवाले (तीखे) बाणोंसे मारकर उन सभी कौरववीरोंको रथोंकी बैठकोंसे नीचे गिरा दूँगा। जैसे वज्रधारी इन्द्र अकेले ही समस्त असुरोंका संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार मैं भी अकेला ही यहाँ युद्धके लिये सावधान होकर खड़े हुए समस्त महाबली योद्धाओंका भलीभाँति विनाश कर डालूँगा ॥ ३० ॥

रौद्रं रुद्रादहं ह्यस्त्रं वारुणं वरुणादपि ।
अस्त्रमाग्नेयमग्नेश्च वायव्यं मातरिश्वनः ।
वज्रादीनि तथास्त्राणि शक्रादहमवाप्तवान् ॥ ३१ ॥

'मैंने भगवान् रुद्रसे रौद्रास्त्रकी, वरुणसे वारुणास्त्रकी, अग्निसे आग्नेयास्त्रकी और वायु देवतासे वायव्यास्त्रकी शिक्षा प्राप्त की है। इसी प्रकार साक्षात् इन्द्रसे मैंने वज्र आदि अस्त्र प्राप्त किये हैं ॥ ३१ ॥

धार्तराष्ट्रवनं घोरं नरसिंहाभिरक्षितम् ।
अहमुत्पाटयिष्यामि वैराटे व्येतु ते भयम् ॥ ३२ ॥

'वीर मानवरूपी सिंहोंसे सुरक्षित इस भयंकर कौरव-वनको मैं अकेला ही उजाड़ डालूँगा, अतः विराट्कुमार ! तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये' ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितस्तेन वैराटिः सव्यसाचिना ।
व्यवागाहद् रथानीकं भीमं भीष्माभिरक्षितम् ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सव्यसाची अर्जुनके इस प्रकार सान्त्वना देनेपर विराटकुमार उत्तरने भीष्मजीके द्वारा सब ओरसे सुरक्षित रथियोंकी भयंकर सेनामें प्रवेश किया ॥ ३३ ॥

तमायान्तं महाबाहुं जिगीषन्तं रणे कुरून् ।
अभ्यवारयदव्यग्रः क्रूरकर्माऽऽपगासुतः ॥ ३४ ॥

रणभूमिमें कौरवोंको जीतनेकी इच्छासे आते हुए महाबाहु अर्जुनको कठोर कर्म करनेवाले गङ्गानन्दन भीष्मने बिना किसी घबराहटके रोक दिया ॥ ३४ ॥

तस्य जिष्णुरुपावृत्य ध्वजं मूलादपातयत् ।
विकृष्य कलधौताग्रैः स विद्धः प्रापतद् भुवि ॥ ३५ ॥

तब अर्जुनने उनकी ओर घूमकर सुनहरी धारवाले बाणोंसे भीष्मजीकी ध्वजाको जड़से काट गिराया, बाणोंसे छिद जानेके कारण वह ध्वजा पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३५ ॥

तं चित्रमाल्याभरणाः कृतविद्या मनस्विनः ।
आगच्छन् भीमधन्वानं चत्वारश्च महाबलाः ॥ ३६ ॥
दुःशासनो विकर्णश्च दुःसहोऽथ विविंशतिः ।
आगत्य भीमधन्वानं बीभत्सुं पर्यवारयन् ॥ ३७ ॥

इतनेहीमें विचित्र माला और आभूषणोंसे विभूषित और अस्त्रसंचालनकी विद्यामें निपुण चार महाबली मनस्वी वीर दुःशासन, विकर्ण, दुःसह और विविंशति वहाँ भयंकर धनुषवाले अर्जुनपर चढ़ आये और वहाँ आकर उन्होंने उग्रधन्वा बीभत्सुको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३६-३७ ॥

दुःशासनस्तु भल्लेन विद्ध्वा वैराटमुत्तरम् ।
द्वितीयेनार्जुनं वीरः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ॥ ३८ ॥

वीर दुःशासनने भल्ल नामक एक बाणसे विराटकुमार उत्तरको घायल करके दूसरेसे अर्जुनकी छाती छेद डाली ॥ ३८ ॥

तस्य जिष्णुरुपावृत्य पृथुधारेण कार्मुकम् ।
चकर्त गार्ध्रपत्रेण जातरूपपरिष्कृतम् ॥ ३९ ॥

तब अर्जुन उसकी ओर मुड़े और मोटी धार और गीधकी पाँख-जैसे पंखवाले बाणसे उन्होंने दुःशासनके सुवर्णजटित धनुषको काट डाला ॥ ३९ ॥

अथैनं पञ्चभिः पश्चात् प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ।
सोऽपयातो रणं हित्वा पार्थबाणप्रपीडितः ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् उसकी छातीमें भी पाँच बाण मारे। पार्थके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो दुःशासन युद्ध छोड़कर भाग गया ॥ ४० ॥

तं विकर्णः शरैस्तीक्ष्णैर्गृध्रपत्रैरजिह्मगैः ।
विव्याध परवीरघ्नमर्जुनं धृतराष्ट्रजः ॥ ४१ ॥

तब धृतराष्ट्रपुत्र विकर्णने शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले अर्जुनको सीधे लक्ष्यकी ओर जानेवाले गृध्रपत्रयुक्त तीखे बाणोंसे बींध डाला ॥ ४१ ॥

ततस्तमपि कौन्तेयः शरेणानतपर्वणा ।
ललाटेऽभ्यहनत् तूर्णं स विद्धः प्रापतद् रथात् ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् कुन्तीनन्दन अर्जुनने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे उसको भी ललाटमें बींध डाला । उस बाणसे घायल होकर विकर्ण तुरंत ही रथसे नीचे गिर पड़ा ॥ ४२ ॥

ततः पार्थमभिद्रुत्य दुःसहः सविविंशतिः ।
अवाकिरच्छरैस्तीक्ष्णैः परीप्सुर्भ्रातरं रणे ॥ ४३ ॥

तब दुःसह और विविंशति अर्जुनकी ओर दौड़े और युद्धमें भाईका बदला लेनेके लिये उनके ऊपर तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ४३ ॥

तावुभौ गार्ध्रपत्राभ्यां निशिताभ्यां धनंजयः ।
विद्ध्वा युगपदव्यग्रस्तयोर्वाहानसूदयत् ॥ ४४ ॥

फिर धनंजयने गृध्रकी पाँखवाले दो तीखे बाणोंद्वारा उन दोनोंको एक ही साथ घायल करके बिना किसी घबराहटके उनके घोड़ोंको भी मार गिराया ॥ ४४ ॥

तौ हताश्वौ विभिन्नाङ्गौ धृतराष्ट्रात्मजावुभौ ।
अभिपत्य रथैरन्यैरपनीतौ पदानुगैः ॥ ४५ ॥

घोड़ोंके मारे जाने और शरीरके बिंध जानेपर उन दोनों धृतराष्ट्रकुमारोंके पास उनके सेवक आ पहुँचे और उन्हें दूसरे रथपर डालकर अन्यत्र हटा ले गये ॥ ४५ ॥

सर्वा दिशश्चाभ्यपतद् बीभत्सुरपराजितः ।
किरीटमाली कौन्तेयो लब्धलक्षो महाबलः ॥ ४६ ॥

किसीसे परास्त न होनेवाले किरीट-मालाधारी महाबली कुन्तीनन्दन अर्जुनका निशाना कभी चूकता नहीं था । वे उस सेनामें सब ओर विचरने लगे ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि अर्जुनदुःशासनादियुद्धे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें अर्जुनदुःशासन आदिके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनका सब योद्धाओं और महारथियोंके साथ युद्ध

वैशम्पायन उवाच

अथ संगम्य सर्वे ते कौरवाणां महारथाः ।
अर्जुनं सहिता यत्ताः प्रत्ययुध्यन्त भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कौरवसेनाके सब महारथी मिलकर एक साथ संगठित हो बड़ी सावधानीके साथ अर्जुनका सामना करने लगे ॥ १ ॥

स सायकमयैर्जालैः सर्वतस्तान् महारथान् ।
प्राच्छादयदमेयात्मा नीहारेणेव पर्वतान् ॥ २ ॥

परंतु असीम आत्मबलसे सम्पन्न कुन्तीपुत्रने सब ओर सायकोंका जाल-सा बिछाकर कुहरेसे ढके हुए पहाड़ोंकी तरह उन सब महारथियोंको आच्छादित कर दिया ॥ २ ॥

नदद्भिश्च महानागैर्हेषमाणैश्च वाजिभिः ।
भेरीशङ्खनिनादैश्च स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ ३ ॥

बड़े-बड़े गजराजोंके चिग्घाड़ने, घोड़ोंके हिनहिनाने और नगाड़ों तथा शङ्खोंके बजाये जानेसे जो शब्द हुए, उनके एकत्र मिलनेसे उस रणभूमिमें भारी कोलाहल मच गया ॥ ३ ॥

नराश्वकायान् निर्भिद्य लौहानि कवचानि च ।
पार्थस्य शरजालानि विनिष्पेतुः सहस्रशः ॥ ४ ॥

पार्थके सहस्रों बाणसमुदाय मनुष्यों और घोड़ोंके शरीरोंको छेदकर और उनके लोहेके बने हुए कवचोंको भी छिन्न-भिन्न करके नीचे गिरा रहे थे ॥ ४ ॥

त्वरमाणः शरानस्यन् पाण्डवः प्रबभौ रणे ।
मध्यंदिनगतोऽर्चिष्माञ्छरदीव दिवाकरः ॥ ५ ॥

जैसे शरद्-ऋतुके (निर्मल आकाशमें) दोपहरका सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणें फैलाकर प्रकाशित होता है, उसी प्रकार संग्राममें पाण्डुनन्दन अर्जुन शत्रुसेनापर उतावलीके साथ बाणवर्षा करते हुए सुशोभित होते थे ॥ ५ ॥

उपप्लवन्ति वित्रस्ता रथेभ्यो रथिनस्तथा ।
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चैव पदातयः ॥ ६ ॥

उस समय अत्यन्त भयभीत होकर रथी सैनिक रथोंसे कूदकर और घुड़सवार घोड़ोंकी पीठसे उछलकर जान लेकर भाग चले और पैदल योद्धा तो भूमिपर थे ही; उन्होंने भी (डरके मारे) इधर-उधरकी राह ली ॥ ६ ॥

शरैः संछिद्यमानानां कवचानां महात्मनाम् ।
ताम्रराजतलौहानां प्रादुरासीन्महास्वनः ॥ ७ ॥

महामना शूरवीरोंके ताँबे, चाँदी और लोहेके बने हुए कवच जब बाणोंसे कटते थे, तब उनका बड़ा भारी शब्द होता था ॥ ७ ॥

छन्नमायोधनं सर्वं शरीरैर्गतचेतसाम् ।
गजाश्वसादिनां तत्र शितबाणात्तजीवितैः ॥ ८ ॥
रथोपस्थाभिपतितैरास्तृता मानवैर्मही ।
प्रनृत्यतीव संग्रामे चापहस्तो धनंजयः ॥ ९ ॥

कुछ ही देरमें युद्धका सारा मैदान मूर्च्छित हुए सैनिकोंके शरीरोंसे पट गया। तीखे बाणोंकी मारसे जिनके प्राण निकल गये थे, उन हाथीसवारों, घुड़सवारों तथा रथकी बैठकसे गिरे हुए मनुष्योंकी लाशोंसे वहाँकी भूमि आच्छादित हो गयी थी। उस समय ऐसा जान पड़ता था, जैसे धनुष हाथमें लिये अर्जुन युद्धभूमिमें सब ओर नाचते फिर रहे हों ॥ ८-९ ॥

श्रुत्वा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
त्रस्तानि सर्वसैन्यानि व्यपागच्छन् महाहवात् ॥ १० ॥
कुण्डलोष्णीषधारीणि जातरूपस्रजस्तथा।
पतितानि स्म दृश्यन्ते शिरांसि रणमूर्धनि ॥ ११ ॥

गाण्डीवकी टंकार वज्रकी गड़गड़ाहटको भी मात कर रही थी। उसे सुनकर समस्त सैनिक भयभीत हो उस महान् संग्रामसे भाग निकले। युद्धके मुहानेपर कुण्डल और पगड़ी धारण किये असंख्य कटे हुए सिर पड़े दिखायी देते थे। कितने ही सोनेके हार इधर-उधर गिरे थे ॥ १०-११ ॥

विशिखोन्मथितैर्गात्रैर्बाहुभिश्च सकार्मुकैः।
सहस्ताभरणैश्चान्यैः प्रच्छन्ना भाति मेदिनी ॥ १२ ॥

अर्जुनके बाणोंसे मथित हुई लाशोंसे वहाँकी जमीन पट गयी थी। कितनी ही भुजाएँ कटकर गिरी थीं; जो अब भी (मुट्ठीमें दृढ़तापूर्वक) धनुष पकड़े हुए थीं। उन हाथोंमें बाजूबन्द, कड़े और अंगूठी आदि आभूषण सभी ज्यों-के-त्यों थे। इन सबसे आच्छादित होकर उस रणभूमिकी विचित्र शोभा हो रही थी ॥ १२ ॥

शिरसां पात्यमानानामन्तरा निशितैः शरैः।
अश्मवृष्टिरिवाकाशादभवद् भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ! बीचमें तीखे बाणोंसे काटकर गिराये जानेवाले योद्धाओंके मस्तकोंकी श्रेणी आकाशसे होनेवाली पत्थरोंकी वर्षा-सी जान पड़ती थी ॥ १३ ॥

दर्शयित्वा तथाऽऽत्मानं रौद्रं रुद्रपराक्रमः।
अवरुद्धोऽचरत् पार्थो वर्षाणि त्रिदशानि च।
क्रोधाग्निमुत्सृजन् वीरो धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवः ॥ १४ ॥

भयानक पराक्रमी कुन्तीपुत्र अर्जुन तेरह वर्षोंतक वनमें विवश होकर रुके थे। अब (उपयुक्त अवसर पाकर) वे वीर पाण्डुकुमार धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर अपनी क्रोधाग्नि बरसाते तथा अपने रौद्र रूपका दर्शन कराते हुए रणभूमिमें विचरने लगे ॥ १४ ॥

तस्य तद् दहतः सैन्यं दृष्ट्वा चैव पराक्रमम्।
सर्वे शान्तिपरा योधा धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥ १५ ॥

कौरव-योद्धाओंको दग्ध करनेवाले अर्जुनका वह पराक्रम देखकर सभी सैनिक दुर्योधनके सामने ही ठण्डे पड़ गये ॥ १५ ॥

वित्रासयित्वा तत् सैन्यं द्रावयित्वा महारथान्।
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठः पर्यवर्तत भारत ॥ १६ ॥

भारत! विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उस सेनाको भयभीत करके (सामने आये हुए) महारथियोंको भगाकर रणभूमिमें चारों ओर घूमने लगे ॥ १६ ॥

प्रावर्तयन्नदीं घोरां शोणितोदां तरङ्गिणीम्।
अस्थिशैवालसम्बाधां युगान्ते कालनिर्मिताम् ॥ १७ ॥

पार्थने उस समय वहाँ खूनकी नदी बहा दी; जो बड़ी ही भयंकर थी। उसमें जलकी जगह रक्तकी धारा बहती थी तथा रक्तकी ही तरङ्गें उठती थीं। हड्डियाँ ही उसमें सेवार बनकर छा रही थीं। जान पड़ता था, प्रलयकालमें साक्षात् कालने ही उसका निर्माण किया हो ॥ १७ ॥

शरचापप्लवां घोरां केशशैवलशाद्वलाम्।
तनुत्रोष्णीषसम्बाधां नागकूर्ममहाद्विपाम् ॥ १८ ॥

उसमें धनुष और बाण ऐसे बहते थे, मानो डोंगियाँ चल रही हों। उसका स्वरूप बड़ा भयानक लगता था। केश उसमें सेवार और घासके समान प्रतीत होते थे। उसमें वीरोंके कवच और पगड़ियाँ भरी थीं। हाथी कछुओं और बड़े-बड़े जलहस्तियोंके समान जान पड़ते थे ॥ १८ ॥

मेदोवसासृक्प्रवहां महाभयविवर्धिनीम्।
रौद्ररूपां महाभीमां श्वापदैरभिनादिताम् ॥ १९ ॥

मेदा, चर्बी तथा रुधिरको बहानेवाली वह नदी महान् भयको बढ़ानेवाली थी। उसकी स्थिति बड़ी भीषण थी। उस रौद्ररूपा नदीके तटपर (रक्तभोजी) हिंसक जन्तु कोलाहल कर रहे थे ॥ १९ ॥

तीक्ष्णशस्त्रमहाग्राहां क्रव्यादगणसेविताम्।
मुक्ताहारोर्मिकलिलां चित्रालंकारबुद्बुदाम् ॥ २० ॥

तीखे शस्त्र उसके भीतर बड़े-बड़े ग्राहोंके समान जान पड़ते थे। मांसभोजी जीव-जन्तु वहाँ निवास करते थे। मोतियोंकी मालाएँ लहरोंके समान जान पड़ती थीं। विचित्र आभूषण उसमें उठते हुए जलके बुलबुले-जैसे प्रतीत होते थे ॥ २० ॥

शरसंघमहावर्तां नागनक्रां दुरत्ययाम्।
महारथमहाद्वीपां शङ्खदुन्दुभिनिस्वनाम्।
चकार च तदा पार्थो नदीं दुस्तरशोणिताम् ॥ २१ ॥

बाणोंके समूह बड़ी-बड़ी भँवरें थे। हाथी घड़ियालों-जैसे जान पड़ते थे; अतः उसके पार जाना अत्यन्त कठिन था। बड़े-बड़े रथ उसके भीतर विशाल टापू-जैसे प्रतीत होते थे। शङ्ख और नगाड़ोंकी आवाज ही

नदीकी कलकल ध्वनि थी। इस प्रकार अर्जुनने वहाँ खूनकी दुर्लंघ्य नदी बहा दी ॥ २१ ॥

आददानस्य हि शरान् संधाय च विमुञ्चतः।
विकर्षतश्च गाण्डीवं न कश्चिद् ददृशे जनः ॥ २२ ॥

अर्जुन कब बाण हाथमें लेते, गाण्डीव धनुषपर रखते, उसकी प्रत्यञ्चा खींचते और बाण छोड़ते हैं, यह कोई भी मनुष्य नहीं देख पाता था ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि, गोहरणपर्वणि अर्जुनसंकुलयुद्धे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें अर्जुनके संकुलयुद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६२॥

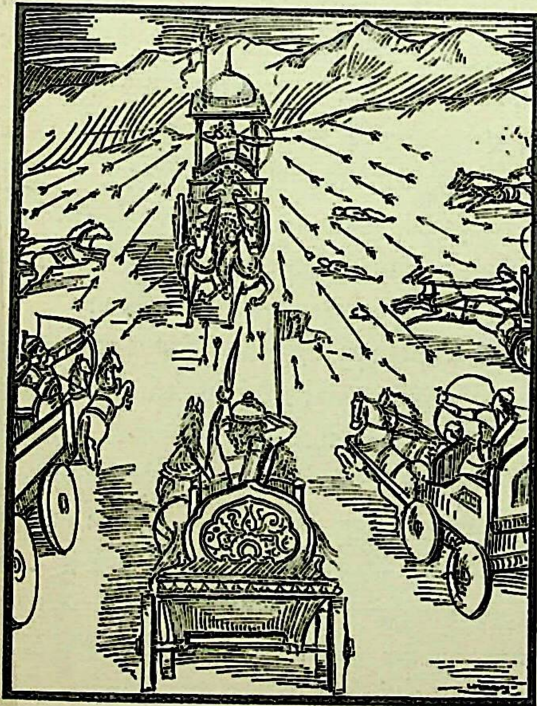
त्रिषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनपर समस्त कौरवपक्षीय महारथियोंका आक्रमण और सबका युद्धभूमिसे पीठ दिखाकर भागना

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनः कर्णो दुःशासनविविंशती।
द्रोणश्च सह पुत्रेण कृपश्चापि महारथः ॥ १ ॥
पुनर्ययुश्च संरब्धा धनंजयजिघांसवः।
विस्फारयन्तश्चापानि बलवन्ति दृढानि च ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन, विविंशति, पुत्रसहित आचार्य द्रोण और महारथी कृपाचार्य—ये सब योद्धा रोषमें भरकर धनंजयको मार डालनेकी इच्छासे अपने मजबूत और दृढ धनुषोंकी टंकार फैलाते हुए उनपर पुनः चढ़ आये ॥ १-२ ॥



तान् विकीर्णपताकेन रथेनादित्यवर्चसा।
प्रत्युद्ययौ महाराज समन्ताद् वानरध्वजः ॥ ३ ॥

महाराज ! तब वानरयुक्त ध्वजावाले अर्जुन भी सूर्यके समान तेजस्वी तथा फहराती हुई पताकासे सुशोभित रथके द्वारा सब ओरसे उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥३॥

ततः कृपश्च कर्णश्च द्रोणश्च रथिनां वरः।
तं महास्त्रैर्महावीर्यं परिवार्य धनंजयम् ॥ ४ ॥
शरौघान् सम्यगस्यन्तो जीमूता इव वार्षिकाः।
ववर्षुः शरवर्षाणि पातयन्तो धनंजयम् ॥ ५ ॥

यह देख कृपाचार्य, कर्ण तथा रथियोंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण—ये महापराक्रमी धनंजयको (चारों ओरसे) घेरकर अपने महान् धनुषोंसे उनपर राशि-राशि बाणोंका खूब जमकर प्रहार करने लगे। वे तीनों महारथी धनंजयको मार गिरानेकी इच्छासे वर्षाकालके मेघोंकी भाँति सायकोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ ४-५ ॥

इषुभिर्बहुभिस्तूर्णं समरे लोमवाहिभिः।
अदूरात् पर्यवस्थाप्य पूरयामासुरादृताः ॥ ६ ॥

उन्होंने समरभूमिमें थोड़ी ही दूरपर पार्थकी गतिको कुण्ठित करके बड़े चावसे बहुसंख्यक पंखयुक्त बाणोंकी बौछार करते हुए उन्हें तुरंत ढँक दिया ॥ ६ ॥

तथा तैरवकीर्णस्य दिव्यैरस्त्रैः समन्ततः।
न तस्य द्व्यङ्गुलमपि विवृतं सम्प्रदृश्यते ॥ ७ ॥

वे महारथी जब इस प्रकार सब ओरसे अर्जुनपर दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंकी वर्षा करने लगे, उस समय उनके शरीरका दो अङ्गुल भाग भी बाणोंसे खाली नहीं दिखायी देता था ॥ ७ ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुर्दिव्यमैन्द्रं महारथः।
अस्त्रमादित्यसंकाशं गाण्डीवे समयोजयत् ॥ ८ ॥

तब महारथी अर्जुनने हँसकर गाण्डीव धनुषपर सूर्यके समान तेजस्वी दिव्य ऐन्द्रास्त्रका संधान किया ॥ ८ ॥

शररश्मिरिवादित्यः प्रतस्थे समरे बली।
किरीटमाली कौन्तेयः सर्वान् प्राच्छादयत् कुरून् ॥९॥

फिर तो महाबली किरीटमाली कुन्तीनन्दन अर्जुन सूर्यकी भाँति बाणरूपी प्रचण्ड किरणोंको बिखेरते हुए समरभूमिमें आगे बढ़े। उन्होंने समस्त कौरव-योद्धाओंको सायकोंसे ढँक दिया ॥ ९ ॥

यथा बलाहके विद्युत् पावको वा शिलोच्चये।
तथा गाण्डीवमभवदिन्द्रायुधमिवानतम्॥ १०॥

जैसे मेघोंमें बिजली और पर्वतपर आगकी ज्वाला शोभा पाती है, उसी प्रकार अर्जुनके हाथमें गाण्डीव धनुष सुशोभित होता था। वह आकाशमें इन्द्रधनुष-सा झुका हुआ था ॥१०॥

यथा वर्षति पर्जन्ये विद्युद् विभ्राजते दिवि।
द्योतयन्ती दिशः सर्वाः पृथिवीं च समन्ततः॥ ११॥
तथा दश दिशः सर्वाः पतद्गाण्डीवमावृणोत्।
नागाश्च रथिनः सर्वे मुमुहुस्तत्र भारत॥ १२॥

जैसे मेघके वर्षा करते समय आकाशमें बिजली चमक उठती है और वह सम्पूर्ण दिशाओं तथा पृथ्वीको भी सब ओरसे प्रकाशित कर देती है, उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करते हुए गाण्डीव धनुषने दसों दिशाओंको सम्पूर्णतया आच्छादित कर दिया। जनमेजय! उस समय वहाँ हाथीसवार और रथी आदि सब सैनिक मोहित (मूर्च्छित) हो रहे थे ॥११-१२॥

सर्वे शान्तिपरा योधाः स्वचित्तानि न लेभिरे।
संग्रामे विमुखाः सर्वे योधास्ते हतचेतसः॥ १३॥

सबने शान्ति (जडता और मूकता) धारण कर ली थी। किसीका होश ठिकाने न था। सभी योद्धाओंने हतोत्साह होकर युद्धसे मुँह मोड़ लिया ॥ १३ ॥

एवं सर्वाणि सैन्यानि भग्नानि भरतर्षभ।
व्यद्रवन्त दिशः सर्वा निराशानि स्वजीविते॥ १४॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! इस प्रकार सारी सेनाका व्यूह टूट गया। सब सैनिक अपने जीवनसे निराश होकर चारों दिशाओंमें भागने लगे ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनसंकुलयुद्धे त्रिषष्टितमोऽध्यायः॥ ६३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय अर्जुनका संकुलयुद्धविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६३॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और भीष्मका अद्भुत युद्ध तथा मूर्च्छित भीष्मका सारथिद्वारा रणभूमिसे हटाया जाना

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो भरतानां पितामहः।
वध्यमानेषु योधेषु धनंजयमुपाद्रवत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भरतवंशके सुप्रसिद्ध वीर शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म अपने पक्षके योद्धाओंका संहार होता देख अर्जुनकी ओर दौड़े ॥१॥

प्रगृह्य कार्मुकश्रेष्ठं जातरूपपरिष्कृतम्।
शरानादाय तीक्ष्णाग्रान् मर्मभेदान् प्रमाथिनः॥ २॥

उन्होंने हाथमें सुवर्णभूषित श्रेष्ठ धनुष और शत्रुओंको मथ डालनेवाले तीखे एवं मर्मभेदी बाण ले रक्खे थे ॥ २ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
शुशुभे स नरव्याघ्रो गिरिः सूर्योदये यथा॥ ३॥

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे वे नरश्रेष्ठ भीष्म सूर्योदयकालमें उदयाचलकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ ३ ॥

प्रध्माय शङ्खं गाङ्गेयो धार्तराष्ट्रान् प्रहर्षयन्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य बीभत्सुं समवारयत्॥ ४॥

गङ्गानन्दन भीष्मने शङ्ख बजाकर धृतराष्ट्रपुत्रोंका हर्ष बढ़ाया और दाहिनी ओर मुड़कर अर्जुनको आगे बढ़नेसे रोका ॥ ४ ॥

तमुदीक्ष्य समायान्तं कौन्तेयः परवीरहा।
प्रत्यगृह्णात् प्रहृष्टात्मा धाराधरमिवाचलः॥ ५॥

शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले कुन्तीकुमार धनंजयने भीष्मको आते देख प्रसन्नचित्त होकर उनका सामना किया; ठीक उसी तरह, जैसे पर्वत अविचलभावसे खड़ा हो जल बरसानेवाले मेघका आघात सहन करता है ॥ ५ ॥

ततो भीष्मः शरानष्टौ ध्वजे पार्थस्य वीर्यवान्।
समार्पयन्महावेगाञ्छ्वसमानानिवोरगान्॥ ६॥

तब पराक्रमी भीष्मने पार्थकी ध्वजापर फुफकारते हुए सर्पोंके समान अत्यन्त वेगशाली आठ बाण मारे ॥ ६ ॥

ते ध्वजं पाण्डुपुत्रस्य समासाद्य पतत्रिणः।
ज्वलन्तं कपिमाजघ्नुर्ध्वजाग्रनिलयांश्च तान्॥ ७॥

उन बाणोंने पाण्डुनन्दन अर्जुनकी ध्वजाके समीप पहुँच कर वहाँ बैठे हुए तेजस्वी वानरको तथा ध्वजके अग्रभागमें निवास करनेवाले अन्य भूतोंको भी गहरी चोट पहुँचायी ॥

ततो भल्लेन महता पृथुधारेण पाण्डवः।
छत्रं चिच्छेद भीष्मस्य तूर्णं तदपतद् भुवि॥ ८॥

तब पाण्डुकुमारने मोटी धारवाले विशाल भल्लके द्वारा भीष्मका छत्र काट दिया, जिससे वह तुरंत ही पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ८ ॥

ध्वजं चैवास्य कौन्तेयः शरैरभ्यहनद् भृशम्।
शीघ्रकृद् रथवाहांश्च तथोभौ पार्ष्णिसारथी॥ ९॥

फिर कुन्तीनन्दनने शीघ्रता करते हुए उनकी ध्वजाको भी अपने बाणोंसे छेद डाला और रथके घोड़ों, पार्श्वरक्षकों तथा सारथिको भी बहुत घायल कर दिया ॥ ९ ॥

अमृष्यमाणस्तद् भीष्मो जानन्नपि स पाण्डवम् ।
दिव्येनास्त्रेण महता धनंजयमवाकिरत् ॥ १० ॥

भीष्मजी अपने सैनिकोंपर किये गये अर्जुनके उस पराक्रमको सह न सके। वे यह जानते हुए भी कि ये पाण्डुपुत्र धनंजय हैं, महान् दिव्यास्त्रद्वारा उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १० ॥

तथैव पाण्डवो भीष्मे दिव्यमस्त्रमुदीरयन् ।
प्रत्यगृह्णादमेयात्मा महामेघमिवाचलः ॥ ११ ॥

परंतु असीम आत्मबलसे सम्पन्न पाण्डुपुत्र अर्जुन जैसे पर्वत महामेघका सामना करता है, उसी प्रकार भीष्मपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते हुए उनका सामना करने लगे ॥

तयोस्तदभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
भीष्मस्य सह पार्थेन बलिवासवयोरिव ॥ १२ ॥

उन दोनोंका वह तुमुल युद्ध रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। पार्थके साथ भीष्मका वह संग्राम बलि और इन्द्रके युद्धके समान था ॥ १२ ॥

प्रैक्षन्त कुरवः सर्वे योधाश्च सहसैनिकाः ।
भल्लैर्भल्लाः समागम्य भीष्मपाण्डवयोर्युधि ।
अन्तरिक्षे व्यराजन्त खद्योताः प्रावृषीव हि ॥ १३ ॥

समस्त कौरव-योद्धा अपने सैनिकोंके साथ खड़े-खड़े तमाशा देखने लगे। रणभूमिमें भीष्म और पाण्डुकुमारके भल्ल एक-दूसरेसे टकराकर वर्षाकालके आकाशमें जुगुनुओंकी भाँति चमक उठते थे ॥ १३ ॥

अग्निचक्रमिवाविद्धं सव्यदक्षिणमस्यतः ।
गाण्डीवमभवद् राजन् पार्थस्य सृजतः शरान् ॥ १४ ॥
ततः संछादयामास भीष्मं शरशतैः शितैः ।
पर्वतं वारिधाराभिश्छादयन्निव तोयदः ॥ १५ ॥

राजन्! दाँयें-बाँयें बाण फेंकनेवाले पार्थके द्वारा घुमाया जाता हुआ गाण्डीव धनुष अलातचक्रके समान जान पड़ता था। तदनन्तर जैसे मेघ अपनी जलधाराओंसे पर्वतको भी आच्छादित कर देता है, उसी प्रकार अर्जुनने सैकड़ों पैने बाणोंसे भीष्मको ढँक दिया ॥ १४-१५ ॥

तां स वेलामिवोद्धूतां शरवृष्टिं समुत्थिताम् ।
व्यधमत् सायकैर्भीष्मः पाण्डवं समवारयत् ॥ १६ ॥

जैसे समुद्रमें ज्वार आ गया हो, उसी प्रकार वहाँ प्रकट हुई उस बाणवर्षाको भीष्मने अपने सायकोंसे छिन्न-भिन्न कर दिया और पाण्डुपुत्र अर्जुनको कुण्ठित कर दिया। १६।

ततस्तानि निकृत्तानि शरजालानि भागशः ।
समरे च व्यशीर्यन्त फाल्गुनस्य रथं प्रति ॥ १७ ॥

तदनन्तर रणभूमिमें कटकर टुकड़े-टुकड़े हुए वे बाण-समूह अर्जुनके रथपर बिखरने लगे ॥ १७ ॥

ततः कनकपुङ्खानां शरवृष्टिं समुत्थिताम् ।
पाण्डवस्य रथात् तूर्णं शलभानामिवायतिम् ।
व्यधमत् तां पुनस्तस्य भीष्मः शरशतैः शितैः ॥ १८ ॥

इसके बाद पुनः पाण्डुपुत्र अर्जुनके रथसे टिड्डियोंके दलकी भाँति तुरंत ही सोनेके पंखवाले बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ हुई; किंतु भीष्मने सैकड़ों पैने बाणोंद्वारा उसे फिर शान्त कर दिया ॥ १८ ॥

ततस्ते कुरवः सर्वे साधु साध्विति चाब्रुवन् ।
दुष्करं कृतवान् भीष्मो यदर्जुनमयोधयत् ॥ १९ ॥

उस समय समस्त कौरव साधुवाद देते हुए बोल उठे—'अहो! भीष्मजीने यह दुष्कर पराक्रम किया, जो कि अर्जुनके साथ युद्ध किया' ॥ १९ ॥

बलवांस्तरुणो दक्षः क्षिप्रकारी धनंजयः ।
कोऽन्यः समर्थः पार्थस्य वेगं धारयितुं रणे ॥ २० ॥
ऋते शान्तनवाद् भीष्मात् कृष्णाद् वा देवकीसुतात् ।
आचार्यप्रवराद् वापि भारद्वाजान्महाबलात् ॥ २१ ॥

अर्जुन बलवान्, तरुण, कुशल और शीघ्रतापूर्वक बाण चलानेवाले हैं। शान्तनुनन्दन भीष्म, देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अथवा आचार्यप्रवर महाबली भरद्वाजनन्दन द्रोणके सिवा दूसरा कौन ऐसा है, जो संग्राममें पार्थका वेग रोक सके ? ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य क्रीडन्तौ भरतर्षभौ ।
चक्षूंषि सर्वभूतानां मोहयन्तौ महाबलौ ॥ २२ ॥

वे दोनों भरतकुलशिरोमणि महाबली वीर समस्त प्राणियोंके नेत्रोंमें मोह एवं आश्चर्य उत्पन्न करते हुए अस्त्रोंद्वारा एक-दूसरेके अस्त्रोंका निवारण करके खेल-सा कर रहे थे ॥ २२ ॥

प्राजापत्यं तथैवैन्द्रमाग्नेयं रौद्रदारुणम् ।
कौबेरं वारुणं चैव याम्यं वायव्यमेव च ।
प्रयुञ्जानौ महात्मानौ समरे तौ विचेरतुः ॥ २३ ॥

प्राजापत्य, ऐन्द्र, आग्नेय, भयंकर रौद्र, कौबेर, वारुण, याम्य तथा वायव्य अस्त्रोंका प्रयोग करते हुए वे दोनों महापुरुष समरभूमिमें विचर रहे थे ॥ २३ ॥

विस्मितान्यथ भूतानि तौ दृष्ट्वा संयुगे तदा ।
साधु पार्थ महाबाहो साधु भीष्मेति चाब्रुवन् ॥ २४ ॥

उस समय युद्धमें उन दोनोंकी ओर देखकर सब प्राणी आश्चर्यचकित हो बोल उठते थे—'महाबाहु पार्थ! साधुवाद, महाबाहु भीष्म! साधुवाद ॥ २४ ॥

नायं युक्तो मनुष्येषु योऽयं संदृश्यते महान् ।
महास्त्राणां सम्प्रयोगः समरे भीष्मपार्थयोः ॥ २५ ॥

'भीष्म और पार्थके युद्धमें जो यह बड़े-बड़े दिव्यास्त्रोंका

महान् प्रयोग देखा जा रहा है; यह मनुष्योंमें अन्यत्र कहीं सम्भव नहीं है' ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सर्वास्त्रविदुषोरस्त्रयुद्धमवर्तत ।
अस्त्रयुद्धे तु निर्वृत्ते शरयुद्धमवर्तत ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता भीष्म और अर्जुनमें कुछ कालतक दिव्यास्त्रोंका युद्ध चलता रहा । उसके समाप्त हो जानेपर पुनः बाणयुद्ध प्रारम्भ हुआ ॥ २६ ॥

अथ जिष्णुरुपावृत्य क्षुरधारेण कार्मुकम् ।
चकर्त भीष्मस्य तदा जातरूपपरिष्कृतम् ॥ २७ ॥

तदनन्तर विजयशील अर्जुनने निकट आकर छुरेके समान धारवाले एक बाणसे भीष्मके सुवर्णभूषित धनुषको काट डाला ॥ २७ ॥

निमेषान्तरमात्रेण भीष्मोऽन्यत् कार्मुकं रणे ।
समादाय महाबाहुः सज्यं चक्रे महारथः ।
शरांश्च सुबहून् क्रुद्धो मुमोचाशु धनंजये ॥ २८ ॥

किंतु विशाल भुजाओंवाले महारथी भीष्मने पलक मारते-मारते उस युद्धमें दूसरा धनुष ले उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और क्रोधमें भरकर धनंजयपर बहुत-से बाणोंका प्रहार किया ॥ २८ ॥

अर्जुनोऽपि शरांस्तीक्ष्णान् भीष्माय निशितान् बहून् ।
चिक्षेप सुमहातेजास्तथा भीष्मश्च पाण्डवे ॥ २९ ॥

तब महातेजस्वी अर्जुनने भी भीष्मपर बहुत-से पैने बाण फेंके और भीष्मने भी पाण्डुपुत्रको अनेक तीखे बाण मारे ।२९।

तयोर्दिव्यास्त्रविदुषोरस्यतोर्निशिताञ्छरान् ।
न विशेषस्तदा राजँल्लक्ष्यते स्म महात्मनोः॥ ३० ॥

राजन् ! वे दोनों महात्मा दिव्यास्त्रोंके पण्डित थे और एक दूसरेपर पैने बाण फेंक रहे थे । उस समय उन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ ३० ॥

अथावृणोद् दश दिशः शरैरतिरथस्तदा ।
किरीटमाली कौन्तेयः शूरः शान्तनवस्तथा ॥ ३१ ॥

किरीटमाली कुन्तीकुमार अर्जुन और शान्तनुनन्दन भीष्म दोनों ही अतिरथी वीर थे । उन्होंने अपने बाणोंसे दसों दिशाओंको आच्छादित कर दिया ॥ ३१ ॥

अतीव पाण्डवो भीष्मं भीष्मश्चातीव पाण्डवम् ।
बभूव तस्मिन् संग्रामे राजँल्लोके तदद्भुतम् ॥ ३२ ॥

राजा जनमेजय ! उस युद्धमें कभी पाण्डुपुत्र अर्जुन भीष्मसे बढ़ जाते थे, तो कभी भीष्म ही अर्जुनको लाँघ जाते थे । जगत्में यह एक अद्भुत बात थी ॥३२॥

पाण्डवेन हताः शूरा भीष्मस्य रथरक्षिणः ।
शेरते स्म तदा राजन् कौन्तेयस्याभितो रथम्॥ ३३ ॥

राजन् ! भीष्मके रथकी रक्षा करनेवाले शूरवीर सैनिक अर्जुनके द्वारा मारे जाकर उनके रथके दोनों ओर पड़े थे ॥ ३३ ॥

ततो गाण्डीवनिर्मुक्ता निरमित्रं चिकीर्षवः ।
आगच्छन् पुङ्खसंश्लिष्टाः श्वेतवाहनपत्रिणः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर श्वेतवाहन अर्जुनके पंखधारी बाण गाण्डीव धनुषसे छूटकर संसारको शत्रुरहित करनेकी इच्छासे सब ओर आने लगे ॥ ३४ ॥

निष्पतन्तो रथात् तस्य धौता हैरण्यवाससः ।
आकाशे समदृश्यन्त हंसानामिव पङ्क्तयः ॥ ३५ ॥

उनके रथसे निकलते हुए सुनहरे पंखवाले श्वेत बाण आकाशमें हंसोंकी पंक्तिसे दिखायी देते थे ॥ ३५ ॥

तस्य तद् दिव्यमस्त्रं हि विगाढं चित्रमस्यतः।
प्रेक्षन्ते स्मान्तरिक्षस्थाः सर्वे देवाः सवासवाः ॥ ३६ ॥

अर्जुन विचित्र ढंगसे मर्मभेदी दिव्यास्त्रोंका प्रयोग कर रहे थे और आकाशमें खड़े हुए इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता उनका वह अस्त्रकौशल देख रहे थे ॥ ३६ ॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीतो गन्धर्वश्चित्रमद्भुतम् ।
शशंस देवराजाय चित्रसेनः प्रतापवान् ॥ ३७ ॥

उस समय प्रतापी चित्रसेन गन्धर्वने अर्जुनकी ओर देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो देवराज इन्द्रसे उनके विचित्र एवं अद्भुत रणकौशलकी प्रशंसा करते हुए कहा—॥ ३७ ॥

पश्येमान् पार्थनिर्मुक्तान् संसक्तानिव गच्छतः ।
चित्ररूपमिदं जिष्णोर्दिव्यमस्त्रमुदीर्यतः ॥ ३८ ॥

'प्रभो ! देखिये, ये पार्थके छोड़े हुए बाण परस्पर सटे हुए-से जा रहे हैं । दिव्यास्त्र प्रकट करनेवाले अर्जुनकी यह अस्त्र-संचालनकला विचित्र एवं अद्भुत है ॥ ३८ ॥

नेदं मनुष्याः संदध्युर्न हीदं तेषु विद्यते ।
पौराणानां महास्त्राणां विचित्रोऽयं समागमः ॥ ३९ ॥

'दूसरे मनुष्य इस दिव्यास्त्रका संधान नहीं कर सकते; क्योंकि यह अस्त्र दूसरे मनुष्योंके पास है ही नहीं । यहाँ प्राचीनकालके बड़े-बड़े अस्त्रोंका यह अद्भुत समागम हुआ है ॥ ३९ ॥

आददानस्य हि शरान् संधाय च विमुञ्चतः ।
विकर्षतश्च गाण्डीवं नान्तरं समदृश्यत ॥ ४० ॥

'अर्जुन कब बाण निकालते हैं, कब चढ़ाते हैं, कब छोड़ते हैं और कब गाण्डीव धनुषको खींचते हैं तथा इन क्रियाओंमें कितना अन्तर पड़ता है; यह सब किसीको दिखायी ही नहीं देता था ॥ ४० ॥

मध्यंदिनगतं सूर्यं प्रतपन्तमिवाम्बरे ।
नाशक्नुवन्त सैन्यानि पाण्डवं प्रति वीक्षितुम् ॥४१॥

'आकाशमें दोपहरके समय प्रचण्ड किरणोंसे तपते हुए सूर्यकी ओर जैसे कोई देख नहीं सकता, उसी प्रकार प्रतापी पाण्डुपुत्रकी ओर कौरव-सैनिक आँख उठाकर देखनेमें भी असमर्थ हो गये हैं ॥ ४१ ॥

तथैव भीष्मं गाङ्गेयं द्रष्टुं नोत्सहते जनः ॥ ४२ ॥

'इसी प्रकार गङ्गानन्दन भीष्मकी ओर भी कोई मनुष्य देखनेका साहस नहीं करता है ॥ ४२ ॥

उभौ विश्रुतकर्माणावुभौ तीव्रपराक्रमौ ।
उभौ सदृशकर्माणावुभौ युधि सुदुर्जयौ ॥ ४३ ॥

'दोनों वीर अपने अद्भुत कार्योंके लिये संसारमें प्रसिद्ध हैं। दोनोंके पराक्रम उग्र हैं। दोनों एक-सा पराक्रम दिखानेवाले तथा युद्धमें अत्यन्त दुर्जय हैं' ॥ ४३ ॥

इत्युक्तो देवराजस्तु पार्थभीष्मसमागमम् ।
पूजयामास दिव्येन पुष्पवर्षेण भारत ॥ ४४ ॥

जनमेजय ! चित्रसेनके ऐसा कहनेपर देवराज इन्द्रने दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करके अर्जुन और भीष्मके इस अद्भुत संग्रामके प्रति आदर प्रकट किया ॥ ४४ ॥

ततः शान्तनवो भीष्मो वामं पार्श्वमताडयत् ।
पश्यतः प्रतिसंधाय विध्यतः सव्यसाचिनः ॥ ४५ ॥

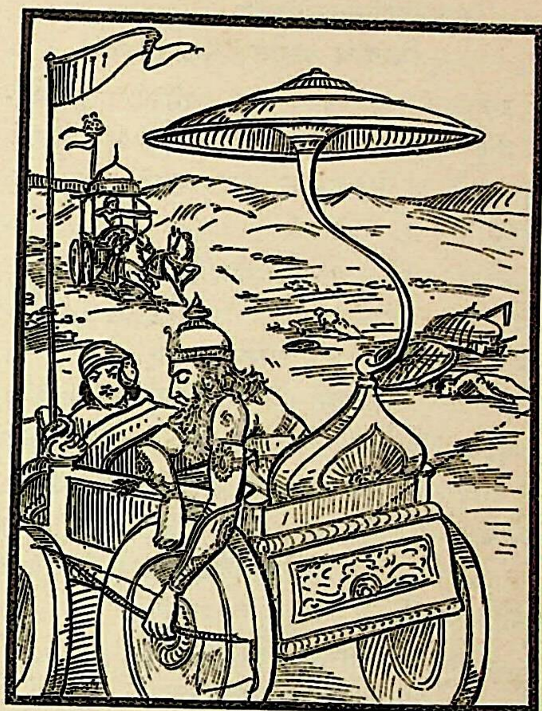
तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्मने (कौरवसेनाको) घायल करनेवाले सव्यसाची अर्जुनके देखते-देखते बाणसंधान करके उनका बायाँ पार्श्व बींध डाला ॥ ४५ ॥

ततः प्रहस्य बीभत्सुः पृथुधारेण कार्मुकम् ।
चिच्छेद गार्ध्रपत्रेण भीष्मस्यादित्यतेजसः ॥ ४६ ॥

तब अर्जुनने भी हँसकर मोटी धार एवं गीधकी पाँखवाले बाणसे सूर्यके समान तेजस्वी भीष्मका धनुष फिर काट दिया ॥ ४६ ॥

अथैनं दशभिर्बाणैः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ।
यतमानं पराक्रान्तं कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ ४७ ॥

तत्पश्चात् कुन्तीपुत्र धनंजयने विजयके लिये प्रयत्नशील पराक्रमी भीष्मकी छातीमें दस बाण मारकर गहरी चोट पहुँचायी ॥ ४७ ॥



स पीडितो महाबाहुर्गृहीत्वा रथकूबरम् ।
गाङ्गेयो युद्धदुर्धर्षस्तस्थौ दीर्घमिवान्तरम् ॥ ४८ ॥

उससे पीड़ित हो रणदुर्धर्ष वीर महाबाहु भीष्म रथका कूबर पकड़कर बहुत देरतक निश्चेष्ट बैठे रह गये ॥ ४८ ॥

तं विसंज्ञमपोवाह संयन्ता रथवाजिनाम् ।
उपदेशमनुस्मृत्य रक्षमाणो महारथम् ॥ ४९ ॥

वे बेहोश थे । 'ऐसी दशामें सारथिको रथीकी रक्षा करनी चाहिये' इस उपदेशका स्मरण करके महारथी भीष्मकी प्राणरक्षाके उद्देश्यसे उनके रथ और घोड़ोंको काबूमें रखनेवाला सारथि उन्हें संग्रामभूमिसे दूर हटा ले गया ।४९।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि भीष्मापयाने चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें भीष्मके रणभूमिसे हटाये जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और दुर्योधनका युद्ध, विकर्ण आदि योद्धाओंसहित दुर्योधनका युद्धके मैदानसे भागना

वैशम्पायन उवाच

भीष्मे तु संग्रामशिरो विहाय
पलायमाने धृतराष्ट्रपुत्रः ।
उत्सृज्य केतुं विनदन् महात्मा
धनुर्विगृह्यार्जुनमाससाद ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब भीष्मजी युद्धका मुहाना छोड़कर दूर हट गये, तब धृतराष्ट्रपुत्र महामना दुर्योधन अपने रथकी पताका फहराकर हाथमें धनुष ले सिंहनाद करता हुआ अर्जुनपर चढ़ आया ॥ १ ॥

स भीमधन्वानमुदग्रवीर्यं
धनंजयं शत्रुगणे चरन्तम् ।
आकर्णपूर्णायतचोदितेन
विव्याध भल्लेन ललाटमध्ये ॥ २ ॥

उस समय भयंकर धनुष धारण करनेवाले प्रचण्ड पराक्रमी धनंजय शत्रुसेनामें विचर रहे थे। दुर्योधनने धनुषको कानतक खींचकर छोड़े हुए भल्लनामक बाणसे उनके ललाटमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २ ॥

स तेन बाणेन समर्पितेन
जाम्बूनदाग्रेण सुसंहितेन ।
रराज राजन् महनीयकर्मा
यथैकपर्वा रुचिरैकशृङ्गः ॥ ३ ॥

वह बाण अर्जुनके ललाटमें धँस गया। राजन्! प्रशंसनय पराक्रमवाले अर्जुन सुनहरी धारवाले उस धँसे हुए बाणके द्वारा उसी प्रकार सुशोभित हुए, जैसे एक सुन्दर शिखरवाला पर्वत अपने ऊपर उगे हुए एक ही बाँसके पेड़से शोभा पा रहा हो ॥ ३ ॥

अथास्य बाणेन विदारितस्य
प्रादुर्बभूवासृगजस्रमुष्णम् ।
स तस्य जाम्बूनदपुङ्खचित्रो
भित्त्वा ललाटं सुविराजते स्म ॥ ४ ॥

दुर्योधनके उस बाणसे अर्जुनका ललाट विदीर्ण हो गया और उससे गरम-गरम रक्तकी अविच्छिन्न धारा बहने लगी। जाम्बूनद सुवर्णकी पाँखवाला वह विचित्र बाण पार्थका ललाट छेदकर बड़ी शोभा पा रहा था ॥ ४ ॥

दुर्योधनश्चापि तमुग्रतेजाः
पार्थश्च दुर्योधनमेकवीरः ।
अन्योन्यमाजौ पुरुषप्रवीरौ
समौ समाजग्मतुराजमीढौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर उग्रतेजस्वी अद्वितीय वीर अर्जुनने दुर्योधनपर और दुर्योधनने अर्जुनपर आक्रमण किया। अजमीढवंशके वे दोनों प्रमुख वीर पुरुष एक समान पराक्रमी थे। उन्होंने संग्राममें एक-दूसरेपर बड़े वेगसे धावा किया ॥ ५ ॥

ततः प्रभिन्नेन महागजेन
महीधराभेन पुनर्विकर्णः ।
रथैश्चतुर्भिर्गजपादरक्षैः
कुन्तीसुतं जिष्णुमथाभ्यधावत् ॥ ६ ॥

उसी समय एक पर्वताकार विशाल गजराजपर, जिसके मस्तकसे मद टपक रहा था, चढ़कर विकर्ण पुनः विजयशाली कुन्तीनन्दन अर्जुनपर चढ़ आया। उसके साथ चार रथारोही योद्धा भी थे, जो हाथीके चारों पैरोंकी रक्षा करते थे ॥ ६ ॥

तमापतन्तं त्वरितं गजेन्द्रं
धनंजयः कुम्भविभागमध्ये ।
आकर्णपूर्णेन महायसेन
बाणेन विव्याध महाजवेन ॥ ७ ॥

गजराजको तीव्र गतिसे अपनी ओर आते देख धनंजयने धनुषको कानतक खींचकर चलाये हुए लोहेके अत्यन्त वेगशाली बाणद्वारा उसके कुम्भस्थलको बींध डाला ॥ ७ ॥

पार्थेन सृष्टः स तु गार्ध्रपत्र
आपुङ्खदेशात् प्रविवेश नागम् ।
विदार्य शैलप्रवरं प्रकाशं
यथाशनिः पर्वतमिन्द्रसृष्टः ॥ ८ ॥

पार्थका छोड़ा हुआ वह गीध पक्षीके परोंवाला बाण उस हाथीके मस्तकमें पंखसहित घुस गया; मानो इन्द्रका चलाया हुआ वज्र किसी प्रकाशपूर्ण गिरिराजको विदीर्ण करके उसके भीतर समा गया हो ॥ ८ ॥

शरप्रतप्तः स तु नागराजः
प्रवेपिताङ्गो व्यथितान्तरात्मा ।
संसीदमानो निपपात मह्यां
वज्राहतं शृङ्गमिवाचलस्य ॥ ९ ॥

वह गजराज अर्जुनके बाणसे संतप्त हो उठा। उसकी अन्तरात्मा व्यथित हो गयी और सारा शरीर काँपने लगा। जैसे वज्रका मारा हुआ पर्वतशिखर ढह जाता है, उसी प्रकार वह नागराज शिथिल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ९ ॥

निपातिते दन्तिवरे पृथिव्यां
त्रासाद् विकर्णः सहसावतीर्य ।
तूर्णं पदान्यष्टशतानि गत्वा
विविंशतेः स्यन्दनमारुरोह ॥ १० ॥

उस विशाल हाथीके धराशायी हो जानेपर विकर्ण बहुत डर गया और सहसा कूदकर शीघ्रतापूर्वक भाग गया और आठ सौ पग चलकर विविंशतिके रथपर चढ़ गया ॥ १० ॥

निहत्य नागं तु शरेण तेन
वज्रोपमेनाद्रिवराम्बुदाभम् ।
तथाविधेनैव शरेण पार्थो
दुर्योधनं वक्षसि निर्बिभेद ॥ ११ ॥

उस वज्रसदृश बाणद्वारा पर्वत तथा मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होनेवाले गजराजको मारकर पार्थने वैसे ही दूसरे बाणसे दुर्योधनकी छाती छेद डाली ॥ ११ ॥

ततो गजे राजनि चैव भिन्ने
भग्ने विकर्णे च सपादरक्षे ।
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैः प्रणुन्ना-
स्ते योधमुख्याः सहसापजग्मुः ॥ १२ ॥

इस प्रकार गजराज और कुरुराज दोनोंके घायल होने तथा गजराजके पादरक्षकोंसहित विकर्णके भाग जानेपर गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए सायकोंकी मार खाकर पीड़ित हुए समस्त मुख्य-मुख्य योद्धा सहसा मैदान छोड़कर भाग गये ॥१२॥

दृष्ट्वैव पार्थेन हतं च नागं
योधांश्च सर्वान् द्रवतो निशम्य ।
रथं समावृत्य कुरुप्रवीरो
रणात् प्रदुद्राव यतो न पार्थः ॥ १३ ॥

अर्जुनके हाथसे गजराज मारा गया और सम्पूर्ण योद्धा भी रणभूमि छोड़कर भाग रहे हैं, यह देखकर कुरुवंशका प्रमुख वीर दुर्योधन भी, जिस ओर अर्जुन नहीं थे, उसी दिशामें रथ घुमाकर भागा ॥ १३ ॥

तं भीमरूपं त्वरितं द्रवन्तं
दुर्योधनं शत्रुसहोऽभिषङ्गात् ।
प्रास्फोटयद् योद्धुमनाः किरीटी
बाणेन विद्धं रुधिरं वमन्तम् ॥ १४ ॥

उस समय दुर्योधनका रूप भयंकर हो रहा था। वह हार खाकर बाणसे घायल हो रक्त वमन करता हुआ भागा जा रहा था। यह देखकर शत्रुका वेग सहन करनेवाले किरीटधारी अर्जुनने ताल ठोंकी और मनमें युद्धके लिये उत्साह रखते हुए वे शत्रुको ललकारने लगे ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

विहाय कीर्तिं विपुलं यशश्च
युद्धात् परावृत्य पलायसे किम् ।
न तेऽद्य तूर्याणि समाहतानि
तथैव राज्यादवरोपितस्य ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरस्यास्मि निदेशकारी
पार्थस्तृतीयो युधि संस्थितोऽस्मि ।
तदर्थमावृत्य मुखं प्रयच्छ
नरेन्द्रवृत्तं स्मर धार्तराष्ट्र ॥ १६ ॥

अर्जुन बोले—धृतराष्ट्रके पुत्र ! तू युद्धसे पीठ दिखाकर क्यों भागा जा रहा है ? अरे ! ऐसा करके तू अपनी कीर्ति और विशाल यशसे हाथ धो बैठा है। आज तेरे विजयके बाजे पहले-जैसे नहीं बज रहे हैं। तूने जिन्हें राज्यसे उतार दिया है, उन्हीं महाराज युधिष्ठिरका आज्ञाकारी मैं तीसरा पाण्डव युद्धके लिये खड़ा हूँ। अतः तू मेरा सामना करनेके लिये लौटकर अपना मुँह तो दिखा। राजाका आचार-व्यवहार कैसा होना चाहिये, इसकी याद तो कर ले ॥ १५-१६ ॥

मोघं तवेदं भुवि नामधेयं
दुर्योधनेतीह कृतं पुरस्तात् ।
न हीह दुर्योधनता तवास्ति
पलायमानस्य रणं विहाय ॥ १७ ॥

व्यर्थ ही इस पृथ्वीपर तेरा नाम दुर्योधन रक्खा गया। तू तो युद्ध छोड़कर भागा जा रहा है; अतः यहाँ तुझमें दुर्योधन नामके अनुरूप कोई गुण नहीं है ॥ १७ ॥

न ते पुरस्तादथ पृष्ठतो वा
पश्यामि दुर्योधन रक्षितारम् ।
अपेहि युद्धात् पुरुषप्रवीर
प्राणान् प्रियान् पाण्डवतोऽद्य रक्ष ॥ १८ ॥

दुर्योधन ! अच्छा, तेरे आगे या पीछे कोई रक्षक नहीं दिखायी देता। अतः वीर पुरुष ! तू युद्धसे भाग जा और पाण्डुपुत्र अर्जुनके हाथसे आज अपने प्यारे प्राणोंकी रक्षा कर ले ॥१८॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दुर्योधनापयाने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दुर्योधनका युद्धसे पलायनविषयक पैंसठवां अध्याय पूरा हुआ ।६५।

षट्षष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा समस्त कौरवदलकी पराजय तथा कौरवोंका स्वदेशको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

आहूयमानश्च स तेन संख्ये
महात्मना वै धृतराष्ट्रपुत्रः ।
निवर्तितस्तस्य गिराङ्कुशेन
महागजो मत्त इवाङ्कुशेन ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा अर्जुनने जब इस प्रकार युद्धके लिये ललकारा, तब धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन अङ्कुशकी चोट खाये हुए मतवाले गजराजकी भाँति उनके कटुवचनरूपी अङ्कुशसे पीड़ित हो पुनः लौट पड़ा ॥ १ ॥

सोऽमृष्यमाणो वचसाभिमृष्टो
महारथेनातिरथस्तरस्वी ।
पर्याववर्ताथ रथेन वीरो
भोगी यथा पादतलाभिमृष्टः ॥ २ ॥

महारथी कुन्तीकुमारने अपने वचनोंद्वारा उसका तिरस्कार किया था; अतः वह वेगशाली अतिरथी वीर इस

अपमानको न सह सका, अतएव जैसे पैरोंसे कुचला हुआ सर्प बदला लेनेके लिये लौट पड़ता है, उसी प्रकार दुर्योधन अपने रथके साथ लौट आया ॥ २ ॥

तं प्रेक्ष्य कर्णः परिवर्तमानं
निवर्त्य संस्तभ्य च विद्धगात्रम् ।
दुर्योधनस्योत्तरतोऽभ्यगच्छत्
पार्थं नृवीरो युधि हेममाली ॥ ३ ॥

उसको लौटते देख कर्ण भी अपने घायल शरीरको किसी प्रकार सँभालकर लौट पड़ा और दुर्योधनके उत्तर (वाम) भागमें रहकर युद्धभूमिमें पार्थका सामना करनेके लिये चला। नरवीर कर्ण सोनेकी मालासे अलंकृत था ॥ ३ ॥

भीष्मस्ततः शान्तनवो विवृत्य
हिरण्यकक्षस्त्वरयाभिषङ्गी ।
दुर्योधनं पश्चिमतोऽभ्यरक्षत्
पार्थान्महाबाहुरधिज्यधन्वा ॥ ४ ॥

तदनन्तर सुनहरे रंगकी चादर ओढ़े शान्तनुनन्दन भीष्म भी बड़े वेगसे रथ घुमाकर वहाँ आ पहुँचे। वे शत्रुको पराजित करनेमें समर्थ थे। महाबाहु भीष्म धनुषकी प्रत्यञ्चा चढ़ाकर पश्चिम या पीछेकी ओरसे पार्थके आक्रमणोंसे दुर्योधनकी रक्षा करने लगे ॥ ४ ॥

द्रोणः कृपश्चैव विविंशतिश्च
दुःशासनश्चैव विवृत्य शीघ्रम् ।
सर्वे पुरस्ताद् विततोरुचापा
दुर्योधनार्थं त्वरिताऽभ्युपेयुः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् द्रोण, कृपाचार्य, विविंशति और दुःशासन भी शीघ्र ही घूमकर आ गये। वे सब अपने विशाल धनुषको ताने हुए पूर्व या सामनेकी ओरसे दुर्योधनकी रक्षाके लिये बड़ी उतावलीके साथ आये थे ॥ ५ ॥

स तान्यनीकानि निवर्तमाना-
न्यालोक्य पूर्णौघनिभानि पार्थः ।
हंसो यथा मेघमिवापतन्तं
धनंजयः प्रत्यतपत् तरस्वी ॥ ६ ॥

जैसे सूर्य गिरती हुई मेघोंकी घटाको अपनी किरणोंसे तपाता है, उसी प्रकार वेगशाली कुन्तीपुत्र धनंजयने भारी जलप्रवाहके समान लौटती हुई उन कौरवसेनाओंको देखकर उन्हें संताप देना आरम्भ किया ॥ ६ ॥

ते सर्वतः सम्परिवार्य पार्थ-
मस्त्राणि दिव्यानि समाददानाः ।
ववर्षुरभ्येत्य शरैः समन्ता-
न्मेघा यथा भूधरमम्बुवर्गैः ॥ ७ ॥

दिव्य अस्त्र धारण किये हुए उन योद्धाओंने अर्जुनको चारों ओरसे घेर लिया और जैसे बादल पहाड़के ऊपर सब ओरसे पानी बरसाते हैं, उसी प्रकार वे निकट आकर उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ७ ॥

ततोऽस्त्रमस्त्रेण निवार्य तेषां
गाण्डीवधन्वा कुरुपुङ्गवानाम् ।
सम्मोहनं शत्रुसहोऽन्यदस्त्रं
प्रादुश्चकारैन्द्रिरपारणीयम् ॥ ८ ॥

तब शत्रुओंका वेग सहन करनेवाले इन्द्रपुत्र गाण्डीवधारी अर्जुनने अपने अस्त्रसे कौरवदलके उन श्रेष्ठ वीरोंके अस्त्रोंका निवारण करके सम्मोहन नामक दूसरा अस्त्र प्रकट किया, जिसका निवारण करना किसीके लिये भी असम्भव था॥

ततो दिशश्चानुदिशो विवृत्य
शरैः सुधारैर्निशितैः सुपत्रैः ।
गाण्डीवघोषेण मनांसि तेषां
महाबलः प्रव्यथयाञ्चकार ॥ ९ ॥

फिर तो उन महाबलीने सुन्दर पंख और पैनी धारवाले बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओं और दिक्कोणोंको आच्छादित करके गाण्डीव धनुषकी (भयंकर) टंकारसे कौरवयोद्धाओंके हृदयमें बड़ी व्यथा उत्पन्न कर दी ॥ ९ ॥

ततः पुनर्भीमरवं प्रगृह्य
दोर्भ्यां महाशङ्खमुदारघोषम् ।
व्यनादयत् स प्रदिशो दिशः खं
भुवं च पार्थो द्विषतां निहन्ता ॥ १० ॥

तत्पश्चात् शत्रुहन्ता कुन्तीकुमारने भयंकर शब्द करनेवाले अपने महाशङ्खको, जिसकी आवाज बहुत दूरतक सुनायी पड़ती थी, दोनों हाथोंसे थामकर बजाया। उसकी ध्वनि सम्पूर्ण दिशाओं-विदिशाओं, आकाश तथा पृथ्वीमें सब ओर गूँज उठी ॥ १० ॥

ते शङ्खनादेन कुरुप्रवीराः
सम्मोहिताः पार्थसमीरितेन ।
उत्सृज्य चापानि दुरासदानि
सर्वे तदा शान्तिपरा बभूवुः ॥ ११ ॥

अर्जुनके बजाये हुए उस शङ्खकी आवाजसे वे समस्त कौरव वीर मोहित (मूर्च्छित) हो गये और अपने दुर्जय धनुषोंको त्यागकर सबके सब गहरी शान्ति (बेहोशी) में डूब गये ॥ ११ ॥

तथा विसंज्ञेषु च तेषु पार्थः
स्मृत्वा च वाक्यानि तथोत्तरायाः ।
निर्याहि मध्यादिति मत्स्यपुत्र-
मुवाच यावत् कुरवो विसंज्ञाः ॥ १२ ॥

आचार्यशारद्वतयोः सुशुक्ले
कर्णस्य पीतं रुचिरं च वस्त्रम् ।
द्रौणेश्च राज्ञश्च तथैव नीले
वस्त्रे समादत्स्व नरप्रवीर ॥ १३ ॥

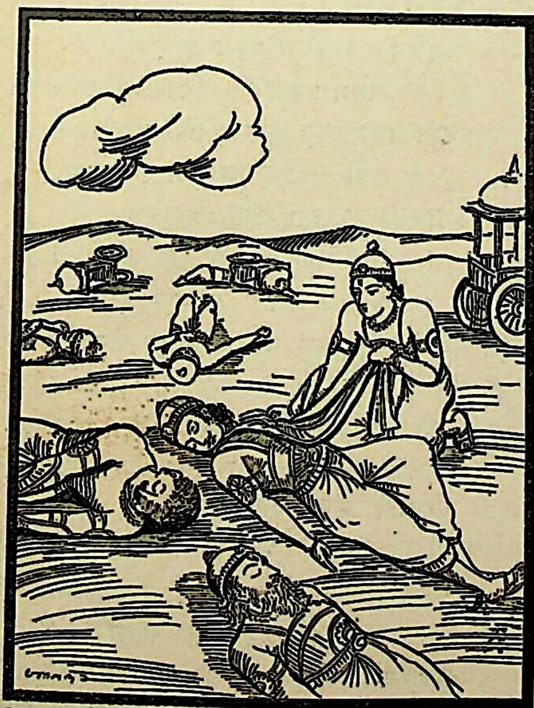
उन कौरव महारथियोंके अचेत हो जानेपर अर्जुनको उत्तराकी कही हुई बातें स्मरण हो आयीं और उन्होंने मत्स्य-नरेशके पुत्र उत्तरसे कहा—'नरवीर ! ये कौरव अभी बेहोश पड़े हुए हैं। ये जबतक होशमें आवें, उसके पहले ही सेनाके बीचसे निकल जाओ। आचार्य द्रोण और कृपाचार्यके शरीरपर जो श्वेत वस्त्र सुशोभित हैं, कर्णके अङ्गोंपर जो सुन्दर पीले रंगका वस्त्र है, अश्वत्थामा तथा राजा दुर्योधनके शरीर-पर जो नीले रंगके कपड़े हैं, उन सबको उतार लो ॥ १२-१३ ॥

भीष्मस्य संज्ञां तु तथैव मन्ये
जानाति सोऽस्त्रप्रतिघातमेषः।
एतस्य वाहान् कुरु सव्यतस्त्व-
मेवं हि यातव्यममूढसंज्ञैः ॥ १४ ॥

'मैं समझता हूँ, पितामह भीष्मको होश बना हुआ है; क्योंकि वे इस सम्मोहन अस्त्रको निवारण करनेकी विधि जानते हैं। उनके घोड़ोंको बाँयीं ओर छोड़कर जाना; क्योंकि जिनकी चेतना लुप्त नहीं हुई है, ऐसे वीरोंके निकटसे जाना हो, तो इसी प्रकार जाना चाहिये' ॥ १४ ॥

रश्मीन् समुत्सृज्य ततो महात्मा
रथादवप्लुत्य विराटपुत्रः।
वस्त्राण्युपादाय महारथानां
तूर्णं पुनः स्वं रथमारुरोह ॥ १५ ॥

तब महामना विराटपुत्र घोड़ोंकी रास छोड़कर रथसे कूद पड़ा और उन महारथियोंके कपड़े लेकर फिर शीघ्र ही अपने रथपर चढ़ आया ॥ १५ ॥



ततोऽन्वशासच्चतुरः सदश्वान्
पुत्रो विराटस्य हिरण्यकक्षान्।
ते तद् व्यतीयुर्ध्वजिनामनीकं
श्वेता वहन्तोऽर्जुनमाजिमध्यात् ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् विराटकुमारने सोनेके साज-सामानसे सुशोभित उन चारों सुन्दर घोड़ोंको हाँक दिया। वे श्वेत घोड़े अर्जुनको रथमें लिये हुए रणभूमिके मध्यभागसे निकले और रथारोहियोंकी ध्वजायुक्त सेनाका घेरा पार करके बाहर पहुँच गये ॥ १६ ॥

तथानुयान्तं पुरुषप्रवीरं
भीष्मः शरैरभ्यहनत् तरस्वी।
स चापि भीष्मस्य हयान् निहत्य
विव्याध पार्थो दशभिः पृषत्कैः ॥ १७ ॥

मनुष्योंमें प्रधान वीर अर्जुनको इस प्रकार जाते देख वेगशाली भीष्मने बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया। तब अर्जुनने भी भीष्मके घोड़ोंको मारकर दस बाणोंसे उन्हें भी घायल कर दिया ॥ १७ ॥

ततोऽर्जुनो भीष्ममपास्य युद्धे
विद्ध्वास्य यन्तारमरिष्टधन्वा।
तस्थौ विमुक्तो रथवृन्दमध्या-
न्मेघं विदार्येव सहस्ररश्मिः ॥ १८ ॥

दुर्भेद्य धनुषवाले अर्जुन भीष्मको युद्धभूमिमें छोड़कर और उनके सारथिको बाणोंसे बींधकर रथोंके घेरेसे बाहर जा खड़े हुए। उस समय वे बादलोंको छिन्न-भिन्न करके प्रकाशित होनेवाले सूर्यदेवकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ १८ ॥

लब्ध्वा हि संज्ञां तु कुरुप्रवीराः
पार्थं निरीक्ष्याथ सुरेन्द्रकल्पम्।
रणे विमुक्तं स्थितमेकमाजौ
स धार्तराष्ट्रस्त्वरितं बभाषे ॥ १९ ॥

थोड़ी देर बाद होशमें आकर कौरववीरोंने देखा, देव-राज इन्द्रके समान पराक्रमी कुन्तीपुत्र अर्जुन युद्धमें रथोंके घेरेसे बाहर हो अकेले खड़े हैं। उन्हें इस अवस्थामें देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन तुरंत बोल उठा—॥ १९ ॥

अयं कथं वै भवतो विमुक्त-
स्तथा प्रमथ्नीत यथा न मुच्येत्।
तमब्रवीच्छान्तनवः प्रहस्य
क्व ते गता बुद्धिरभूत् क्व वीर्यम् ॥ २० ॥
शान्तिं परां प्राप्य यदा स्थितोऽभू-
रुत्सृज्य बाणांश्च धनुर्विचित्रम्।

'पितामह ! यह आपके हाथसे कैसे बच गया ? आप इसे इस प्रकार मथ डालिये, जिससे यह छूटने न पावे।' तब

शान्तनुनन्दन भीष्मने हँसकर दुर्योधनसे कहा—'राजन् ! जब तू अपने विचित्र धनुष और बाणोंको त्यागकर यहाँ गहरी शान्तिमें डूबा हुआ अचेत पड़ा था, उस समय तेरी बुद्धि कहाँ गयी थी ? और पराक्रम कहाँ था ? ॥ २०½ ॥

न त्वेष बीभत्सुरलं नृशंसं
कर्तुं न पापेऽस्य मनो विशिष्टम् ॥ २१ ॥
त्रैलोक्यहेतोर्न जहेत् स्वधर्मं
सर्वे न तस्मान्निहता रणेऽस्मिन् ।
क्षिप्रं कुरून् याहि कुरुप्रवीर
विजित्य गाश्च प्रतियातु पार्थः ।
मा ते स्वकोऽर्थो निपतेत मोहात्
तत् संविधातव्यमरिष्टबन्धम् ॥ २२ ॥

'ये अर्जुन कभी निर्दयताका व्यवहार नहीं कर सकते । इनका मन कभी पापाचारमें प्रवृत्त नहीं होता । ये त्रिलोकीके राज्यके लिये भी अपना धर्म नहीं छोड़ सकते । यही कारण है कि इन्होंने इस युद्धमें हम सबके प्राण नहीं लिये । कुरुकुलके प्रमुख वीर ! अब तू शीघ्र ही कुरुदेशको लौट चल । अर्जुन भी गायोंको जीतकर लौट जायँ । अब मोहवश तेरा अपना स्वार्थ भी नष्ट न हो जाय, इसका ध्यान रख । सबको वही काम करना चाहिये, जिससे अपना कल्याण हो' ॥ २१-२२ ॥

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनस्तस्य तु तन्निशम्य
पितामहस्यात्महितं वचोऽथ ।
अतीतकामो युधि सोऽत्यमर्षी
राजा विनिःश्वस्य बभूव तूष्णीम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पितामहके ये अपने लिये हितकर वचन सुनकर राजा दुर्योधनके मनमें युद्धकी इच्छा नहीं रह गयी । वह भीतर-ही-भीतर अत्यन्त अमर्षका भार लिये लंबी साँसें भरता हुआ चुप हो गया ॥

तद् भीष्मवाक्यं हितमीक्ष्य सर्वे
धनंजयाग्निं च विवर्धमानम् ।
निवर्तनायैव मनो निदध्यु-
र्दुर्योधनं ते परिरक्षमाणाः ॥ २४ ॥

अन्य सब योद्धाओंको भी भीष्मजीका वह कथन हितकर जान पड़ा; क्योंकि युद्ध करनेसे तो धनंजयरूपी अग्नि उत्तरोत्तर बढ़कर प्रचण्ड रूप ही धारण करती जाती, यह सब सोचकर उन सबने दुर्योधनकी रक्षा करते हुए अपने देशको लौट जानेका ही निश्चय किया ॥ २४ ॥

तान् प्रस्थितान् प्रीतमनाः स पार्थो
धनंजयः प्रेक्ष्य कुरुप्रवीरान् ।
अभाषमाणोऽनुनयं मुहूर्तं
वचोऽब्रवीत् सम्परिहृत्य भूयः ॥ २५ ॥
पितामहं शान्तनवं च वृद्धं
द्रोणं गुरुं च प्रणिपत्य मूर्ध्ना ।

उन कौरववीरोंको वहाँसे प्रस्थान करते देख कुन्तीपुत्र धनंजय मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए । वे दो घड़ीतक किसीसे अनुनय-विनयपूर्ण वचन न कहकर मौन रहे । फिर लौटकर उन्होंने वृद्ध पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्यके चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और कुछ बातचीत भी की ॥

द्रौणिं कृपं चैव कुरूंश्च मान्या-
ञ्छरैर्विचित्रैरभिवाद्य चैव ॥ २६ ॥
दुर्योधनस्योत्तमरत्नचित्रं
चिच्छेद पार्थो मुकुटं शरेण ।

फिर अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा अन्य माननीय (बाह्लीक, सोमदत्त आदि) कौरवोंको बाणोंकी विचित्र रीतिसे नमस्कार करके पार्थने एक बाण मारकर दुर्योधनके उत्तम रत्नजटित विचित्र मुकुटको काट डाला ॥ २६½ ॥

आमन्त्र्य वीरांश्च तथैव मान्यान्
गाण्डीवघोषेण विनाद्य लोकान् ॥ २७ ॥
स देवदत्तं सहसा विनाद्य
विदार्य वीरो द्विषतां मनांसि ।

इसी प्रकार अन्य माननीय वीरोंसे भी विदा ले गाण्डीवकी टंकारसे सम्पूर्ण जगत्को प्रतिध्वनित करके वीर अर्जुनने सहसा देवदत्त नामक शङ्ख बजाया और शत्रुओंका दिल दहला दिया ॥ २७½ ॥

ध्वजेन सर्वानभिभूय शत्रून्
सहेममालेन विराजमानः ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा प्रयातांस्तु कुरून् किरीटी
हृष्टोऽब्रवीत् तत्र स मत्स्यपुत्रम् ।
आवर्तयाश्वान् पशवो जितास्ते
याताः परे याहि पुरं प्रहृष्टः ॥ २९ ॥

इस प्रकार अपने रथकी सुवर्णमालामण्डित ध्वजासे सम्पूर्ण शत्रुओंका तिरस्कार करके अर्जुन विजयोल्लाससे विशेष शोभा पाने लगे । कौरव चले गये, यह देखकर किरीटधारी अर्जुनको बड़ा हर्ष हुआ । उन्होंने मत्स्यनरेशके पुत्र उत्तरसे वहाँ इस प्रकार कहा—'राजकुमार ! अब घोड़ोंको लौटाओ तुम्हारी गौओंको जीत लिया गया और शत्रु भाग गये इसलिये अब तुम आनन्दपूर्वक नगरकी ओर चलो' ॥ २८-२९ ॥

देवास्तु दृष्ट्वा महदद्भुतं तद्
युद्धं कुरूणां सह फाल्गुनेन ।
जग्मुर्यथास्वं भवनं प्रतीताः
पार्थस्य कर्माणि विचिन्तयन्तः ॥ ३० ॥

अर्जुनके साथ होनेवाला कौरवोंका वह अत्यन्त अद्भुत युद्ध देखकर देवतालोग बड़े प्रसन्न हुए और अर्जुनके पराक्रमका स्मरण करते हुए अपने-अपने भवनको चले गये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि समस्तकौरवपलायने षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें समस्त कौरवोंके पलायनसे सम्बन्ध रखनेवाला छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ६६

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

विजयी अर्जुन और उत्तरका राजधानीकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततो विजित्य संग्रामे कुरून् स वृषभेक्षणः ।
समानयामास तदा विराटस्य धनं महत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार बैल-सी विशाल आँखोंवाले अर्जुन उस समय युद्धमें कौरवोंको जीतकर विराटका वह महान् गोधन लौटा लाये ॥ १ ॥

गतेषु च प्रभग्नेषु धार्तराष्ट्रेषु सर्वतः ।
वनान्निष्क्रम्य गहनाद् बहवः कुरुसैनिकाः ॥ २ ॥
भयात् संत्रस्तमनसः समाजग्मुस्ततस्ततः ।
मुक्तकेशास्त्वदृश्यन्त स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा ॥ ३ ॥
क्षुत्पिपासापरिश्रान्ता विदेशस्था विचेतसः ।

जब कौरव-दलके लोग चले गये या इधर-उधर सब दिशाओंमें भाग गये, उस समय बहुत-से कौरवसैनिक जो घने जंगलमें छिपे हुए थे, वहाँसे निकलकर डरते-डरते अर्जुनके पास आये। उनके मनमें भय समा गया था। वे भूखे-प्यासे और थके-माँदे थे। परदेशमें होनेके कारण उनके हृदयकी व्याकुलता और बढ़ गयी थी। वे उस समय केश खोले और हाथ जोड़े हुए खड़े दिखायी दिये ॥ २-३½ ॥

ऊचुः प्रणम्य सम्भ्रान्ताः पार्थ किं करवाम ते ॥ ४ ॥
(प्राणानन्तर्मनोयातान् प्रयाचिष्यामहे वयम् ।
वयं चार्जुन ते दासा ह्यनुरक्ष्या ह्यनायकाः ॥

वे सब-के-सब अर्जुनको प्रणाम करके घबराये हुए बोले—'कुन्तीनन्दन ! हम आपकी क्या सेवा करें ? अर्जुन ! हम आपसे हृदयके भीतर छिपे हुए अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये याचना करते हैं। हमलोग आपके दास और अनाथ हैं; अतः आपको सदा हमारी रक्षा करनी चाहिये' ॥

अर्जुन उवाच

अनाथान् दुःखितान् दीनान्
कृशान् वृद्धान् पराजितान् ।
न्यस्तशस्त्रान् निराशांश्च
नाहं हन्मि कृताञ्जलीन् ॥)

स्वस्ति व्रजत वो भद्रं न भेतव्यं कथंचन ।
नाहमार्ताञ्जिघांसामि भृशमाश्वासयामि वः ॥ ५ ॥

अर्जुनने कहा—सैनिको ! जो लोग अनाथ, दुखी, दीन, दुर्बल, वृद्ध, पराजित, अस्त्र-शस्त्रोंको नीचे डाल देनेवाले, प्राणोंसे निराश एवं हाथ जोड़कर शरणागत होते हैं, उन सबको मैं नहीं मारता हूँ। तुम्हारा भला हो। तुम कुशलपूर्वक घर लौट जाओ। तुम्हें मेरी ओरसे किसी प्रकारका भय नहीं होना चाहिये। मैं संकटमें पड़े हुए मनुष्योंको नहीं मारना चाहता। इस बातके लिये मैं तुम्हें पूरा-पूरा विश्वास दिलाता हूँ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तामभयां वाचं श्रुत्वा योधाः समागताः ।
आयुःकीर्तियशोदाभिस्तमाशीर्भिरनन्दयन् ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनकी वह अभयदानयुक्त वाणी सुनकर वहाँ आये हुए समस्त योद्धाओंने उन्हें आयु, कीर्ति तथा सुयश बढ़ानेवाले आशीर्वाद देते हुए उनका अभिनन्दन किया ॥ ६ ॥

ततोऽर्जुनं नागमिव प्रभिन्न-
मुत्सृज्य शत्रून् विनिवर्तमानम् ।
विराटराष्ट्राभिमुखं प्रयान्तं
नाशक्नुवंस्तं कुरवोऽभियातुम् ॥ ७ ॥

उस समय अर्जुन शत्रुओंको छोड़कर—उन्हें जीवनदान दे, मदकी धारा बहानेवाले हाथीकी भाँति मस्तीकी चालसे विराटनगरकी ओर लौटे जा रहे थे। कौरवोंको उनपर आक्रमण करनेका साहस नहीं हुआ ॥ ७ ॥

ततः स तन्मेघमिवापतन्तं
विद्राव्य पार्थः कुरुसैन्यवृन्दम् ।
मत्स्यस्य पुत्रं द्विषतां निहन्ता
वचोऽब्रवीत् सम्परिरभ्य भूयः ॥ ८ ॥

कौरवोंकी सेना मेघोंकी घटा-सी उमड़ आयी थी; किंतु शत्रुहन्ता पार्थने उसे मार भगाया। इस प्रकार शत्रुसेनाको परास्त करके अर्जुनने उत्तरको पुनः हृदयसे लगाकर कहा—॥

पितुः सकाशे तव तात सर्वे
वसन्ति पार्था विदितं तवैव ।

तान् मा प्रशंसेर्नगरं प्रविश्य
भीतः प्रणश्येद्धि स मत्स्यराजः ॥ ९ ॥

'तात ! तुम्हारे पिताके समीप समस्त पाण्डव निवास करते हैं, यह बात अबतक तुम्हींको विदित हुई है; अतः तुम नगरमें प्रवेश करके पाण्डवोंकी प्रशंसा न करना, नहीं तो मत्स्यराज डरकर प्राण त्याग देंगे ॥ ९ ॥

मया जिता सा ध्वजिनी कुरूणां
मया च गावो विजिता द्विषद्भ्यः।
पितुः सकाशं नगरं प्रविश्य
त्वमात्मनः कर्म कृतं ब्रवीहि ॥ १० ॥

'राजधानीमें प्रवेश करके पिताके समीप जानेपर तुम यही कहना कि मैंने कौरवोंकी उस विशाल सेनापर विजय पायी है और मैंने ही शत्रुओंसे अपनी गौओंको जीता है। सारांश यह कि युद्धमें जो कुछ हुआ है, वह सब तुम अपना ही किया हुआ पराक्रम बताना' ॥ १० ॥

उत्तर उवाच

यत् ते कृतं कर्म न पारणीयं
तत् ते कर्म कर्तुं मम नास्ति शक्तिः।
न त्वां प्रवक्ष्यामि पितुः सकाशे
यावन्न मां वक्ष्यसि सव्यसाचिन् ॥ ११ ॥

उत्तरने कहा—सव्यसाचिन् ! आपने जो पराक्रम किया है, वह दूसरेके लिये असम्भव है। वैसा अद्भुत कर्म करनेकी मुझमें शक्ति नहीं है; तथापि जबतक आप मुझे आज्ञा न देंगे, तबतक पिताजीके निकट आपके विषयमें मैं कुछ भी नहीं कहूँगा ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

स शत्रुसेनामवजित्य जिष्णु-
राच्छिद्य सर्वं च धनं कुरुभ्यः।
श्मशानमागत्य पुनः शमीं ता-
मभ्येत्य तस्थौ शरविक्षताङ्गः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विजयशील अर्जुन पूर्वोक्तरूपसे शत्रुसेनाको परास्त करके कौरवोंके हाथसे सारा गोधन छीन लेनेके बाद पुनः श्मशानभूमिमें उसी शमी-वृक्षके समीप आकर खड़े हुए। उस समय उनके सभी अङ्ग बाणोंके आघातसे क्षत-विक्षत हो रहे थे ॥ १२ ॥

ततः स वह्निप्रतिमो महाकपिः
सहैव भूतैर्दिवमुत्पपात।
तथैव माया विहिता बभूव
ध्वजं च सैंहं युयुजे रथे पुनः ॥ १३ ॥

तदनन्तर वह अग्निके समान तेजस्वी महावानर ध्वज-निवासी भूतगणोंके साथ आकाशमें उड़ गया। उसी प्रकार ध्वजसहित वह दैवी माया भी विलीन हो गयी और अर्जुनके रथमें फिर वही सिंहध्वज लगा दिया गया ॥ १३ ॥

विधाय तच्चायुधमाजिवर्धनं
कुरूत्तमानामिषुधीः शरांस्तथा।
प्रायात् स मत्स्यो नगरं प्रहृष्टः
किरीटिना सारथिना महात्मना ॥ १४ ॥

कुरुकुलशिरोमणि पाण्डवोंके युद्धक्षमतावर्धक आयुधों, तरकसों और बाणोंको फिर पूर्ववत् शमीवृक्षपर रखकर मत्स्य-कुमार उत्तर महात्मा अर्जुनको सारथि बना उनके साथ प्रसन्नतापूर्वक नगरको चला ॥ १४ ॥

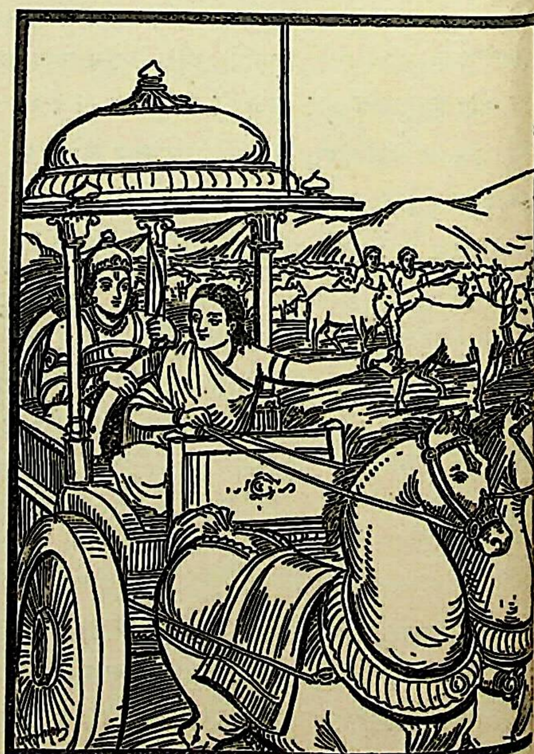
पार्थस्तु कृत्वा परमार्यकर्म
निहत्य शत्रून् द्विषतां निहन्ता।
चकार वेणीं च तथैव भूयो
जग्राह रश्मीन् पुनरुत्तरस्य।
विवेश हृष्टो नगरं महामना
बृहन्नलारूपमुपेत्य सारथिः ॥ १५ ॥

शत्रुहन्ता कुन्तीपुत्रने शत्रुओंको मारकर महान् वीरोचित पराक्रम करके पुनः पूर्ववत् सिरपर वेणी धारण कर ली और उत्तरके घोड़ोंकी रास सँभाली। इस प्रकार बृहन्नलाका रूप धारणकर महामना अर्जुनने सारथिके रूपमें प्रसन्नतापूर्वक राजधानीमें प्रवेश किया ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो निवृत्ताः कुरवः प्रभग्ना वशमास्थिताः।
हस्तिनापुरमुद्दिश्य सर्वे दीना ययुस्तदा ॥ १६ ॥
पन्थानमुपसङ्गम्य फाल्गुनो वाक्यमब्रवीत् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर कौरव युद्धसे भागकर विवशतापूर्वक लौट गये। उन सबने दीनभावसे उस समय हस्तिनापुरकी ओर प्रस्थान किया। इधर अर्जुनने नगरके रास्तेमें आकर उत्तरसे कहा—॥ १६-१७ ॥



राजपुत्र प्रत्यवेक्ष समानीतानि सर्वशः।
गोकुलानि महाबाहो वीर गोपालकैः सह ॥ १८ ॥
ततोऽपराह्णे यास्यामो विराटनगरं प्रति।
आश्वास्य पाययित्वा च परिप्लाव्य च वाजिनः ॥ १९ ॥

'महाबाहु राजकुमार ! देख लो, तुम्हारे सब गोधन ग्वालोंके साथ यहाँ आ गये हैं। वीर ! अब हमलोग घोड़ोंको पानी पिला और नहलाकर उनकी थकावट दूर हो जानेके बाद अपराह्णकालमें विराटनगर चलेंगे ॥ १८-१९ ॥

गच्छन्तु त्वरिताश्चेमे गोपालाः प्रेषितास्त्वया।
नगरे प्रियमाख्यातुं घोषयन्तु च ते जयम् ॥ २० ॥

'तुम्हारेद्वारा भेजे हुए ये ग्वाले तुरंत नगरमें विजयका प्रिय संवाद सुनानेके लिये जायँ और यह घोषित कर दें कि राजकुमार उत्तरकी जीत हुई है' ॥२०॥

वैशम्पायन उवाच

अथोत्तरस्त्वरमाणः स दूता-
न्नाज्ञापयद् वचनात् फाल्गुनस्य।
आचक्षध्वं विजयं पार्थिवस्य
भग्नाः परे विजिताश्चापि गावः ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब अर्जुनके कथनानुसार उत्तरने बड़ी उतावलीके साथ दूतोंको आज्ञा दी—'जाओ और सूचित करो कि महाराजकी विजय हुई है। शत्रु भाग गये और गौएँ जीतकर वापस लायी गयी हैं' ॥

इत्येवं तौ भारतमत्स्यवीरौ
सम्मन्त्र्य सङ्गम्य ततः शमीं ताम्।
अभ्येत्य भूयो विजयेन तृप्ता-
वुत्सृष्टमारोपयतां स्वभाण्डम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार भरतकुल और मत्स्यकुलके उन दोनों वीरोंने आपसमें सलाह करके पूर्वोक्त शमीवृक्षके समीप जा पहलेके उतारे हुए अपने अलंकार आदि शरीरपर धारण कर लिये थे और उनके रखनेके पात्र (भी) रथपर चढ़ा लिये थे ॥ २२ ॥

स शत्रुसेनामभिभूय सर्वा-
माच्छिद्य सर्वं च धनं कुरुभ्यः।
वैराटिरायान्नगरं प्रतीतो
बृहन्नलासारथिना प्रवीरः ॥ २३ ॥

इस तरह शत्रुओंकी सम्पूर्ण सेनाको पराजित करके कौरवोंसे सारा गोधन छीनकर विराटकुमार वीर उत्तर बृहन्नला सारथिके साथ प्रसन्नतापूर्वक नगरकी ओर प्रस्थित हुआ ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरागमने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरका आगमन-विषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

राजा विराटकी उत्तरके विषयमें चिन्ता, विजयी उत्तरका नगरमें प्रवेश, प्रजाओंद्वारा उनका स्वागत, विराटद्वारा युधिष्ठिरका तिरस्कार और क्षमाप्रार्थना एवं उत्तरसे युद्धका समाचार पूछना

वैशम्पायन उवाच

धनं चापि विजित्याशु विराटो वाहिनीपतिः।
विवेश नगरं हृष्टश्चतुर्भिः पाण्डवैः सह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सेनाओंके स्वामी राजा विराटने (दक्षिण गोष्ठकी) गौओंको जीतकर शीघ्र ही चारों पाण्डवोंके साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक नगरमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

जित्वा त्रिगर्तान् संग्रामे गाश्चैवादाय सर्वशः।
अशोभत महाराज सहपार्थैः श्रिया वृतः ॥ २ ॥

महाराज ! संग्राममें त्रिगर्तोंको हराकर सम्पूर्ण गौएँ वापस ले विजय-लक्ष्मीसे सम्पन्न महाराज विराट कुन्तीपुत्रोंके साथ बड़ी शोभा पाने लगे ॥ २ ॥

तमासनगतं वीरं सुहृदां हर्षवर्धनम्।
उपासाञ्चक्रिरे सर्वे सह पार्थैः परंतपाः ॥ ३ ॥

मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाले वीरवर विराट राजसिंहासनपर विराजमान हुए। उस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले सब शूरवीर कुन्तीपुत्रोंके साथ राजाकी सेवाके लिये उनके पास बैठे ॥ ३ ॥

उपतस्थुः प्रकृतयः समस्ता ब्राह्मणैः सह।
सभाजितः ससैन्यस्तु प्रतिनन्द्याथ मत्स्यराट् ॥ ४ ॥

फिर ब्राह्मणोंसहित समस्त प्रजावर्गके लोग उपस्थित हुए। सबने सेनासहित मत्स्यराजका अभिनन्दन एवं स्वागत-सत्कार किया ॥ ४ ॥

विसर्जयामास तदा द्विजांश्च प्रकृतीस्तथा।
तथा स राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ॥ ५ ॥
उत्तरं परिपप्रच्छ क्व यात इति चाब्रवीत्।
आचख्युस्तस्य तत् सर्वं स्त्रियः कन्याश्च वेश्मनि॥ ६ ॥

तदनन्तर मत्स्यदेशके राजा सेनाओंके स्वामी विराटने

ब्राह्मणों तथा प्रजावर्गके लोगोंको विदा कर दिया और (अन्तःपुरमें जाकर) उत्तरके विषयमें पूछा—'राजकुमार उत्तर कहाँ गये हैं ?' तब घरमें रहनेवाली स्त्रियों और कन्याओंने उनसे सब बातें बतायीं—॥ ५-६ ॥

अन्तःपुरचराश्चैव कुरुभिर्गोधनं हृतम्।
विजेतुमभिसंरब्ध एक एवातिसाहसात्।
बृहन्नलासहायश्च निर्गतः पृथिवीञ्जयः ॥ ७ ॥

'इसी प्रकार अन्तःपुरमें रहनेवाली स्त्रियोंने भी बताया कि कौरवोंने हमारे गोष्ठका गोधन हर लिया है, अतः कुमार भूमिंजय अत्यन्त साहसके कारण क्रोधमें भरकर अकेले ही उन गौओंको जीत लानेके लिये बृहन्नलाके साथ निकले हैं ॥

उपयातानतिरथान् भीष्मं शान्तनवं कृपम्।
कर्णं दुर्योधनं द्रोणं द्रोणपुत्रं च षड् रथान् ॥ ८ ॥

'सुना है, शान्तनुनन्दन भीष्म, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, द्रोणाचार्य तथा द्रोणपुत्र अश्वत्थामा—ये छः अतिरथी वीर युद्धके लिये आये हैं' ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

राजा विराटोऽथ भृशाभितप्तः
श्रुत्वा सुतं त्वेकरथेन यातम्।
बृहन्नलासारथिमाजिवर्धनं
प्रोवाच सर्वानथ मन्त्रिमुख्यान्॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युद्धमें आगे बढ़नेवाले अपने पुत्रको बृहन्नला सारथिके साथ एकमात्र रथकी सहायतासे कौरवोंका सामना करनेके लिये गया हुआ सुनकर राजा विराटको बड़ा संताप हुआ । उन्होंने (अपने) सभी प्रधान मन्त्रियोंसे कहा—॥ ९ ॥

सर्वथा कुरवस्ते हि ये चान्ये वसुधाधिपाः।
त्रिगर्तान् निःसृताञ्छ्रुत्वा न स्थास्यन्ति कदाचन ।१०।

'कौरव हों या दूसरे कोई राजा, जब वे सुनेंगे कि त्रिगर्त लोग युद्धमें पीठ दिखाकर भाग गये हैं, तब वे कदापि यहाँ ठहर नहीं सकेंगे ॥ १० ॥

तस्माद् गच्छन्तु मे योधा बलेन महता वृताः।
उत्तरस्य परीप्सार्थं ये त्रिगर्तैरविक्षताः ॥ ११ ॥

'अतः मेरे सैनिकोंमेंसे जो लोग त्रिगर्तोंके साथ होनेवाले युद्धमें घायल नहीं हुए हों, वे सब विशाल सेनाके साथ राजकुमार उत्तरकी रक्षाके लिये जायँ' ॥ ११ ॥

हयांश्च नागांश्च रथांश्च शीघ्रं
पदातिसङ्घांश्च ततः प्रवीरान्।
प्रस्थापयामास सुतस्य हेतो-
र्विचित्रशस्त्राभरणोपपन्नान् ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने पुत्रकी रक्षाके लिये विचित्र-विचित्र आयुधों और आभूषणोंसे विभूषित घुड़सवारों, हाथीसवारों, रथारोहियों तथा पैदल योद्धाओंके समूहोंको, जो बड़े शूरवीर थे, भेजा ॥ १२ ॥

एवं स राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः।
व्यादिदेशाथ तां क्षिप्रं वाहिनीं चतुरङ्गिणीम् ॥ १३ ॥
कुमारमाशु जानीत यदि जीवति वा न वा।
यस्य यन्ता गतः षण्ढो मन्येऽहं स न जीवति॥ १४ ॥

इस प्रकार सेनाओंके स्वामी मत्स्यनरेश विराटने अपनी उस चतुरंगिणी सेनाको शीघ्र आदेश दिया, 'जाओ, शीघ्र पता लगाओ । कुमार जीवित हैं या नहीं । एक हिजड़ा जिसका सारथि बनकर गया है, वह मेरी समझसे तो अब जीवित नहीं होगा' ॥ १३-१४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमब्रवीद् धर्मराजो विहस्य
विराटराजं तु भृशाभितप्तम्।
बृहन्नला सारथिश्चेन्नरेन्द्र
परे न नेष्यन्ति तवाद्य गास्ताः ॥ १५ ॥
सर्वान् महीपान् सहितान् कुरूंश्च
तथैव देवासुरसिद्धयक्षान्।
अलं विजेतुं समरे सुतस्ते
स्वनुष्ठितः सारथिना हि तेन ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा विराटको बहुत दुखी देखकर धर्मराज युधिष्ठिरने उनसे हँसकर कहा—'नरेन्द्र ! यदि बृहन्नला सारथि है, तो यह विश्वास कीजिये कि शत्रु आज आपकी वे गौएँ नहीं ले जा सकेंगे । उस हिजड़े सारथिके सहयोगसे सब कार्य ठीक-ठीक कर लेनेपर आपका पुत्र युद्धमें समस्त राजाओं तथा संगठित होकर आये हुए कौरवोंकी तो बात ही क्या, देवता, असुर, सिद्ध और यक्षोंपर भी निश्चय ही विजय पा सकता है' ॥ १५-१६ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथोत्तरेण प्रहिता दूतास्ते शीघ्रगामिनः।
विराटनगरं प्राप्य विजयं समवेदयन् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इसी समय उत्तरके भेजे हुए शीघ्रगामी दूतोंने विराटनगरमें आकर विजयकी सूचना दी ॥ १७ ॥

राज्ञस्तत् सर्वमाचख्यौ मन्त्री विजयमुत्तमम्।
पराजयं कुरूणां चाप्युपायान्तं तथोत्तरम् ॥ १८ ॥
सर्वा विनिर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः।
उत्तरः सह सूतेन कुशली च परंतपः ॥ १९ ॥

मन्त्रीने वह सब समाचार महाराजसे कह सुनाया। अपने पक्षकी उत्तम विजय और कौरवोंकी करारी हार हुई है । राजकुमार उत्तर नगरमें आ रहे हैं । समस्त गौएँ जी

ली गयीं तथा कौरव परास्त होकर भाग गये। शत्रुओंको संताप देनेवाले कुमार उत्तर सारथिसहित सकुशल हैं॥

युधिष्ठिर उवाच

दिष्ट्या विनिर्जिता गावः कुरवश्च पलायिताः।
नाद्भुतं त्वेव मन्येऽहं यत् ते पुत्रोऽजयत् कुरून्॥ २०॥
ध्रुव एव जयस्तस्य यस्य यन्ता बृहन्नला।
(देवेन्द्रसारथिश्चैव मातलिर्लघुविक्रमः।
कृष्णस्य सारथिश्चैव न बृहन्नलया समौ॥)

युधिष्ठिरने कहा—महाराज! सौभाग्यकी बात है कि गौएँ जीत ली गयीं और कौरव भाग गये। आपके पुत्रने कौरवोंपर जो विजय पायी है, उसे मैं कोई आश्चर्यकी बात नहीं मानता। जिसका सारथि बृहन्नला हो, उसकी विजय तो निश्चित ही है। देवराज इन्द्रका शीघ्रगामी सारथि मातलि तथा श्रीकृष्णका सारथि दारुक—ये दोनों बृहन्नलाकी समानता नहीं कर सकते॥ २०½॥

वैशम्पायन उवाच

ततो विराटो नृपतिः सम्प्रहृष्टतनूरुहः॥ २१॥
श्रुत्वा स विजयं तस्य कुमारस्यामितौजसः।
आच्छादयित्वा दूतांस्तान् मन्त्रिणं सोऽभ्यचोदयत्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने अमित-पराक्रमी कुमारकी विजयका समाचार सुनकर राजा विराट बड़े प्रसन्न हुए। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उन्होंने वस्त्र और आभूषणोंसे उन दूतोंका सत्कार किया और मन्त्रीको आज्ञा दी—॥ २१-२२॥

राजमार्गाः क्रियन्तां मे पताकाभिरलंकृताः।
पुष्पोपहारैरर्च्यन्तां देवताश्चापि सर्वशः॥ २३॥
कुमारा योधमुख्याश्च गणिकाश्च स्वलंकृताः।
वादित्राणि च सर्वाणि प्रत्युद्यान्तु सुतं मम॥ २४॥

'मेरे नगरकी सड़कोंको पताकाओंसे अलंकृत किया जाय। फूलों तथा नाना प्रकारके उपहारोंसे सब देवताओंकी पूजा होनी चाहिये। कुमार, मुख्य-मुख्य योद्धा, शृङ्गारसे सुशोभित वाराङ्गनाएँ और सब प्रकारके बाजे-गाजे मेरे पुत्रकी अगवानीमें भेजे जायँ॥ २३-२४॥

घण्टावान् मानवः शीघ्रं मत्तमारुह्य वारणम्।
शृङ्गाटकेषु सर्वेषु आख्यातु विजयं मम॥ २५॥
उत्तरा च कुमारीभिर्बह्वीभिः परिवारिता।
शृङ्गारवेषाभरणा प्रत्युद्यातु सुतं मम॥ २६॥

'एक मनुष्य शीघ्र ही हाथमें घण्टा लिये मतवाले गजराजपर बैठ जाय और नगरके समस्त चौराहोंपर हमारी विजयका संवाद सुनावे। राजकुमारी उत्तरा भी उत्तम शृङ्गार और सुन्दर वेष-भूषासे सुशोभित हो अन्य राजकुमारियोंके साथ मेरे पुत्रकी अगवानीमें जायँ'॥ २५-२६॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा चेदं वचनं पार्थिवस्य
सर्वं पुरं स्वस्तिकपाणिभूतम्।
भेर्यश्च तूर्याणि च वारिजाश्च
वेषैः परार्ध्यैः प्रमदाः शुभाश्च॥ २७॥
तथैव सूतैः सह मागधैश्च
नान्दीवाद्याः पणवास्तूर्यवाद्याः।
पुराद् विराटस्य महाबलस्य
प्रत्युद्ययुः पुत्रमनन्तवीर्यम्॥ २८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! राजाकी इस आज्ञाको सुनकर बहुमूल्य वेशभूषासे सुशोभित सौभाग्यवती तरुणी स्त्रियों, सूत, मागध और बंदीजनोंसहित समस्त पुरवासी, हाथोंमें माङ्गलिक वस्तुएँ लेकर भेरी, तूर्य, शङ्ख तथा पणव आदि माङ्गलिक बाजे साथ लिये महाबली विराटके अनन्त पराक्रमी पुत्र उत्तरकी अगवानी करनेके लिये नगरसे बाहर गये॥ २७-२८॥

प्रस्थाप्य सेनां कन्याश्च गणिकाश्च स्वलङ्कृताः।
मत्स्यराजो महाप्राज्ञः प्रहृष्ट इदमब्रवीत्॥ २९॥

राजन्! तदनन्तर सेना, सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कन्याओं और वाराङ्गनाओंको भेजकर परम बुद्धिमान् मत्स्यनरेश हर्षोल्लासमें भरकर इस प्रकार बोले—॥ २९॥

अक्षानाहर सैरन्ध्रि कङ्क द्यूतं प्रवर्तताम्।
तं तथावादिनं दृष्ट्वा पाण्डवः प्रत्यभाषत॥ ३०॥

'सैरन्ध्री! जा, पासे ले आ। कङ्क! जूआ प्रारम्भ हो।' उन्हें ऐसा कहते देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर बोले—॥

न देवितव्यं हृष्टेन कितवेनेति नः श्रुतम्।
तं त्वामद्य मुदा युक्तं नाहं देवितुमुत्सहे।
प्रियं तु ते चिकीर्षामि वर्ततां यदि मन्यसे॥ ३१॥

'राजन्! मैंने सुना है, जब चालाक जुआरी अत्यन्त हर्षमें भरा हो, तो उसके साथ जूआ नहीं खेलना चाहिये। आज आप भी बड़े आनन्दमें मग्न हैं; अतः आपके साथ जूआ खेलनेका साहस नहीं होता, तथापि आपका प्रिय कार्य तो करना ही चाहता हूँ, अतः यदि आपकी इच्छा हो, तो खेल शुरू हो सकता है'॥ ३१॥

विराट उवाच

स्त्रियो गावो हिरण्यं च यच्चान्यद् वसु किञ्चन।
न मे किञ्चित् त्वया रक्ष्यमन्तरेणापि देवितुम्॥ ३२॥

विराटने कहा—स्त्रियाँ, गौएँ, सुवर्ण तथा अन्य जो कोई भी धन सुरक्षित रक्खा जाता है, बिना जूएके वह सब मुझे कुछ नहीं चाहिये। (मुझे तो जूआ ही सबसे अधिक प्रिय है)॥ ३२॥

कङ्क उवाच

किं ते द्यूतेन राजेन्द्र बहुदोषेण मानद ।
देवने बहवो दोषास्तस्मात् तत् परिवर्जयेत् ॥ ३३ ॥

कङ्क बोले—सबको मान देनेवाले महाराज ! आपको जूएसे क्या लेना है ? इसमें तो बहुत-से दोष हैं। जूआ खेलनेमें अनेक दोष होते हैं, इसलिये इसे त्याग देना चाहिये ॥ ३३ ॥

श्रुतस्ते यदि वा दृष्टः पाण्डवेयो युधिष्ठिरः ।
स राष्ट्रं सुमहत् स्फीतं भ्रातॄंश्च त्रिदशोपमान् ॥३४॥
राज्यं हारितवान् सर्वं तस्माद् द्यूतं न रोचये ।
(निःसंशयं स कितवः पश्चात् तप्यति पाण्डवः ॥
विविधानां च रत्नानां धनानां च पराजये ।
अस्मिन् क्षितिविनाशश्च वाक्पारुष्यमनन्तरम् ॥
अविश्वास्यं बुधैर्नित्यमेकाह्ना द्रव्यनाशनम् ।)
— अथवा मन्यसे राजन् दीव्याम यदि रोचते ॥ ३५ ॥

आपने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको देखा होगा अथवा उनका नाम तो अवश्य सुना होगा। वे अपने अत्यन्त समृद्धिशाली राष्ट्रको, देवताओंके समान तेजस्वी भाइयोंको तथा समूचे राज्यको भी जूएमें हार गये थे। अतः मैं जूएको पसंद नहीं करता। नाना प्रकारके रत्नों और धनको हार जानेके कारण अब वे जुआरी युधिष्ठिर निश्चय ही पश्चात्ताप करते होंगे। इस जूएमें आसक्त होनेपर राज्यका नाश होता है, फिर जुआरी एक दूसरेके प्रति कटु वचनोंका प्रयोग करते हैं। जूआ एक ही दिनमें महान् धनराशिका नाश करनेवाला है। अतः विद्वान् पुरुषोंको इस (धोखा देनेवाले जूए) पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। राजन् ! तो भी यदि आपकी रुचि और आग्रह हो, तो हम खेलेंगे ही ॥ ३४-३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रवर्तमाने द्यूते तु मत्स्यः पाण्डवमब्रवीत् ।
पश्य पुत्रेण मे युद्धे तादृशाः कुरवो जिताः ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जूएका खेल आरम्भ हो गया। खेलते-खेलते मत्स्यराजने पाण्डुनन्दनसे कहा—'देखो, आज मेरे बेटेने युद्धमें उन प्रसिद्ध कौरवोंपर विजय पायी है' ॥ ३६ ॥

ततोऽब्रवीन्महात्मा स एनं राजा युधिष्ठिरः ।
बृहन्नला यस्य यन्ता कथं स न जयेद् युधि ॥ ३७ ॥

तब महात्मा राजा युधिष्ठिरने विराटसे कहा—'बृहन्नला जिसका सारथि हो, वह युद्धमें कैसे नहीं जीतेगा ?' ॥ ३७ ॥

इत्युक्तः कुपितो राजा मत्स्यः पाण्डवमब्रवीत् ।
समं पुत्रेण मे षण्ढं ब्रह्मबन्धो प्रशंससि ॥ ३८ ॥

यह सुनते ही मत्स्यनरेश कुपित हो उठे और पाण्डुनन्दनसे बोले—'अधम ब्राह्मण ! तू मेरे पुत्रके समान एक हिजड़ेकी प्रशंसा करता है ! ॥ ३८ ॥

वाच्यावाच्यं न जानीषे नूनं मामवमन्यसे ।
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वान् कस्मान्न स विजेष्यति॥ ३९ ॥
वयस्यत्वात् तु ते ब्रह्मन्नपराधमिमं क्षमे ।
नेदृशं तु पुनर्वाच्यं यदि जीवितुमिच्छसि ॥ ४० ॥

'क्या कहना चाहिये और क्या नहीं, इसका तुझे ज्ञान नहीं है। निश्चय ही तू अपनी बातोंसे मेरा अपमान कर रहा है। भला मेरा पुत्र भीष्म-द्रोण आदि समस्त वीरोंको क्यों नहीं जीत लेगा ? ब्रह्मन् ! मित्र होनेके नाते ही मैं तुम्हारे इस अपराधको क्षमा करता हूँ। यदि जीनेकी इच्छा हो, तो फिर ऐसी बात न कहना' ॥ ३९-४० ॥

युधिष्ठिर उवाच

यत्र द्रोणस्तथा भीष्मो द्रौणिर्वैकर्तनः कृपः ।
दुर्योधनश्च राजेन्द्रस्तथान्ये च महारथाः ॥ ४१ ॥
मरुद्गणैः परिवृतः साक्षादपि मरुत्पतिः ।
कोऽन्यो बृहन्नलायास्तान् प्रतियुध्येत सङ्गतान् ॥४२॥

युधिष्ठिर बोले—जहाँ द्रोणाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा, कर्ण, कृपाचार्य, राजा दुर्योधन तथा अन्य महारथी उपस्थित हों, वहाँ बृहन्नलाके सिवा दूसरा कौन पुरुष, चाहे वह देवताओंसे घिरा हुआ साक्षात् देवराज इन्द्र ही क्यों न हो, उन सब संगठित वीरोंका सामना कर सकता है ? ॥ ४१-४२ ॥

यस्य बाहुबले तुल्यो न भूतो न भविष्यति ।
अतीव समरं दृष्ट्वा हर्षो यस्योपजायते ॥ ४३ ॥
योऽजयत् सङ्गतान् सर्वान् ससुरासुरमानवान् ।
तादृशेन सहायेन कस्मात् स न विजेष्यते ॥ ४४ ॥

बाहुबलमें जिसकी समानता करनेवाला न कोई हुआ है और न होगा ही, युद्धका अवसर आया देखकर जिसे अत्यन्त हर्ष होता है, जिसने युद्धमें एकत्र हुए देवता, असुर और मनुष्य—सबको जीत लिया है, वैसे बृहन्नला-जैसे सहायकके होनेपर राजकुमार उत्तर विजयी क्यों न होंगे ? ॥ ४३-४४ ॥

विराट उवाच

बहुशः प्रतिषिद्धोऽसि न च वाचं नियच्छसि ।
नियन्ता चेन्न विद्येत न कश्चिद् धर्ममाचरेत् ॥ ४५ ॥

विराटने कहा—कङ्क ! मैंने बहुत बार मना किया, तो भी तू अपनी जबान नहीं बंद कर रहा है। सच है, यदि शासन करनेवाला राजा न हो, तो कोई भी धर्मका आचरण नहीं कर सकता ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रकुपितो राजा तमक्षेणाहनद् भृशम् ।
मुखे युधिष्ठिरं कोपान्नैवमित्येव भर्त्सयन् ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इतना कहकर कोपमें भरे हुए राजा विराटने वह पासा युधिष्ठिरके मुखपर जोरसे दे मारा तथा रोषपूर्वक डाँटते हुए उनसे कहा—'फिर कभी ऐसी बात न कहना' ॥ ४६ ॥

बलवत् प्रतिविद्धस्य नस्तः शोणितमावहत् ।
तदप्राप्तं महीं पार्थः पाणिभ्यां प्रत्यगृह्णत ॥ ४७ ॥
अवैक्षत स धर्मात्मा द्रौपदीं पार्श्वतः स्थिताम् ।
सा ज्ञात्वा तमभिप्रायं भर्तुश्चित्तवशानुगा ॥ ४८ ॥
पात्रं गृहीत्वा सौवर्णं जलपूर्णमनिन्दिता ।
तच्छोणितं प्रत्यगृह्णाद् यत् प्रसुस्राव नस्ततः ॥ ४९ ॥

पासेका आघात जोरसे लगा था, अतः उनकी नाकसे रक्तकी धारा बह चली । किंतु धर्मात्मा युधिष्ठिरने उस रक्तको पृथ्वीपर गिरनेसे पहले ही अपने दोनों हाथोंमें रोक लिया और पास ही खड़ी हुई द्रौपदीकी ओर देखा । द्रौपदी अपने स्वामीके मनके अधीन रहनेवाली और उनकी अनुगामिनी थी । उस सती-साध्वी देवीने उनका अभिप्राय समझ लिया; अतः जलसे भरा हुआ सुवर्णमय पात्र ले आकर युधिष्ठिरकी नाकसे जो रक्त बहता था, वह सब उसमें ले लिया ॥ ४७-४९ ॥



अथोत्तरः शुभैर्गन्धैर्माल्यैश्च विविधैस्तथा ।
अवकीर्यमाणः संहृष्टो नगरं स्वैरमागतः ॥ ५० ॥

इसी समय राजकुमार उत्तर बड़े हर्षके साथ स्वच्छन्दतापूर्वक नगरमें आये । मार्गमें उनके ऊपर उत्तम गन्ध और भाँति-भाँतिके पुष्पहार बरसाये जा रहे थे ॥ ५० ॥

सभाज्यमानः पौरैश्च स्त्रीभिर्जानपदैस्तथा ।
आसाद्य भवनद्वारं पित्रे सम्प्रत्यवेदयत् ॥ ५१ ॥

मत्स्यदेशके लोगों, पुरवासियों तथा सुन्दरी स्त्रियोंने उनका स्वागत किया; फिर राजभवनके द्वारपर पहुँचकर उन्होंने पिताको अपने आगमनकी सूचना करवायी ॥ ५१ ॥

ततो द्वाःस्थः प्रविश्यैव विराटमिदमब्रवीत् ।
बृहन्नलासहायश्च पुत्रो द्वार्युत्तरः स्थितः ॥ ५२ ॥

तब द्वारपालने भीतर जाकर महाराज विराटसे कहा—'प्रभो ! बृहन्नलाके साथ राजकुमार उत्तर द्वारपर खड़े हैं' ॥

ततो हृष्टो मत्स्यराजः क्षत्तारमिदमब्रवीत् ।
प्रवेश्यतामुभौ तूर्णं दर्शनेप्सुरहं तयोः ॥ ५३ ॥

इस समाचारसे प्रसन्न होकर मत्स्यराज अपने सेवकसे बोले—'मैं उन दोनोंसे मिलना चाहता हूँ; अतः उन्हें शीघ्र भीतर ले आओ' ॥ ५३ ॥

क्षत्तारं कुरुराजस्तु शनैः कर्ण उपाजपत् ।
उत्तरः प्रविशत्वेको न प्रवेश्या बृहन्नला ॥ ५४ ॥

तब जाते हुए सेवकके कानमें युधिष्ठिरने धीरेसे कहा—'पहले अकेले राजकुमार उत्तर ही यहाँ आवें । बृहन्नलाको साथमें न ले आना' ॥ ५४ ॥

एतस्य हि महाबाहो व्रतमेतत् समाहितम् ।
यो ममाङ्गे व्रणं कुर्याच्छोणितं वापि दर्शयेत् ।
अन्यत्र संग्रामगतान्न स जीवेत् कथञ्चन ॥ ५५ ॥

'महाबाहो ! बृहन्नलाका यह निश्चित व्रत है कि जो युद्धभूमिके सिवा अन्य किसी स्थानमें मेरे शरीरमें घाव कर दे या रक्त बहता दिखा दे, वह किसी प्रकार जीवित न रहने पाये ॥ ५५ ॥

न मृष्याद् भृशसंक्रुद्धो मां दृष्ट्वा तु सशोणितम् ।
विराटमिह सामात्यं हन्यात् सबलवाहनम् ॥ ५६ ॥

'मेरे शरीरमें रक्त देखकर वह अत्यन्त कुपित हो उठेगा और इस अपराधको क्षमा नहीं करेगा एवं राजा विराटको मन्त्री, सेना और वाहनोंसहित यहीं मार डालेगा' ॥ ५६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञः सुतो ज्येष्ठः प्राविशत् पृथिवीञ्जयः ।
सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कङ्कं चाप्युपतिष्ठत ॥ ५७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा विराटके ज्येष्ठ पुत्र कुमार भूमिंजय (उत्तर) ने भीतर प्रवेश किया और पिताके दोनों चरणोंमें प्रणाम करके कङ्कको भी मस्तक झुकाया ॥ ५७ ॥

ततो रुधिरसंयुक्तमनेकाग्रमनागसम् ।
भूमावासीनमेकान्ते सैरन्ध्या प्रत्युपस्थितम् ॥ ५८ ॥

उसने देखा, कङ्क एकान्तमें भूमिपर बैठे हैं। सैरन्ध्री उनकी सेवामें उपस्थित है। उनका मन एकाग्र नहीं है और वे निरपराध हैं, तो भी उनके शरीरसे रक्त बह रहा है ॥५८॥

ततः पप्रच्छ पितरं त्वरमाण इवोत्तरः।
केनायं ताडितो राजन् केन पापमिदं कृतम् ॥ ५९ ॥

तब उत्तरने बड़ी उतावलीके साथ अपने पितासे पूछा—'राजन्! किसने इन्हें मारा है? किसने यह पाप किया है?' ॥ ५९ ॥

विराट उवाच

मयायं ताडितो जिह्मो न चाप्येतावदर्हति।
प्रशस्यमाने यच्छूरे त्वयि षण्ढं प्रशंसति ॥ ६० ॥

विराटने कहा—बेटा! मैंने ही इस कुटिलको मारा है। यह इतने सम्मानके योग्य कदापि नहीं है। देखो न, जब मैं तुम्हारे शौर्यकी प्रशंसा करता हूँ, तब यह उस हिजड़ेकी बड़ाई करने लगता है ॥ ६० ॥

उत्तर उवाच

अकार्यं ते कृतं राजन् क्षिप्रमेव प्रसाद्यताम्।
मा त्वां ब्रह्मविषं घोरं समूलमिह निर्दहेत् ॥ ६१ ॥

उत्तर बोले—राजन्! आपने इन्हें मारकर बड़ा अनुचित कार्य किया है। शीघ्र ही इनको मनाइये; अन्यथा ब्राह्मणका भयंकर क्रोधविष आपको यहाँ जड़-मूलसहित भस्म कर डालेगा ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन उवाच

स पुत्रस्य वचः श्रुत्वा विराटो राष्ट्रवर्धनः।
क्षमयामास कौन्तेयं भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ ६२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पुत्रकी यह बात सुनकर अपने राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाले महाराज विराटने राखमें छिपी हुई अग्निकी भाँति तेजस्वी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे क्षमा माँगी ॥ ६२ ॥

क्षमयन्तं तु राजानं पाण्डवः प्रत्यभाषत।
चिरं क्षान्तमिदं राजन् न मन्युर्विद्यते मम ॥ ६३ ॥

राजाको क्षमा माँगते देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने कहा—'राजन्! मैंने चिरकालसे क्षमाका व्रत ले रक्खा है, अतः आपका यह अपराध क्षमा हो चुका है। मुझे आपपर जरा भी क्रोध नहीं है ॥ ६३ ॥

यदि ह्येतत् पतेद् भूमौ रुधिरं मम नस्ततः।
सराष्ट्रस्त्वं महाराज विनश्येथा न संशयः ॥ ६४ ॥

'महाराज! यदि मेरी नाकसे बहनेवाला यह रक्त धरतीपर गिर जाता, तो आप सारे राष्ट्रके साथ नष्ट हो जाते; इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ६४ ॥

न दूषयामि ते राजन् यद् वै हन्याददूषकम्।
बलवन्तं प्रभुं राजन् क्षिप्रं दारुणमाप्नुयात् ॥ ६५ ॥

'राजन्! जो किसीकी निन्दा या अपराध न करे, उसे मार देना अन्याय है, तथापि मैं आपके इस कार्यकी निन्दा नहीं करता; क्योंकि बलवान् राजाको प्रायः शीघ्र ही ऐसे कठोर कर्म करनेका अवसर प्राप्त हो जाता है' ६५

वैशम्पायन उवाच

शोणिते तु व्यतिक्रान्ते प्रविवेश बृहन्नला।
अभिवाद्य विराटं तु कङ्कं चाप्युपतिष्ठत ॥ ६६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब युधिष्ठिरकी नाकसे रक्त बहना बंद हो गया, उस समय बृहन्नलाने राजसभामें प्रवेश किया। उसने विराटको नमस्कार करके कङ्कको भी प्रणाम किया ॥ ६६ ॥

क्षामयित्वा तु कौरव्यं रणादुत्तरमागतम्।
प्रशशंस ततो मत्स्यः शृण्वतः सव्यसाचिनः ॥ ६७ ॥

इधर मत्स्यनरेश कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे क्षमा माँगकर सव्यसाची अर्जुनके सुनते हुए ही रणभूमिसे आये हुए उत्तरकी प्रशंसा करने लगे—॥ ६७ ॥

त्वया दायादवानस्मि कैकेयीनन्दिवर्धन।
त्वया मे सदृशः पुत्रो न भूतो न भविष्यति ॥ ६८ ॥

'कैकेयीनन्दन! तुम्हें पाकर मैं वास्तवमें पुत्रवान् हूँ। तुम्हारे समान मेरा दूसरा कोई पुत्र न हुआ है, न होगा ही ॥ ६८ ॥

पदं पदसहस्रेण यश्चरन् नापराध्नुयात्।
तेन कर्णेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ६९ ॥
मनुष्यलोके सकले यस्य तुल्यो न विद्यते।
तेन भीष्मेण ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ७० ॥

'तात! जो एक ही लक्ष्यके साथ-साथ सहस्रों लक्ष्योंके वेध करनेके लिये बाण चलाता है और कहीं भी चूकता नहीं है, उस कर्णके साथ तुम्हारा युद्ध किस प्रकार हुआ? बेटा! सारे मनुष्यलोकमें जिनकी समानता करनेवाला कोई नहीं है, उन भीष्मजीके साथ तुम्हारी भिड़न्त किस प्रकार हुई? ॥ ६९-७० ॥

आचार्यो वृष्णिवीराणां कौरवाणां च यो द्विजः।
सर्वक्षत्रस्य चाचार्यः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
तेन द्रोणेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥ ७१ ॥

'तात! जो वृष्णि वीरों और कौरवों दोनोंके आचार्य हैं, अथवा दोनोंके ही नहीं, सम्पूर्ण क्षत्रियोंके आचार्य हैं, समस्त शस्त्रधारियोंमें जिनका सबसे ऊँचा स्थान है, उन द्रोणाचार्यके साथ तुम्हारा संग्राम किस प्रकार हुआ? ॥ ७१ ॥

आचार्यपुत्रो यः शूरः सर्वशस्त्रभृतामपि।
अश्वत्थामेति विख्यातस्तेनासीत् संगरः कथम्॥ ७२॥

'आचार्यके जो शूरवीर पुत्र सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं, जिनकी अश्वत्थामा नामसे ख्याति है, उनके साथ तुम्हारी लड़ाई कैसे हुई ?॥ ७२॥

रणे यं प्रेक्ष्य सीदन्ति हृतस्वा वणिजो यथा।
कृपेण तेन ते तात कथमासीत् समागमः॥ ७३॥

'बेटा ! जैसे वणिक् अपना धन छिन जानेपर दुखी होते हैं, उसी प्रकार युद्धमें जिन्हें देखकर बड़े-बड़े योद्धा शिथिल हो जाते हैं, उन कृपाचार्यके साथ तुम्हारा संग्राम किस प्रकार हुआ ?॥ ७३॥

पर्वतं योऽभिविध्येत राजपुत्रो महेषुभिः।
दुर्योधनेन ते तात कथमासीत् समागमः॥ ७४॥

'तात ! जो राजपुत्र अपने महान् बाणोंसे पर्वतको भी विदीर्ण कर सकता है, उस दुर्योधनके साथ तुम्हारी मुठभेड़ कैसे हुई ?॥ ७४॥

अवगाढा द्विषन्तो मे सुखो वातोऽभिवाति माम्।
यस्त्वं धनमथाजैषीः कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे॥ ७५॥

'बेटा ! कौरवोंने जिस गोधनको संग्राममें हड़प लिया था, उसे तुम जीतकर ले आये, यह बहुत अच्छा हुआ। आज हमारे शत्रु परास्त हो गये, इसलिये आजकी वायु मुझे बड़ी सुख-दायिनी प्रतीत हो रही है॥ ७५॥

तेषां भयाभिपन्नानां सर्वेषां बलशालिनाम्।
नूनं प्रकाल्य तान् नर्वास्त्वया युधि नरर्षभ।
आच्छिन्नं गोधनं सर्वं शार्दूलेनामिषं यथा॥ ७६॥

'नरश्रेष्ठ ! तुमने उन समस्त शत्रुओंको युद्धमें जीतकर उन्हें भयमें डाल दिया है और उन समस्त बलशालियोंके हाथसे अपने सारे गोधनको इस प्रकार छीन लिया है, जैसे सिंह दूसरे जन्तुओंके हाथसे मांस छीन लेता है'॥ ७६॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि विराटोत्तरसंवादे अष्टषष्टितमोऽध्यायः॥ ६८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें विराट-उत्तर-संवादविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ७९ श्लोक हैं)

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

राजा विराट और उत्तरकी विजयके विषयमें बातचीत

उत्तर उवाच

न मया निर्जिता गावो न मया निर्जिताः परे।
कृतं तत् सकलं तेन देवपुत्रेण केनचित्॥ १॥

उत्तरने कहा—पिताजी ! मैंने गौओंको नहीं जीता है और न मैंने शत्रुओंपर ही विजय पायी है। यह सब कार्य तो किसी देवकुमारने किया है॥ १॥

स हि भीतं द्रवन्तं मां देवपुत्रो न्यवर्तयत्।
स चातिष्ठद् रथोपस्थे वज्रसंहननो युवा॥ २॥

मैं तो डरकर भागा आ रहा था; किंतु वज्रके समान सुदृढ़ शरीरवाले उस तरुण देवपुत्रने मुझे लौटाया और वह स्वयं ही रथके पिछले भागमें रथी बनकर बैठ गया॥ २॥

तेन ता निर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः।
तस्य तत् कर्म वीरस्य न मया तात तत् कृतम्॥ ३॥

उसीने उन गौओंको जीता है और कौरवोंको भी परास्त किया है। पिताजी ! यह सब उसी वीरका कर्म है। मैंने कुछ नहीं किया है॥ ३॥

स हि शारद्वतं द्रोणं द्रोणपुत्रं च षड् रथान्।
सूतपुत्रं च भीष्मं च चकार विमुखाञ्छरैः॥ ४॥
दुर्योधनं विकर्णं च सनागमिव यूथपम्।
प्रभग्नमब्रवीद् भीतं राजपुत्रं महाबलः॥ ५॥

उसीने कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण, भीष्म और दुर्योधन—इन छहों महारथियोंको अपने बाणोंसे मार-कर युद्धसे भगा दिया। वहाँ जैसे यूथपति गजराज अपने झुंडके हाथियोंसहित भागा जाता हो, उसी प्रकार दुर्योधन और विकर्ण आदि राजपुत्र भयभीत होकर भागने लगे; तब उस महाबली देवपुत्रने दुर्योधनसे कहा—॥ ४-५॥

न हास्तिनपुरे त्राणं तव पश्यामि किंचन।
व्यायामेन परीप्सस्व जीवितं कौरवात्मज॥ ६॥

'धृतराष्ट्रकुमार ! अब हस्तिनापुरमें तेरी जीवनरक्षाका कोई उपाय मुझे नहीं दिखायी देता; अतः देश-देशान्तरोंमें घूमकर अपनी जान बचा॥ ६॥

न मोक्ष्यसे पलायंस्त्वं राजन् युद्धे मनः कुरु।
पृथिवीं भोक्ष्यसे जित्वा हतो वा स्वर्गमाप्स्यसि॥ ७॥

'राजन् ! भागनेसे तू नहीं बच सकता। युद्धमें मन लगा। जीत लेगा, तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा अथवा मारे जानेपर तुझे स्वर्ग मिलेगा'॥ ७॥

स निवृत्तो नरव्याघ्रो मुञ्चन् वज्रनिभाञ्छरान्।
सचिवैः संवृतो राजा रथे नाग इव श्वसन्॥ ८॥

महाराज ! इतना सुनना था कि नरश्रेष्ठ दुर्योधन साँपकी भाँति फुँफकारता हुआ रथके द्वारा लौट आया और

मन्त्रियोंसे घिरकर उस देवपुत्रपर वज्र-सरीखे बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ८ ॥

तं दृष्ट्वा रोमहर्षोऽभूदूरुकम्पश्च मारिष ।
स तत्र सिंहसंकाशमनीकं व्यधमच्छरैः ॥ ९ ॥

मारिष ! उस समय उसे देखकर मेरे तो रोंगटे खड़े हो गये और जाँघें काँपने लगीं; किंतु उस देवपुत्रने अपने बाणोंद्वारा सिंहके समान पराक्रमी दुर्योधन और उसकी सेनाको संतप्त कर दिया ॥ ९ ॥

तत् प्रणुद्य रथानीकं सिंहसंहननो युवा ।
कुरूंस्तान् प्रहसन् राजन् संस्थितान् हृतवाससः॥१०॥
एकेन तेन वीरेण षड् रथाः परिनिर्जिताः ।
शार्दूलेनेव मत्तेन यथा वनचरा मृगाः ॥ ११ ॥

सिंहके समान सुदृढ़ शरीरवाले उस तरुण वीरने रथारोहियोंकी सेनाको छिन्न-भिन्न करके हँसते-हँसते उन कौरवोंको भी धराशायी कर दिया, जिससे उनके कपड़े उतार लिये गये। जैसे मदोन्मत्त सिंह वनमें विचरनेवाले मृगोंको परास्त करता है, उसी प्रकार उस वीर देवपुत्रने अकेले ही उन छः महारथियोंको हराया है ॥ १०-११ ॥

विराट उवाच

क स वीरो महाबाहुर्देवपुत्रो महायशाः ।
यो मे धनमथाजैषीत् कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे ॥ १२ ॥
इच्छामि तमहं द्रष्टुमर्चितुं च महाबलम् ।
येन मे त्वं च गावश्च रक्षिता देवसूनुना ॥ १३ ॥

विराटने पूछा—बेटा ! वह महायशस्वी महाबाहु वीर देवपुत्र कहाँ है, जिसने युद्धमें कौरवोंद्वारा काबूमें की हुई मेरी गौओंको जीता है ? जिस देवकुमारने तुम्हें और मेरी गौओंको भी बचाया है, मैं उस महापराक्रमी वीरको देखना और उसका सत्कार करना चाहता हूँ ॥ १२-१३ ॥

उत्तर उवाच

अन्तर्धानं गतस्तत्र देवपुत्रो महाबलः ।
स तु श्वो वा परश्वो वा मन्ये प्रादुर्भविष्यति ॥ १४ ॥

उत्तरने कहा—पिताजी ! वह महाबली देवपुत्र वहीं अन्तर्धान हो गया; किंतु मेरा विश्वास है कि वह कल या परसों यहाँ फिर प्रकट होगा ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाख्यायमानं तु छन्नं सत्रेण पाण्डवम् ।
वसन्तं तत्र नाज्ञासीद् विराटो वाहिनीपतिः ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार संकेतपूर्वक बतानेपर भी सेनाओंके स्वामी राजा विराट नपुंसक-वेशमें छिपकर वहीं रहनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनको पहचान न सके ॥ १५ ॥

ततः पार्थोऽभ्यनुज्ञातो विराटेन महात्मना ।
प्रददौ तानि वासांसि विराटदुहितुः स्वयम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर महामना विराटकी आज्ञासे बृहन्नलारूपी अर्जुनने स्वयं विराटकन्या उत्तराको वे सब कपड़े, जो महारथियोंके शरीरसे उतारे गये थे, दे दिये ॥ १६ ॥

उत्तरा तु महार्हाणि विविधानि नवानि च ।
प्रतिगृह्याभवत् प्रीता तानि वासांसि भामिनी॥ १७॥
मन्त्रयित्वा तु कौन्तेय उत्तरेण महात्मना ।
इतिकर्तव्यतां सर्वां राजन् पार्थे युधिष्ठिरे ॥ १८ ॥
ततस्तथा तद् व्यदधाद् यथावत् पुरुषर्षभ ।
सह पुत्रेण मत्स्यस्य प्रहृष्टा भरतर्षभाः ॥ १९ ॥

भामिनी उत्तरा उन भाँति-भाँतिके नवीन एवं बहुमूल्य वस्त्रोंको लेकर बहुत प्रसन्न हुई। जनमेजय ! कुन्तीनन्दन अर्जुनने महामना उत्तरके साथ राजा युधिष्ठिरको प्रकट करनेके विषयमें सलाह की और क्या-क्या करना चाहिये, इन सब बातोंका निश्चय कर लिया। नरश्रेष्ठ ! तदनन्तर उन्होंने उसी निश्चयके अनुसार सब कार्य ठीक-ठीक किया। भरतकुलशिरोमणि पाण्डव मत्स्यनरेशके पुत्र उत्तरके साथ वह सब व्यवस्था करके बड़े प्रसन्न हुए ॥ १७-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि विराटोत्तरसंवादे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें विराट-उत्तर-संवादविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

(वैवाहिकपर्व)

सप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका राजा विराटको महाराज युधिष्ठिरका परिचय देना

वैशम्पायन उवाच

ततस्तृतीये दिवसे भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
स्नाताः शुक्लाम्बरधराः समये चरितव्रताः ॥ १ ॥
युधिष्ठिरं पुरस्कृत्य सर्वाभरणभूषिताः ।
द्वारि मत्ता यथा नागा भ्राजमाना महारथाः ॥ २ ॥
विराटस्य सभां गत्वा भूमिपालासनेष्वथ ।
निषेदुः पावकप्रख्याः सर्वे धिष्ण्येष्विवाग्नयः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर

नियत समयतक अपनी प्रतिज्ञाका पालन करके अग्निके समान तेजस्वी पाँचों भाई महारथी पाण्डव तीसरे दिन स्नान करके श्वेत वस्त्र धारणकर समस्त राजोचित आभूषणोंसे विभूषित हो राजसभामें द्वारपर स्थित मदोन्मत्त गजराजोंकी भाँति सुशोभित होने लगे। वे राजा युधिष्ठिरको आगे करके विराटकी सभामें गये और राजाओंके लिये रक्खे हुए सिंहासनोंपर बैठे। उस समय वे भिन्न-भिन्न यज्ञवेदियोंपर प्रज्वलित अग्नियोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १—३ ॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु विराटः पृथिवीपतिः।
आजगाम सभां कर्तुं राजकार्याणि सर्वशः ॥ ४ ॥

पाण्डवोंके वहाँ बैठ जानेपर राजा विराट अपने समस्त राजकाज करनेके लिये सभामें आये ॥ ४ ॥

श्रीमतः पाण्डवान् दृष्ट्वा ज्वलतः पावकानिव।
मुहूर्तमिव च ध्यात्वा सरोषः पृथिवीपतिः ॥ ५ ॥
अथ मत्स्योऽब्रवीत् कङ्कं देवरूपमिव स्थितम्।
मरुद्गणैरुपासीनं त्रिदशानामिवेश्वरम् ॥ ६ ॥

वहाँ प्रज्वलित अग्नियोंके समान तेजस्वी श्रीसम्पन्न पाण्डवोंको देखकर पृथ्वीपति विराटने दो घड़ीतक मन-ही-मन कुछ विचार किया। फिर वे कुपित होकर देवताके समान स्थित मरुद्गणोंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रके तुल्य सुशोभित कङ्कसे बोले—॥ ५-६ ॥

स किलाक्षातिवापस्त्वं सभास्तारो मया वृतः।
अथ राजासने कस्मादुपविष्टस्त्वलंकृतः ॥ ७ ॥

'कङ्क ! तुम्हें तो मैंने पासा फेंकनेवाला सभासद् बनाया था। आज बन-ठनकर राजसिंहासनपर कैसे बैठ गये ?' ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

परिहासेप्सया वाक्यं विराटस्य निशम्य तत्।
स्मयमानोऽर्जुनो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मानो परिहास करनेके लिये कहा गया हो, ऐसा विराटका वह वचन सुनकर अर्जुन मुसकराते हुए इस प्रकार बोले ॥ ८ ॥

अर्जुन उवाच

इन्द्रस्यार्धासनं राजन्नयमारोढुमर्हति।
ब्रह्मण्यः श्रुतवांस्त्यागी यज्ञशीलो दृढव्रतः ॥ ९ ॥

अर्जुनने कहा—राजन् ! आपके राजासनकी तो बात ही क्या है, ये तो इन्द्रके भी आधे सिंहासनपर बैठनेके अधिकारी हैं। ये ब्राह्मणभक्त, शास्त्रोंके विद्वान्, त्यागी, यज्ञशील तथा दृढ़ताके साथ अपने व्रतका पालन करनेवाले हैं ॥ ९ ॥

एष विग्रहवान् धर्म एष वीर्यवतां वरः।
एष बुद्ध्याधिको लोके तपसां च परायणम् ॥ १० ॥
एषोऽस्त्रं विविधं वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे।
न चैवान्यः पुमान् वेत्ति न वेत्स्यति कदाचन ॥ ११ ॥

ये मूर्तिमान् धर्म हैं तथा पराक्रमी पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं। इस जगत्में ये सबसे बढ़कर बुद्धिमान् और तपस्याके परम आश्रय हैं। ये नाना प्रकारके ऐसे अस्त्रोंको जानते हैं, जिन्हें इस चराचर त्रिलोकीमें दूसरा मनुष्य न तो जानता है और न कभी जान सकेगा ॥ १०-११ ॥

न देवा नासुराः केचिन्न मनुष्या न राक्षसाः।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिंनरमहोरगाः ॥ १२ ॥

जिन अस्त्रोंको देवता, असुर, मनुष्य, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और बड़े-बड़े नाग भी नहीं जानते, उन सबका इन्हें ज्ञान है ॥ १२ ॥

दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः।
पाण्डवानामतिरथो यज्ञधर्मपरो वशी ॥ १३ ॥

ये दीर्घदर्शी, महातेजस्वी तथा नगर और देशके लोगोंको अत्यन्त प्रिय हैं। ये पाण्डवोंमें अतिरथी वीर हैं एवं सदा यज्ञ और धर्मके अनुष्ठानमें संलग्न तथा मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले हैं ॥ १३ ॥

महर्षिकल्पो राजर्षिः सर्वलोकेषु विश्रुतः।
बलवान् धृतिमान् दक्षः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
धनैश्च संचयैश्चैव शक्रवैश्रवणोपमः ॥ १४ ॥

ये महर्षियोंके समान हैं, राजर्षि हैं और समस्त लोकोंमें विख्यात हैं। बलवान्, धैर्यवान्, चतुर, सत्यवादी और जितेन्द्रिय हैं। धन और संग्रहकी दृष्टिसे ये इन्द्र और कुबेरके समान हैं ॥ १४ ॥

यथा मनुर्महातेजा लोकानां परिरक्षिता।
एवमेष महातेजाः प्रजानुग्रहकारकः ॥ १५ ॥

जैसे महातेजस्वी मनु समस्त लोकोंके रक्षक हैं, उसी प्रकार ये महातेजस्वी नरेश भी प्रजाजनोंपर अनुग्रह करनेवाले हैं ॥ १५ ॥

अयं कुरूणामृषभो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
अस्य कीर्तिः स्थिता लोके सूर्यस्येवोद्यतः प्रभा ॥ १६ ॥

ये ही कुरुवंशमें सर्वश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर हैं। उदयकालके सूर्यकी शान्त प्रभाके समान इनकी सुखदायिनी कीर्ति समस्त संसारमें फैली हुई है ॥ १६ ॥

संसरन्ति दिशः सर्वा यशसोऽस्य इवांशवः।
उदितस्येव सूर्यस्य तेजसोऽनु गभस्तयः ॥ १७ ॥

जैसे सूर्योदय होनेपर सूर्यके तेजके पश्चात् उनकी किरणें समस्त दिशाओंमें फैल जाती हैं, उसी प्रकार इनके सुयशके साथ-साथ उसकी सुधाधवल किरणें समस्त दिशाओंमें छा रही हैं ॥ १७ ॥

एवं दशसहस्राणि कुञ्जराणां तरस्विनाम्।
अन्वयुः पृष्ठतो राजन् यावदध्यावसत् कुरून्॥ १८॥

राजन्! ये महाराज जब कुरुदेशमें रहते थे, उस समय इनके पीछे दस हजार वेगवान् हाथी चला करते थे॥ १८॥

त्रिंशदेनं सहस्राणि रथाः काञ्चनमालिनः।
सदश्वैरुपसम्पन्नाः पृष्ठतोऽनुययुस्तदा॥ १९॥

इसी प्रकार अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णमालामण्डित तीस हजार रथ भी उस समय इनका अनुसरण करते थे॥ १९॥

एनमष्टशताः सूताः सुमृष्टमणिकुण्डलाः।
अब्रुवन् मागधैः सार्धं पुरा शक्रमिवर्षयः॥ २०॥

जैसे महर्षिगण इन्द्रकी स्तुति करते हैं, उसी प्रकार पहले विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण किये आठ सौ सूत और मागध इनके गुण गाते थे॥ २०॥

एनं नित्यमुपासन्त कुरवः किंकरा यथा।
सर्वे च राजन् राजानो धनेश्वरमिवामराः॥ २१॥

राजन्! जैसे देवगण धनाध्यक्ष कुबेरका दरबार किया करते हैं, वैसे ही सब राजा और कौरव किंकरोंकी भाँति इनकी नित्य उपासना करते थे॥ २१॥

एष सर्वान् महीपालान् करदान् समकारयत्।
वैश्यानिव महाभागो विवशान् स्ववशानपि॥ २२॥
अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम्।
उपजीवन्ति राजानमेनं सुचरितव्रतम्॥ २३॥

इन महाभाग नरेशने इस देशके सब राजाओंको वैश्योंकी भाँति स्ववश (अपने अधीन) और विवश करके कर देनेवाला बना दिया था। (अर्थात् सब राजा इन्हें कर दिया करते थे।) अत्यन्त उत्तम व्रतका पालन करनेवाले इन महाराजके यहाँ प्रतिदिन अट्ठासी हजार महाबुद्धिमान् स्नातकोंकी जीविका चलती थी॥ २२-२३॥

एष वृद्धाननाथांश्च पङ्गूनन्धांश्च मानवान्।
पुत्रवत् पालयामास प्रजा धर्मेण वै विभुः॥ २४॥

ये बूढ़े, अनाथ, पङ्गु और अंधे मनुष्योंका भी स्नेहपूर्वक पालन करते थे। ये नरेश अपनी प्रजाकी धर्मपूर्वक पुत्रकी भाँति रक्षा करते थे॥ २४॥

एष धर्मे दमे चैव क्रोधे चापि जितव्रतः।
महाप्रसादो ब्रह्मण्यः सत्यवादी च पार्थिवः॥ २५॥

ये भूपाल धर्म और इन्द्रियसंयममें तत्पर तथा क्रोधको काबूमें रखनेके लिये दृढ़प्रतिज्ञ हैं। ये बड़े कृपालु, ब्राह्मणभक्त और सत्यवक्ता हैं॥ २५॥

शीघ्रं तापेन चैतस्य तप्यते स सुयोधनः।
सगणः सह कर्णेन सौबलेनापि वा विभुः॥ २६॥

इनके प्रतापसे दुर्योधन शक्तिशाली होकर भी कर्ण, शकुनि तथा अपने गणोंके साथ शीघ्र ही संतप्त होनेवाला है॥ २६॥

न शक्यन्ते ह्यस्य गुणाः प्रसंख्यातुं नरेश्वर।
एष धर्मपरो नित्यमानृशंस्यश्च पाण्डवः॥ २७॥
एवं युक्तो महाराजः पाण्डवः पार्थिवर्षभः।
कथं नार्हति राजार्हमासनं पृथिवीपते॥ २८॥

नरेश्वर! इनके सद्गुणोंकी गणना नहीं की जा सकती। ये पाण्डुनन्दन नित्य धर्मपरायण तथा दयालु स्वभावके हैं। राजन्! समस्त राजाओंके शिरोमणि पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर इस प्रकार सर्वोत्तम गुणोंसे युक्त होकर भी राजोचित आसनके अधिकारी क्यों नहीं हैं?॥ २७-२८॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि पाण्डवप्रकाशे सप्ततितमोऽध्यायः॥ ७०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें पाण्डवप्राकट्यविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७०॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

विराटको अन्य पाण्डवोंका भी परिचय प्राप्त होना तथा विराटके द्वारा युधिष्ठिरको राज्य समर्पण करके अर्जुनके साथ उत्तराके विवाहका प्रस्ताव करना

विराट उवाच

यद्येष राजा कौरव्यः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
कतमोऽस्यार्जुनो भ्राता भीमश्च कतमो बली॥ १॥
नकुलः सहदेवो वा द्रौपदी वा यशस्विनी।
यदा द्यूतजिताः पार्था न प्राज्ञायन्त ते क्वचित्॥ २॥

विराटने पूछा—यदि ये कुरुकुलके रत्न कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर हैं, तो इनमें कौन इनके भाई अर्जुन हैं, कौन महाबली भीम हैं? नकुल, सहदेव अथवा यशस्विनी द्रौपदी कौन हैं? जबसे कुन्तीपुत्र जूएमें हार गये, तबसे उनका कहीं भी पता नहीं लगा॥ १-२॥

अर्जुन उवाच

य एष बल्लवो ब्रूते सूदस्तव नराधिप।
एष भीमो महाराज भीमवेगपराक्रमः॥ ३

अर्जुन बोले—महाराज ! ये जो बल्लवनामधारी आपके रसोइये हैं, ये ही भयंकर वेग और पराक्रमवाले भीमसेन हैं ॥ ३ ॥

एष क्रोधवशान् हत्वा पर्वते गन्धमादने ।
सौगन्धिकानि दिव्यानि कृष्णार्थे समुपाहरत् ॥ ४ ॥
गन्धर्व एष वै हन्ता कीचकानां दुरात्मनाम् ।
व्याघ्रानृक्षान् वराहांश्च हतवान् स्त्रीपुरे तव ॥ ५ ॥

ये ही गन्धमादन पर्वतपर क्रोधवश नामवाले राक्षसोंको मारकर द्रौपदीके लिये दिव्य सौगन्धिक कमल ले आये थे। दुरात्मा कीचकोंका संहार करनेवाले गन्धर्व भी ये ही हैं। इन्होंने ही आपके अन्तःपुरमें अनेक व्याघ्रों, भालुओं और वराहोंका वध किया है ॥ ४-५ ॥

(हिडिम्बं च वकं चैव किर्मीरं च जटासुरम् ।
हत्वा निष्कण्टकं चक्रेऽरण्यं सर्वतः सुखम् ॥)

इन्होंने ही हिडिम्ब, वकासुर, किर्मीर और जटासुरको मारकर वनको सर्वथा निष्कण्टक और सुखमय बनाया था ॥

यश्चासीदश्वबन्धस्ते नकुलोऽयं परंतपः ।
गोसङ्ख्यः सहदेवश्च माद्रीपुत्रौ महारथौ ॥ ६ ॥
शृङ्गारवेषाभरणौ रूपवन्तौ यशस्विनौ ।
महारथसहस्राणां समर्थौ भरतर्षभौ ॥ ७ ॥

और ये शत्रुओंको संताप देनेवाले नकुल जो अबतक आपके यहाँ अश्वशालाके प्रबन्धक रहे हैं और ये सहदेव हैं, जो गौओंकी सँभाल करते आये हैं। ये दोनों (हमारी माता) माद्रीके पुत्र एवं महारथी वीर हैं। उत्तम शृङ्गार, सुन्दर वेष और आभूषणोंसे सुशोभित ये दोनों भाई बड़े ही रूपवान् और यशस्वी हैं। भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ ये नकुल-सहदेव युद्धमें सहस्रों महारथियोंका सामना करनेमें समर्थ हैं ॥ ६-७ ॥

एषा पद्मपलाशाक्षी सुमध्या चारुहासिनी ।
सैरन्ध्री द्रौपदी राजन् यस्यार्थे कीचका हताः ॥ ८ ॥

राजन् ! यह विकसित कमलदलके समान विशाल नेत्र, सुन्दर कटिप्रदेश और मनोहर मुसकानवाली सैरन्ध्री ही महारानी द्रौपदी है, जिसके धर्मकी रक्षाके लिये कीचकोंका वध किया गया ॥ ८ ॥

अर्जुनोऽहं महाराज व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः ।
भीमादवरजः पार्थो यमाभ्यां चापि पूर्वजः ॥ ९ ॥

महाराज ! मैं ही अर्जुन हूँ। अवश्य मेरा नाम भी आपके कानोंमें पड़ा होगा। मैं कुन्तीदेवीका पुत्र हूँ। भीमसेनसे छोटा और नकुल-सहदेवसे बड़ा हूँ ॥ ९ ॥

उषिताः स्मो महाराज सुखं तव निवेशने ।
अज्ञातवासमुषिता गर्भवास इव प्रजाः ॥ १० ॥

राजन् ! हमलोगोंने बड़े सुखसे आपके महलमें अज्ञातवासका समय बिताया है। जैसे संतान गर्भवासमें रही हो, उसी प्रकार हम भी यहाँ अज्ञातवासमें रहे हैं ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

यदार्जुनेन ते वीराः कथिताः पञ्च पाण्डवाः ।
तदार्जुनस्य वैराटिः कथयामास विक्रमम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जब अर्जुनने पाँचों पाण्डव वीरोंका परिचय दे दिया, तब विराटकुमार उत्तरने अर्जुनका पराक्रम बताया ॥ ११ ॥

पुनरेव च तान् पार्थान् दर्शयामास चोत्तरः ॥ १२ ॥

साथ ही उन्होंने पाँचों पाण्डवोंका एक-एक करके पुनः राजाको परिचय दिया ॥ १२ ॥

उत्तर उवाच

य एष जाम्बूनदशुद्धगौर-
तनुर्महान् सिंह इव प्रवृद्धः ।
प्रचण्डघोणः पृथुदीर्घनेत्र-
स्ताम्रायताक्षः कुरुराज एषः ॥ १३ ॥

उत्तर बोले—पिताजी ! विशुद्ध जाम्बूनद नामक सुवर्णके समान जिनका गौर शरीर है, जो सबसे बड़े और सिंहके समान हृष्ट-पुष्ट हैं, जिनकी नाक लंबी और बड़े-बड़े नेत्र कुछ लालिमा लिये कानोंतक फैले हुए हैं, ये ही कुरुकुल-नरेश महाराज युधिष्ठिर हैं ॥ १३ ॥

अयं पुनर्मत्तगजेन्द्रगामी
प्रतप्तचामीकरशुद्धगौरः ।
पृथ्वायतांसो गुरुदीर्घबाहु-
र्वृकोदरः पश्यत पश्यतैनम् ॥ १४ ॥

और ये जो मतवाले गजराजकी भाँति मस्तानी चालसे चलनेवाले हैं, तपाये हुए सुवर्णके समान जिनका विशुद्ध गौर शरीर है, जिनके कंधे मोटे और चौड़े हैं तथा भुजाएँ बड़ी-बड़ी और भारी हैं, ये ही भीमसेन हैं। इन्हें अच्छी तरह देखिये ॥ १४ ॥

यस्त्वेव पार्श्वेऽस्य महाधनुष्मान्
श्यामो युवा वारणयूथपोपमः ।
सिंहोन्नतांसो गजराजगामी
पद्मायताक्षोऽर्जुन एष वीरः ॥ १५ ॥

इनके बगलमें जो ये महान् धनुर्धर श्याम वर्णके तरुण वीर विराज रहे हैं, जो यूथपति गजराजके समान शोभा पाते हैं, जिनके कंधे सिंहके समान ऊँचे और चाल मतवाले हाथीके समान मस्तानी है, ये ही कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाले वीरवर अर्जुन हैं ॥ १५ ॥

राज्ञः समीपे पुरुषोत्तमौ तु
यमाविमौ विष्णुमहेन्द्रकल्पौ ।
मनुष्यलोके सकले समोऽस्ति
ययोर्न रूपे न बले न शीले ॥ १६ ॥

महाराज युधिष्ठिरके समीप बैठे हुए वे इन्द्र और उपेन्द्रके समान दोनों नरश्रेष्ठ माद्रीके जुड़वें पुत्र नकुल-सहदेव हैं। सम्पूर्ण मानव-जगत्में इनके रूप, बल और शीलकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ १६ ॥

आभ्यां तु पार्श्वे कनकोत्तमाङ्गी
यैषा प्रभा मूर्तिमतीव गौरी ।
नीलोत्पलाभा सुरदेवतेव
कृष्णा स्थिता मूर्तिमतीव लक्ष्मीः ॥ १७ ॥

इन दोनोंके बगलमें ये जो तेजस्विनी देवी मूर्तिमती गौरीके समान खड़ी हैं, जिनके उत्तम अङ्गोंसे सुनहरी छटा छिटक रही है, जिनकी कान्ति नीलकमलकी आभाको लज्जित कर रही है तथा जो देवताओंकी भी देवी और साकाररूपमें प्रकट हुई लक्ष्मीके समान शोभा पा रही हैं, ये ही द्रुपद-कुमारी महारानी कृष्णा हैं ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं निवेद्य तान् पार्थान् पाण्डवान् पञ्च भूपतेः ।
ततोऽर्जुनस्य वैराटिः कथयामास विक्रमम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार उन पाँचों कुन्तीपुत्र पाण्डवोंका राजाको परिचय देकर विराटकुमारने अर्जुनका पराक्रम बताना प्रारम्भ किया ॥ १८ ॥

उत्तर उवाच

अयं स द्विषतां हन्ता मृगाणामिव केसरी ।
अचरद् रथवृन्देषु निघ्नंस्तांस्तान् वरान् रथान् ॥ १९ ॥

उत्तरने कहा—पिताजी ! ये ही वे देवपुत्र हैं, जो शत्रुओंका उसी प्रकार वध करते हैं, जैसे सिंह मृगोंका। ये ही कौरव रथारोहियोंकी सेनामें उन सब श्रेष्ठ महारथियोंको घायल करते हुए निर्भय विचर रहे थे ॥ १९ ॥

अनेन विद्धो मातङ्गो महानेकेषुणा हतः ।
सुवर्णकक्षः संग्रामे दन्ताभ्यामगमन्महीम् ॥ २० ॥

युद्धमें इनके एक ही बाणसे घायल होकर विकर्णका विशाल गजराज, जो सोनेकी साँकलसे सुशोभित था, धरतीपर दोनों दाँत टेककर मर गया ॥ २० ॥

अनेन विजिता गावो जिताश्च कुरवो युधि ।
अस्य शङ्खप्रणादेन कर्णौ मे बधिरीकृतौ ॥ २१ ॥

इन्होंने ही गौओंको जीता और युद्धमें कौरवोंको परास्त किया है। इनके शङ्खकी गम्भीर ध्वनि सुनकर मेरे तो कान बहरे हो गये थे ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा मत्स्यराजः प्रतापवान् ।
उत्तरं प्रत्युवाचेदमभिपन्नो युधिष्ठिरे ॥ २२ ॥
प्रसादनं पाण्डवस्य प्राप्तकालं हि रोचते ।
उत्तरां च प्रयच्छामि पार्थाय यदि मन्यसे ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उत्तरकी वह बात सुनकर प्रतापी मत्स्यनरेश, जो युधिष्ठिरके अपराधी थे, अपने पुत्रसे इस प्रकार बोले—'बेटा ! यह पाण्डवोंको प्रसन्न करनेका समय आया है। मेरी ऐसी ही रुचि है। यदि तुम्हारी राय हो, तो मैं कुमारी उत्तराका विवाह कुन्तीपुत्र अर्जुनसे कर दूँ' ॥ २२-२३ ॥

उत्तर उवाच

आर्याः पूज्याश्च मान्याश्च प्राप्तकालं च मे मतम् ।
पूज्यन्तां पूजनार्हाश्च महाभागाश्च पाण्डवाः ॥ २४ ॥

उत्तरने कहा—पिताजी ! पाण्डवलोग महान् सौभाग्यशाली हैं। ये सर्वथा श्रेष्ठ, पूजनीय और सम्मानके योग्य हैं। मेरी समझमें इनके सत्कारका हमें अवसर भी मिल गया है, अतः इन पूजने योग्य पाण्डवोंका आप अवश्य पूजन करें ॥ २४ ॥

विराट उवाच

अहं खल्वपि संग्रामे शत्रूणां वशमागतः ।
मोक्षितो भीमसेनेन गावश्चापि जितास्तथा ॥ २५ ॥

विराट बोले—बेटा ! मैं भी त्रिगर्तोंके साथ होनेवाले संग्राममें शत्रुओंके वशीभूत हो गया था, किंतु भीमसेनने मुझे छुड़ाया और हमारी सब गौओंको भी जीता ॥ २५ ॥

एतेषां बाहुवीर्येण अस्माकं विजयो मृधे ।
एवं सर्वे सहामात्याः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
प्रसादयामो भद्रं ते सानुजं पाण्डवर्षभम् ॥ २६ ॥

इन पाण्डवोंके ही बाहुबलसे संग्राममें हमारी विजय हुई है; इसलिये वत्स ! तुम्हारा भला हो। हम सब लोग मन्त्रियोंसहित चलकर पाण्डवश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको उनके छोटे भाइयोंसहित प्रसन्न करें ॥ २६ ॥

यदस्माभिरजानद्भिः किंचिदुक्तो नराधिपः ।
क्षन्तुमर्हति तत् सर्वं धर्मात्मा ह्येष पाण्डवः ॥ २७ ॥

हमने अनजानमें उनके प्रति जो कुछ अनुचित कह दिया है, वह सब ये धर्मात्मा पाण्डुपुत्र महाराज युधिष्ठिर क्षमा करें ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो विराटः परमाभितुष्टः
समेत्य राजा समयं चकार ।
राज्यं च सर्वं विससर्ज तस्मै
सदण्डकोशं सपुरं महात्मा ॥ २८ ॥

पाण्डवांश्च ततः सर्वान् मत्स्यराजः प्रतापवान्।
धनंजयं पुरस्कृत्य दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रवीत्॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर राजा विराटने बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने पुत्रसे मिलकर कुछ विचार किया, फिर उन महामनाने दण्ड, कोश और नगर आदिसहित सम्पूर्ण राज्य युधिष्ठिरको समर्पित कर दिया। फिर प्रतापी मत्स्यराज अर्जुनको आगे रखकर सब पाण्डवोंसे मिले और यह कहने लगे कि हमारा बड़ा सौभाग्य है, हमारा बड़ा सौभाग्य है; जो आपलोगोंका दर्शन हुआ॥ २८-२९॥

समुपाघ्राय मूर्धानं संश्लिष्य च पुनः पुनः।
युधिष्ठिरं च भीमं च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ॥ ३०॥

फिर उन्होंने युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवका बार-बार मस्तक सूँघा और सबको हृदयसे लगाया॥ ३०॥

नातृप्यद् दर्शने तेषां विराटो वाहिनीपतिः।
स प्रीयमाणो राजानं युधिष्ठिरमथाब्रवीत्॥ ३१॥

सेनाओंके स्वामी राजा विराट पाण्डवोंको देख-देखकर तृप्त नहीं होते थे। वे प्रेमपूर्वक राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥

दिष्ट्या भवन्तः सम्प्राप्ताः सर्वे कुशलिनो वनात्।
दिष्ट्या सम्पालितं कृच्छ्रमज्ञातं वै दुरात्मभिः॥ ३२॥

'बड़े सौभाग्यकी बात है, जो आप सब लोग वनसे कुशलपूर्वक लौट आये। दुरात्मा कौरवोंसे अज्ञात रहकर आपने यह कष्टसाध्य अज्ञातवासका नियम पूरा कर लिया, यह भी बड़े आनन्दकी बात है॥ ३२॥

इदं च राज्यं पार्थाय यच्चान्यदपि किञ्चन।
प्रतिगृह्णन्तु तत् सर्वं पाण्डवा अविशङ्कया॥ ३३॥

'मेरा यह राज्य कुन्तीपुत्रको समर्पित है। इसके सिवा और भी जो कुछ मेरे पास है, वह सब पाण्डवलोग बिना किसी संकोचके ग्रहण करें॥ ३३॥

उत्तरां प्रतिगृह्णातु सव्यसाची धनंजयः।
अयं ह्यौपयिको भर्ता तस्याः पुरुषसत्तमः॥ ३४॥

'सव्यसाची धनंजय मेरी कन्या उत्तराको पत्नीरूपमें स्वीकार करें। ये नरश्रेष्ठ उसके लिये सर्वथा योग्य पति हैं'॥ ३४॥

एवमुक्तो धर्मराजः पार्थमैक्षद् धनंजयम्।
ईक्षितश्चार्जुनो भ्रात्रा मत्स्यं वचनमब्रवीत्॥ ३५॥
प्रतिगृह्णाम्यहं राजन् स्नुषां दुहितरं तव।
युक्तश्चावां हि सम्बन्धो मत्स्यभारतयोरपि॥ ३६॥

राजा विराटके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने कुन्तीनन्दन अर्जुनकी ओर देखा। भाईके देखनेपर अर्जुनने मत्स्यराजसे इस प्रकार कहा—'राजन्! मैं आपकी पुत्रीको अपनी पुत्रवधूके रूपमें स्वीकार करता हूँ। मत्स्य और भरतवंशका यह सम्बन्ध सर्वथा उचित है'॥ ३५-३६॥

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि उत्तराविवाहप्रस्तावे एकसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें उत्तराविवाहप्रस्तावविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७१॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३७ श्लोक हैं)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका अपनी पुत्रवधूके रूपमें उत्तराको ग्रहण करना एवं अभिमन्यु और उत्तराका विवाह

विराट उवाच

किमर्थं पाण्डवश्रेष्ठ भार्यां दुहितरं मम।
प्रतिग्रहीतुं नेमां त्वं मया दत्तामिहेच्छसि॥ १॥

विराट बोले—पाण्डवश्रेष्ठ! मैं स्वयं तुम्हें अपनी कन्या दे रहा हूँ, फिर तुम उसे अपनी पत्नीके रूपमें क्यों नहीं स्वीकार करते?॥ १॥

अर्जुन उवाच

अन्तःपुरेऽहमुषितः सदा पश्यन् सुतां तव।
रहस्यं च प्रकाशं च विश्वस्ता पितृवन्मयि॥ २॥
प्रियो बहुतमश्चासं नर्तको गीतकोविदः।
आचार्यवच्च मां नित्यं मन्यते दुहिता तव॥ ३॥

अर्जुनने कहा—राजन्! मैं बहुत समयतक आपके रनिवासमें रहा हूँ और आपकी कन्याको एकान्तमें तथा सबके सामने भी (पुत्रीभावसे ही) देखता आया हूँ। उसने भी मुझपर पिताकी भाँति ही विश्वास किया है। मैं नाचता तो था ही, गानविद्यामें भी कुशल हूँ; अतः उसका मेरे प्रति बहुत अधिक प्रेम रहा है, किंतु आपकी पुत्री मुझे सदा आचार्य (गुरु) की भाँति मानती आयी है॥ २-३॥

वयःस्थया तया राजन् सह संवत्सरोषितः।
अतिशङ्का भवेत् स्थाने तव लोकस्य वा विभो॥ ४॥

राजन्! जब वह वयस्क हो चुकी थी तब मैं उसके साथ एक वर्षतक रह चुका हूँ। प्रभो! (ऐसी अवस्थामें यदि मैं उसके साथ विवाह करूँगा, तो) आपको या और किसी मनुष्यको हमारे चरित्रके विषयमें (अवश्य ही) संदेह होगा और वह युक्तिसंगत ही होगा॥ ४॥

तस्मान्निमन्त्रयेऽहं ते दुहितां मनुजाधिप।
शुद्धो जितेन्द्रियो दान्तस्तस्याः शुद्धिः कृता मया॥५॥

महाराज ! वह संदेह न हो, इसके लिये मैं आपकी पुत्रीको पुत्रवधूके रूपमें ही ग्रहण करूँगा। ऐसा होनेपर ही मैं शुद्धचरित्र, जितेन्द्रिय तथा मनको दमन करनेवाला समझा जाऊँगा और इसीसे मेरेद्वारा आपकी कन्याके चरित्रकी शुद्धि स्पष्ट हो जायगी ॥ ५ ॥

स्नुषायां दुहितुर्वापि पुत्रे चात्मनि वा पुनः।
अत्र शङ्कां न पश्यामि तेन शुद्धिर्भविष्यति ॥ ६ ॥

पुत्रवधू और पुत्रीमें तथा पुत्र अथवा आत्मामें भेद नहीं है, अतः उसे पुत्रवधूके रूपमें ग्रहण करनेपर मुझे कलङ्ककी शंका नहीं दिखायी देती और इससे हम दोनोंकी पवित्रता भी स्पष्ट हो जायगी ॥ ६ ॥

अभिशापादहं भीतो मिथ्यावादात् परंतप।
स्नुषार्थमुत्तरां राजन् प्रतिगृह्णामि ते सुताम्॥ ७ ॥

परंतप ! मैं अभिशाप और मिथ्यावादसे डरता हूँ, (यदि मैं आपकी पुत्रीको पत्नीरूपमें ग्रहण करूँ, तो लोग यह कल्पना कर सकते हैं कि इन दोनोंमें पहलेसे ही अनुचित सम्बन्ध था); इसलिये राजन् ! मैं आपकी पुत्री उत्तराको पुत्रवधूके रूपमें ही ग्रहण करता हूँ ॥ ७ ॥

स्वस्रीयो वासुदेवस्य साक्षाद् देवशिशुर्यथा।
दयितश्चक्रहस्तस्य सर्वास्त्रेषु च कोविदः॥ ८ ॥

मेरा पुत्र देवकुमारके समान है। वह साक्षात् भगवान् वासुदेवका भानजा है। चक्रधारी श्रीकृष्णको वह बहुत प्रिय है। साथ ही वह सब प्रकारकी अस्त्रविद्यामें कुशल है ॥ ८ ॥

अभिमन्युर्महाबाहुः पुत्रो मम विशाम्पते।
जामाता तव युक्तो वै भर्ता च दुहितुस्तव ॥ ९ ॥

महाराज ! मेरे उस महाबाहु पुत्रका नाम अभिमन्यु है। वह आपका सुयोग्य दामाद और आपकी पुत्रीका उपयुक्त पति होगा॥ ९ ॥

विराट उवाच

उपपन्नं कुरुश्रेष्ठे कुन्तीपुत्र धनंजये।
य एवं धर्मनित्यश्च जातज्ञानश्च पाण्डवः ॥ १० ॥
यत् कृत्यं मन्यसे पार्थ क्रियतां तदनन्तरम्।
सर्वे कामाः समृद्धा मे सम्बन्धी यस्य मेऽर्जुनः ॥११॥

विराट बोले—पार्थ ! आप कौरवोंमें श्रेष्ठ और कुन्ती-देवीके पुत्र हैं। धनंजयमें इस प्रकार धर्मका विचार होना उचित ही है। पाण्डुपुत्र अर्जुन ही इस प्रकार नित्यधर्मपरायण और ज्ञानसम्पन्न हो सकते हैं। अब इसके बाद जो कर्तव्य आप ठीक समझें, उसे पूर्ण करें। मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो गयीं। जिसके सम्बन्धी अर्जुन हो रहे हों, उसकी कौन-सी कामना अपूर्ण रह सकती है ? ॥ १०-११ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति राजेन्द्रे कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अन्वशासत् स संयोगं समये मत्स्यपार्थयोः॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाराज विराटके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने उचित अवसर आने मत्स्यनरेश और पार्थके इस सम्बन्धका अनुमोदन किया॥

ततो मित्रेषु सर्वेषु वासुदेवं च भारत।
प्रेषयामास कौन्तेयो विराटश्च महीपतिः ॥ १३॥

जनमेजय ! तदनन्तर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर तथा राजा विराटने अपने-अपने सम्पूर्ण सुहृदों एवं सगे-सम्बन्धियोंको तथा भगवान् वासुदेवको भी निमन्त्रण भेजा ॥ १३॥

ततस्त्रयोदशे वर्षे निवृत्ते पञ्च पाण्डवाः।
उपप्लव्यं विराटस्य समपद्यन्त सर्वशः ॥ १४॥

पाँचों पाण्डवोंका तेरहवाँ वर्ष तो पूर्ण हो ही चुका था, वे सब-के-सब राजा विराटके उपप्लव्य नामक नगरमें आकर रहने लगे ॥ १४॥

अभिमन्युं च बीभत्सुरानिनाय जनार्दनम्।
आनर्तेभ्योऽपि दाशार्हानानयामास पाण्डवः ॥ १५॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने आनर्तदेशसे अभिमन्यु, भगवान् वासुदेव तथा दशार्हवंशके अपने अन्य सम्बन्धियोंको भी वहाँ बुलवा लिया ॥ १५ ॥

काशिराजश्च शैब्यश्च प्रीयमाणौ युधिष्ठिरे।
अक्षौहिणीभ्यां सहितावागतौ पृथिवीपती ॥ १६॥

काशिराज और शैब्य दोनों युधिष्ठिरके बड़े प्रेमी थे। वे दोनों नरेश एक-एक अक्षौहिणी सेनाके साथ उपप्लव्य नगरमें आये ॥ १६ ॥

अक्षौहिण्या च सहितो यज्ञसेनो महाबलः।
द्रौपद्याश्च सुता वीराः शिखण्डी चापराजितः॥ १७॥
धृष्टद्युम्नश्च दुर्धर्षः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
समस्ताक्षौहिणीपाला यज्वानो भूरिदक्षिणाः।
वेदावभृथसम्पन्नाः सर्वे शूरास्तनुत्यजः ॥ १८॥

महाबली राजा द्रुपद भी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पधारे। उनके साथ द्रौपदीके पाँचों वीर पुत्र, कभी पराजित न होनेवाले शिखण्डी और समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ एवं दुर्धर्ष वीर धृष्टद्युम्न भी थे । इनके सिवा और भी अनेक राजा वहाँ पधारे, जो सबके सब एक-एक अक्षौहिणी सेनाके पालक, यज्ञकर्ता, यज्ञोंमें अधिकसे अधिक दक्षिणा देनेवाले, वेद और अवभृथ (यज्ञान्त) स्नानसे सम्पन्न, शूरवीर तथा पाण्डवोंके लिये प्राण देनेवाले थे ॥ १७-१८ ॥

तानागतानभिप्रेक्ष्य मत्स्यो धर्मभृतां वरः।
पूजयामास विधिवत् सभृत्यबलवाहनान् ॥ १९॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ मत्स्यनरेश विराटने उन्हें आया हुआ देख सेवक, सेना और सवारियोंसहित उन सबका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार किया ॥ १९ ॥

प्रीतोऽभवद् दुहितरं दत्त्वा तामभिमन्यवे।
ततः प्रत्युपयातेषु पार्थिवेषु ततस्ततः ॥ २०

तत्रागमद् वासुदेवो वनमाली हलायुधः ।
कृतवर्मा च हार्दिक्यो युयुधानश्च सात्यकिः ॥ २१ ॥
अनाधृष्टिस्तथाक्रूरः साम्बो निशठ एव च ।
अभिमन्युमुपादाय सह मात्रा परंतपाः ॥ २२ ॥

अभिमन्युको अपनी पुत्रीका वाग्दान करके राजा विराट बहुत प्रसन्न थे । तत्पश्चात् सब राजालोग अपने-अपने लिये नियत किये हुए स्थानोंमें विश्रामके लिये पधारे । वहाँ वनमालाधारी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण, हलरूपी शस्त्र धारण करनेवाले बलराम, हृदीकपुत्र कृतवर्मा, युयुधान नामसे प्रसिद्ध सात्यकि, अनाधृष्टि, अक्रूर, साम्ब और निशठ—ये सभी शत्रुसंतापन वीर अभिमन्यु और उसकी माता सुभद्राको साथ लिये वहाँ पधारे थे ॥ २०–२२ ॥

इन्द्रसेनादयश्चैव रथैस्तैः सुसमाहितैः ।
आययुः सहिताः सर्वे परिसंवत्सरोषिताः ॥ २३ ॥

जिन्होंने एक वर्षतक द्वारकामें निवास किया था, वे इन्द्रसेन आदि सारथि भी अच्छी तरह सब सामग्रियोंसे सम्पन्न किये हुए रथोंसहित वहाँ आये थे ॥ २३ ॥

दशनागसहस्राणि हयानां द्विगुणं तथा ।
रथानामयुतं पूर्णं नियुतं च पदातिनाम् ॥ २४ ॥
वृष्ण्यन्धकाश्च बहवो भोजाश्च परमौजसः ।
अन्वयुर्वृष्णिशार्दूलं वासुदेवं महाद्युतिम् ॥ २५ ॥

परमतेजस्वी वृष्णिवंशशिरोमणि भगवान् वासुदेवके साथ दस हजार हाथी, उनसे दुगुने अर्थात् बीस हजार घोड़े, दस हजार रथ और दस लाख पैदल सेना थी । इसके सिवा वृष्णि, अन्धक तथा भोजवंशके और भी बहुत-से महापराक्रमी वीर उनके साथ पधारे थे ॥ २४-२५ ॥

पारिबर्हं ददौ कृष्णः पाण्डवानां महात्मनाम् ।
स्त्रियो रत्नानि वासांसि पृथक् पृथगनेकशः ॥ २६ ॥
ततो विवाहो विधिवद् ववृधे मत्स्यपार्थयोः ।

भगवान् श्रीकृष्णने महात्मा पाण्डवोंको दहेज या निमन्त्रणमें बहुत-सी दासियाँ, नाना प्रकारके रत्न और बहुत-से वस्त्र पृथक्-पृथक् भेंट किये । तत्पश्चात् मत्स्य और पार्थकुलके वैवाहिक सम्बन्धका कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न होने लगा ॥ २६½ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च गोमुखा डम्बरास्तथा ॥ २७ ॥
पार्थैः संयुज्यमानस्य नेदुर्मत्स्यस्य वेश्मनि ।
भक्ष्यान्नभोज्यपानानि प्रभूतान्यभ्यहारयन् ॥ २८ ॥

तदनन्तर कुन्तीपुत्रोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेवाले मत्स्यनरेशके महलमें शङ्ख, नगाड़े, गोमुख और डम्बर आदि भाँति-भाँतिके बाजे बजने लगे । साथ ही उन्होंने खाने योग्य अन्न, भोज्य और पीने आदिकी सामग्री भी प्रचुर मात्रामें प्रस्तुत की ॥ २७-२८ ॥

गायनाख्यानशीलाश्च नटवैतालिकास्तथा ।
स्तुवन्तस्तानुपातिष्ठन् सूताश्च सह मागधैः ॥ २९ ॥

गानेवाले, प्राचीन उपाख्यान सुनानेवाले, नट और वैतालिक सूत-मागध आदिके साथ उपस्थित हो पाण्डवोंकी स्तुति-प्रशंसा करने लगे ॥ २९ ॥

सुदेष्णां च पुरस्कृत्य मत्स्यानां च वरस्त्रियः ।
आजग्मुश्चारुसर्वाङ्ग्यः सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ ३० ॥

मत्स्यनरेशके रनिवासकी सुन्दरी स्त्रियाँ रानी सुदेष्णाको आगे करके महारानी द्रौपदीके यहाँ आयीं । उन सबके सभी अङ्ग बड़े मनोहर थे । उन सबने विशुद्ध मणिमय कुण्डल पहन रक्खे थे ॥ ३० ॥

वर्णोपपन्नास्ता नार्यो रूपवत्यः स्वलंकृताः ।
सर्वाश्चाभ्यभवन् कृष्णा रूपेण यशसा श्रिया ॥ ३१ ॥

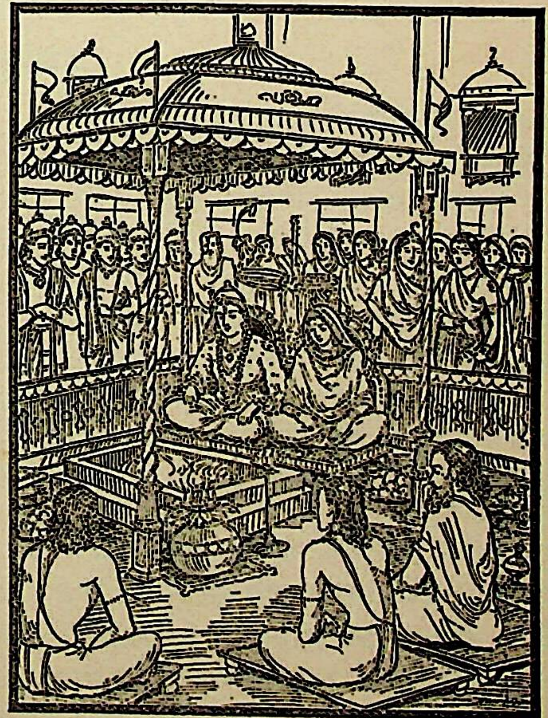
वे सभी नारियाँ उत्तम वर्णकी थीं । रूपवती होनेके साथ ही वे भाँति-भाँतिके सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित भी थीं; परंतु द्रुपदकुमारी कृष्णाने अपने दिव्य रूप, यश और उत्तम कान्तिसे उन सबको तिरस्कृत कर दिया ॥ ३१ ॥

परिवार्योत्तरां तास्तु राजपुत्रीमलंकृताम् ।
सुतामिव महेन्द्रस्य पुरस्कृत्योपतस्थिरे ॥ ३२ ॥

उस समय राजकुमारी उत्तरा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो महेन्द्रपुत्री जयन्ती-सी सुशोभित हो रही थी। राजपरिवारकी स्त्रियाँ उसे आगे करके दोनों ओरसे घेरकर वहाँ उपस्थित हुईं ॥ ३२ ॥

तां प्रत्यगृह्णात् कौन्तेयः सुतस्यार्थे धनंजयः ।
सौभद्रस्यानवद्याङ्गीं विराटतनयां तदा ॥ ३३ ॥

उस समय कुन्तीनन्दन अर्जुनने अपने पुत्र सुभद्राकुमार अभिमन्युके लिये निर्दोष अङ्गोंवाली विराटकुमारी उत्तराको ग्रहण किया ॥ ३३ ॥



तत्रातिष्ठन्महाराजो रूपमिन्द्रस्य धारयन् ।
स्नुषां तां प्रतिजग्राह कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३४ ॥

वहाँ इन्द्रके समान रूप धारण किये कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर भी खड़े थे । उन्होंने भी उत्तराको पुत्रवधूके रूपमें अङ्गीकार किया ॥ ३४ ॥

प्रतिगृह्य च तां पार्थः पुरस्कृत्य जनार्दनम् ।
विवाहं कारयामास सौभद्रस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार पार्थने उत्तराको ग्रहण करके भगवान् श्रीकृष्णके सामने महामना अभिमन्यु और उत्तराका विवाह-संस्कार सम्पन्न कराया ॥ ३५ ॥

तस्मै सप्त सहस्राणि हयानां वातरंहसाम् ।
द्वे च नागशते मुख्ये प्रादाद् बहुधनं तदा ॥ ३६ ॥
हुत्वा सम्यक् समिद्धाग्निमर्चयित्वा द्विजन्मनः ।
राज्यं बलं च कोशं च सर्वमात्मानमेव च ॥ ३७ ॥

विवाहकालमें विराटने प्रज्वलित अग्निमें विधिवत् होम कराकर ब्राह्मणोंका पूजन करनेके पश्चात् दहेजमें वरपक्षको वायुके समान वेगवान् सात हजार घोड़े, दो सौ बड़े-बड़े हाथी तथा और भी बहुत-सा धन भेंट किया । साथ ही राजपाट, सेना और खजानेसहित सब कुछ एवं अपने-आपको भी उनकी सेवामें समर्पित कर दिया ॥ ३६-३७ ॥

कृते विवाहे तु तदा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं यदुपाहरदच्युतः ॥ ३८ ॥

विवाह सम्पन्न हो जानेपर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णसे जो धन मिला था, उसमेंसे बहुत कुछ ब्राह्मणोंको दान किया ॥ ३८ ॥

गोसहस्राणि रत्नानि वस्त्राणि विविधानि च ।
भूषणानि च मुख्यानि यानानि शयनानि च ॥ ३९ ॥
भोजनानि च हृद्यानि पानानि विविधानि च ।
तन्महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनायुतम् ।
नगरं मत्स्यराजस्य शुशुभे भरतर्षभ ॥ ४० ॥

हजारों गौएँ, रत्न, नाना प्रकारके वस्त्र, आभूषण, मुख्य-मुख्य वाहन, शय्या, भोजनसामग्री तथा भाँति-भाँतिके पीनेयोग्य उत्तम वस्तुएँ भी अर्पण कीं । जनमेजय ! उस समय हजारों-लाखों हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरा हुआ मत्स्यराजका वह नगर मूर्तिमान् महोत्सव-सा सुशोभित हो रहा था ॥ ३९-४० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि उत्तराविवाहे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार व्यासनिर्मित श्रीमहाभारत नामक एक लाख श्लोकोंकी संहितामें विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें उत्तराविवाहविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

विराटपर्वकी श्लोक-संख्या

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंका ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	२१२५	(१९८)	२८३॥	२४०८
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	२४९	(२२॥)	३३॥	२८२

विराटपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या—२६९१

श्रवण-महिमा

श्रुत्वा तु चरितं पुण्यं पाण्डवानां महात्मनाम् ।
नाधिव्याधिभयं तेषां जायते पुण्यकर्मणाम् ॥ १ ॥

पुण्यकर्मा महात्मा पाण्डवोंका पवित्र चरित्र सुनकर श्रोताओंको आधि (मानसिक दुःख) और व्याधि (शारीरिक कष्ट) का भय नहीं होता है ॥ १ ॥

दुर्गतिस्तरणे तेषामायतं तरणं भवेत् ।
सुभिक्षं क्षेममारोग्यं पुण्यवृद्धिः प्रजायते ॥ २ ॥

पाण्डवोंका जो दुर्गतिसे उद्धार हुआ, उस प्रसङ्गका पाठ करनेपर मनुष्यके लिये भारीसे भारी संकटसे छूटना सरल हो जाता है । उन्हें सुभिक्ष, क्षेम, आरोग्य तथा पुण्यकी वृद्धि सुलभ होती है ॥ २ ॥

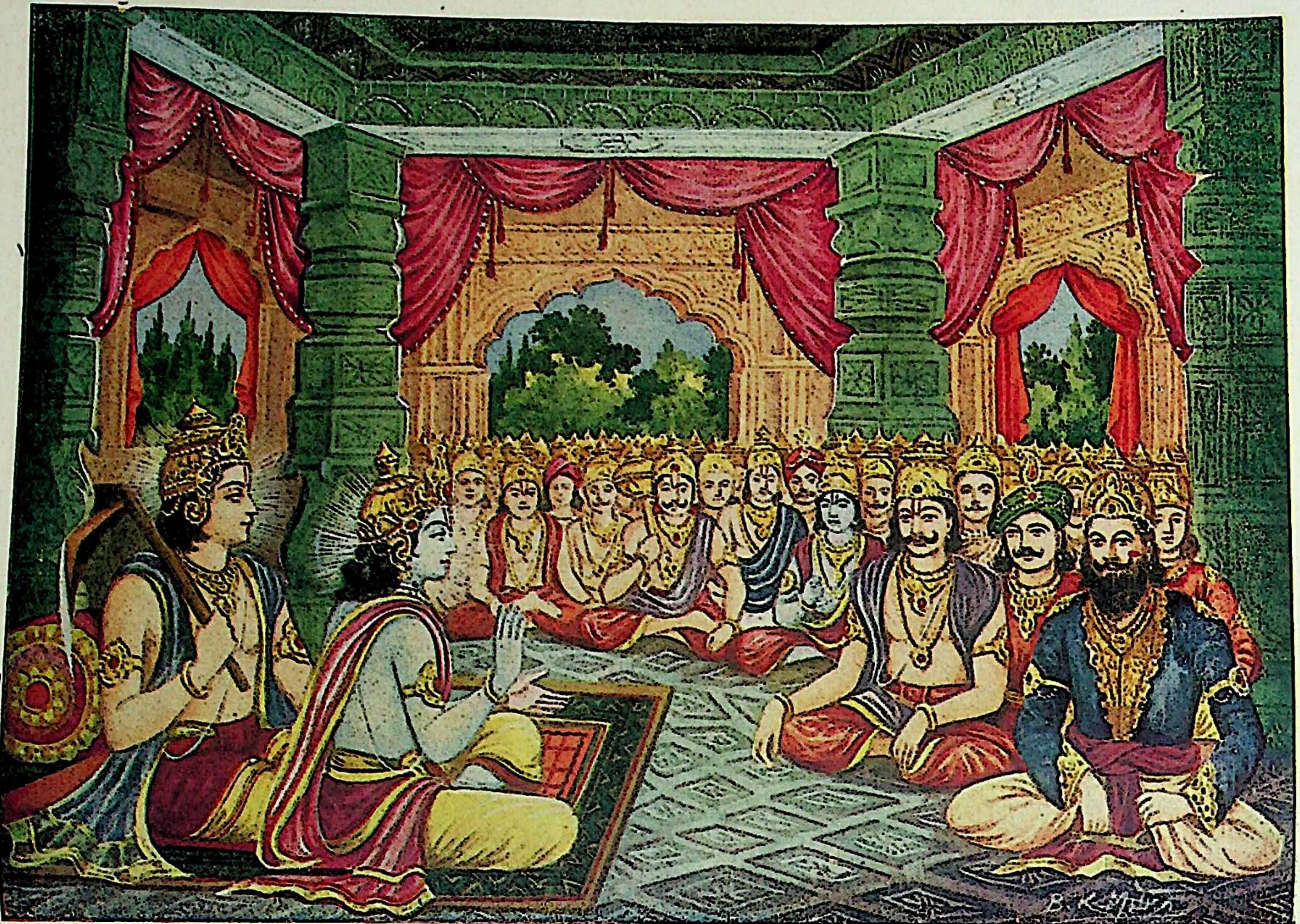
सर्वपापानि नश्यन्ति जायन्ते सर्वसम्पदः ।
एकाकी विजयेच्छत्रून् स्मृत्वा फाल्गुनकर्म च ॥ ३ ॥
ईतयः सम्प्रणश्यन्ति न वियोगः प्रिये जने ॥ ४ ॥

अर्जुनके चरित्रका स्मरण करनेसे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, सब प्रकारकी सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं और मनुष्य अकेला या असहाय होनेपर भी शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेता है इतना ही नहीं, (अतिवृष्टि आदि) ईतियोंका नाश होता है और प्रियजनोंसे कभी वियोग नहीं होता ॥ ३-४ ॥

श्रुत्वा वैराटकं पर्व वासांसि विविधानि च ।
हिरण्यं धान्यं गावश्च दद्याद् वित्तानुसारतः ॥ ५ ॥
प्रीतये देवतानां वै दद्याद् वै द्विजमुख्यके ।
वाचके तु सुसंतुष्टे तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणान् भोजयेच्छक्त्या पायसैः सर्पिषा सितैः ।
एवं श्रुते च वैराटे सम्यक् फलमवाप्नुयात् ॥ ७ ॥

विराटपर्वकी कथा सुनकर अपने वैभवके अनुसार भाँति-भाँतिके वस्त्र, सुवर्ण, धान्य और गौ—ये वस्तुएँ देवताओंकी प्रसन्नताके लिये श्रेष्ठ ब्राह्मणको दान करनी चाहिये । वाचकके भलीभाँति संतुष्ट होनेपर सब देवता संतुष्ट होते हैं । तत्पश्चात् यथाशक्ति घी और मिश्री मिलायी हुई खीर ब्राह्मणोंको भोजन करावे । इस विधिसे विराटपर्व सुननेसे श्रोताको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है ॥ ५–७ ॥





विराटकी राजसभामें श्रीकृष्णका भाषण

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

उद्योगपर्व

(सेनोद्योगपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

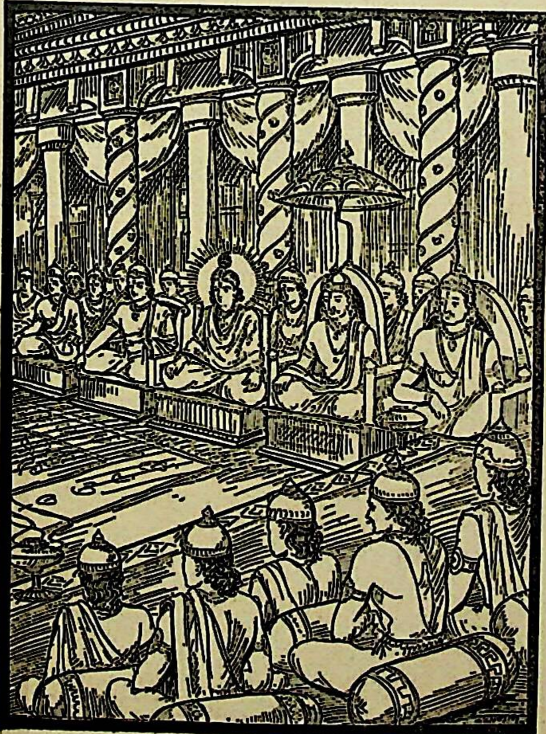
राजा विराटकी सभामें भगवान् श्रीकृष्णका भाषण

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

कृत्वा विवाहं तु कुरुप्रवीरा-
स्तदाभिमन्योर्मुदिताः स्वपक्षाः ।
विश्रम्य रात्रावुषसि प्रतीताः
सभां विराटस्य ततोऽभिजग्मुः ॥ १ ॥



वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय अभिमन्युका विवाह करके कुरुवीर पाण्डव तथा उनके अपने पक्षके लोग (यादव पाञ्चाल आदि) अत्यन्त आनन्दित हुए । रात्रिमें विश्राम करके वे प्रातःकाल जगे और (नित्यकर्म करके) विराटकी सभामें उपस्थित हुए ॥ १ ॥

सभा तु सा मत्स्यपतेः समृद्धा
मणिप्रवेकोत्तमरत्नचित्रा ।
न्यस्तासना माल्यवती सुगन्धा
तामभ्ययुस्ते नरराजवृद्धाः ॥ २ ॥

मत्स्यदेशके अधिपति विराटकी वह सभा अत्यन्त समृद्धि-शालिनी थी । उसमें मणियों (मोती-मूँगे आदि) की खिड़कियाँ और झालरें लगी थीं । उसके फर्श और दीवारोंमें उत्तम-उत्तम रत्नों (हीरे-पन्ने आदि) की पच्चीकारी की गयी थी । इन सबके कारण उसकी विचित्र शोभा हो रही थी । उस सभाभवनमें यथायोग्य स्थानोंपर आसन लगे हुए थे, जगह-जगह मालाएँ लटक रही थीं और सब ओर सुगन्ध फैल रही थी । वे श्रेष्ठ नरपतिगण उसी सभामें एकत्र हुए ॥ २ ॥

अथासनान्याविशतां पुरस्ता-
दुभौ विराटद्रुपदौ नरेन्द्रौ ।
वृद्धौ च मान्यौ पृथिवीपतीनां
पित्रा समं रामजनार्दनौ च ॥ ३ ॥

वहाँ सबसे पहले राजा विराट और द्रुपद आसनपर विराजमान हुए; क्योंकि वे दोनों समस्त भूपतियोंमें वृद्ध और माननीय थे । तत्पश्चात् अपने पिता वसुदेवके साथ बलराम और श्रीकृष्णने भी आसन ग्रहण किये ॥ ३ ॥

पाञ्चालराजस्य समीपतस्तु
शिनिप्रवीरः सहरौहिणेयः ।
मत्स्यस्य राज्ञस्तु सुसंनिकृष्टौ
जनार्दनश्चैव युधिष्ठिरश्च ॥ ४ ॥

पाञ्चालराज द्रुपदके पास शिनिवंशके श्रेष्ठ वीर सात्यकि तथा रोहिणीनन्दन बलरामजी बैठे थे और मत्स्यराज विराटके अत्यन्त निकट श्रीकृष्ण तथा युधिष्ठिर विराजमान थे ॥ ४ ॥

सुताश्च सर्वे द्रुपदस्य राज्ञो
भीमार्जुनौ माद्रवतीसुतौ च।
प्रद्युम्नसाम्बौ च युधि प्रवीरौ
विराटपुत्रैश्च सहाभिमन्युः ॥ ५ ॥
सर्वे च शूराः पितृभिः समाना
वीर्येण रूपेण बलेन चैव।
उपाविशन् द्रौपदेयाः कुमाराः
सुवर्णचित्रेषु वरासनेषु ॥ ६ ॥

राजा द्रुपदके सब पुत्र, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, युद्धवीर प्रद्युम्न और साम्ब, विराटके पुत्रोंसहित अभिमन्यु तथा द्रौपदीके सभी पुत्र सुवर्णजटित सुन्दर सिंहासनोंपर आसपास ही बैठे थे। द्रौपदीके पाँचों पुत्र पराक्रम, सौन्दर्य और बलमें अपने पिता पाण्डवोंके ही समान थे। वे सबके सब शूरवीर थे ॥ ५-६ ॥

तथोपविष्टेषु महारथेषु
विराजमानाभरणाम्बरेषु।
रराज सा राजवती समृद्धा
ग्रहैरिव द्यौर्विमलैरुपेता ॥ ७ ॥

इस प्रकार चमकीले आभूषणों तथा सुन्दर वस्त्रोंसे विभूषित उन समस्त महारथियोंके बैठ जानेपर राजाओंसे भरी हुई वह समृद्धिशालिनी सभा ऐसी शोभा पा रही थी, मानो उज्ज्वल ग्रह-नक्षत्रोंसे भरा आकाश जगमगा रहा हो ॥७॥

ततः कथास्ते समवाययुक्ताः
कृत्वा विचित्राः पुरुषप्रवीराः।
तस्थुर्मुहूर्तं परिचिन्तयन्तः
कृष्णं नृपास्ते समुदीक्षमाणाः ॥ ८ ॥

तदनन्तर उन शूरवीर पुरुषोंने समाजमें जैसी बातचीत करनी उचित है, वैसी ही विविध प्रकारकी विचित्र बातें कीं। फिर वे सब नरेश भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए दो घड़ीतक कुछ सोचते हुए चुप बैठे रहे ॥ ८ ॥

कथान्तमासाद्य च माधवेन
संघट्टिताः पाण्डवकार्यहेतोः।
ते राजसिंहाः सहिता ह्यश्रृण्वन्
वाक्यं महार्थं सुमहोदयं च ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके कार्यके लिये ही उन श्रेष्ठ राजाओंको संगठित किया था। जब उन सब लोगोंकी बातचीत बंद हो गयी, तब वे सिंहके समान पराक्रमी नरेश एक साथ श्रीकृष्णके सारगर्मित तथा श्रेष्ठ फल देनेवाले वचन सुनने लगे ॥ ९ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

सर्वैर्भवद्भिर्विदितं यथायं
युधिष्ठिरः सौबलेनाक्षवत्याम्।
जितो निकृत्यापहृतं च राज्यं
वनप्रवासे समयः कृतश्च ॥ १० ॥

श्रीकृष्णने भाषण देना प्रारम्भ किया—उपस्थित सुहृद्गण ! आप सब लोगोंको यह मालूम ही है कि सुबलपुत्र शकुनिने द्यूतसभामें किस प्रकार कपट करके धर्मात्मा युधिष्ठिरको परास्त किया और इनका राज्य छीन लिया है। उस जूएमें यह शर्त रख दी गयी थी कि जो हारे, वह बारह वर्षोंतक वनवास और एक वर्षतक अज्ञातवास करे ॥१०॥

शक्तैर्विजेतुं तरसा महीं च
सत्ये स्थितैः सत्यरथैर्यथावत्।
पाण्डोः सुतैस्तद् व्रतमुग्ररूपं
वर्षाणि षट् सप्त च चीर्णमग्र्यैः ॥ ११ ॥

पाण्डव सदा सत्यपर आरूढ़ रहते हैं। सत्य ही इनका रथ (आश्रय) है। इनमें वेगपूर्वक समस्त भूमण्डलको जीत लेनेकी शक्ति है तथापि इन वीराग्रगण्य पाण्डुकुमारोंने सत्यका खयाल करके तेरह वर्षोंतक वनवास और अज्ञातवासके उस कठोर व्रतका धैर्यपूर्वक पालन किया है, जिसका स्वरूप बड़ा ही उग्र है ॥ ११ ॥

त्रयोदशश्चैव सुदुस्तरोऽय-
मज्ञायमानैर्भवतां समीपे।
क्लेशानसह्यान् विविधान् सहद्भि-
र्महात्मभिश्चापि वने निविष्टम् ॥ १२ ॥

इस तेरहवें वर्षको पार करना बहुत ही कठिन था, परंतु इन महात्माओंने आपके पास ही अज्ञातरूपसे रहकर भाँति-भाँतिके असह्य क्लेश सहते हुए यह वर्ष बिताया है। इसके अतिरिक्त बारह वर्षोंतक ये वनमें भी रह चुके हैं ॥ १२ ॥

एतैः परप्रेष्यनियोगयुक्तै-
रिच्छद्भिराप्तं स्वकुलेन राज्यम्।
एवंगते धर्मसुतस्य राज्ञो
दुर्योधनस्यापि च यद्धितं स्यात् ॥ १३ ॥
तच्चिन्तयध्वं कुरुपुङ्गवानां
धर्म्यं च युक्तं च यशस्करं च।
अधर्मयुक्तं न च कामयेत
राज्यं सुराणामपि धर्मराजः ॥ १४ ॥

अपनी कुलपरम्परासे प्राप्त हुए राज्यकी अभिलाषा रखकर इन वीरोंने अबतक अज्ञातावस्थामें दूसरोंकी सेवामें संलग्न रहकर तेरहवाँ वर्ष पूरा किया है। ऐसी परिस्थितिमें जिस उपायसे धर्मपुत्र युधिष्ठिर तथा राजा दुर्योधनका भी हित हो, उसका आपलोग विचार करें। आप कोई ऐसा मार्ग निकालें, जो इन कुरुश्रेष्ठ वीरोंके लिये धर्मानुकूल, न्यायसंगत तथा यशकी वृद्धि करनेवाला हो। धर्मराज युधिष्ठिर

धर्मके विरुद्ध देवताओंका भी राज्य प्राप्त होता हो, तो उसे लेना नहीं चाहेंगे ॥ १३-१४ ॥

धर्मार्थयुक्तं तु महीपतित्वं
ग्रामेऽपि कस्मिंश्चिदयं बुभूषेत् ।
पित्र्यं हि राज्यं विदितं नृपाणां
यथापकृष्टं धृतराष्ट्रपुत्रैः ॥ १५ ॥

किसी छोटेसे गाँवका राज्य भी यदि धर्म और अर्थके अनुकूल प्राप्त होता हो, तो ये उसे लेनेकी इच्छा कर सकते हैं। आप सभी नरेशोंको यह विदित ही है कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने पाण्डवोंके पैतृक राज्यका किस प्रकार अपहरण किया है ॥ १५ ॥

मिथ्योपचारेण यथा ह्यनेन
कृच्छ्रं महत् प्राप्तमसह्यरूपम् ।
न चापि पार्थो विजितो रणे तैः
स्वतेजसा धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः ॥ १६ ॥

कौरवोंके इस मिथ्या व्यवहार तथा छल-कपटके कारण पाण्डवोंको कितना महान् और असह्य कष्ट भोगना पड़ा है, यह भी आपलोगोंसे छिपा नहीं है। धृतराष्ट्रके उन पुत्रोंने अपने बल और पराक्रमसे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको किसी युद्धमें पराजित नहीं किया था (छलसे ही इनका राज्य छीना) ॥ १६ ॥

तथापि राजा सहितः सुहृद्भि-
रभीप्सतेऽनामयमेव तेषाम् ।
यत् तु स्वयं पाण्डुसुतैर्विजित्य
समाहृतं भूमिपतीन् प्रपीड्य ॥ १७ ॥
तत् प्रार्थयन्ते पुरुषप्रवीराः
कुन्तीसुता माद्रवतीसुतौ च ।
बालास्त्विमे तैर्विविधैरुपायैः
सम्प्रार्थिता हन्तुममित्रसंघैः ॥ १८ ॥
राज्यं जिहीर्षद्भिरसद्भिरुग्रैः
सर्वं च तद् वो विदितं यथावत् ।

तथापि सुहृदोंसहित राजा युधिष्ठिर उनकी भलाई ही चाहते हैं। पाण्डवोंने दूसरे-दूसरे राजाओंको युद्धमें जीतकर उन्हें पीड़ित करके जो धन स्वयं प्राप्त किया था, उसीको कुन्ती और माद्रीके ये वीर पुत्र माँग रहे हैं। जब पाण्डव बालक थे—अपना हित-अहित कुछ नहीं समझते थे, तभी इनके राज्यको हर लेनेकी इच्छासे उन उग्र प्रकृतिके दुष्ट शत्रुओंने संघबद्ध होकर भाँति-भाँतिके षड्यन्त्रोंद्वारा इन्हें मार डालनेकी पूरी चेष्टा की थी; ये सब बातें आपलोग अच्छी तरह जानते होंगे ॥

तेषां च लोभं प्रसमीक्ष्य वृद्धं
धर्मज्ञतां चापि युधिष्ठिरस्य ॥ १९ ॥
सम्बन्धितां चापि समीक्ष्य तेषां
मतिं कुरुध्वं सहिताः पृथक् च ।
इमे च सत्येऽभिरताः सदैव
तं पालयित्वा समयं यथावत् ॥ २० ॥

अतः सभी सभासद् कौरवोंके बढ़े हुए लोभको, युधिष्ठिरकी धर्मज्ञताको तथा इन दोनोंके पारस्परिक सम्बन्धको देखते हुए अलग-अलग तथा एक रायसे भी कुछ निश्चय करें। ये पाण्डवगण सदा ही सत्यपरायण होनेके कारण पहले की हुई प्रतिज्ञाका यथावत् पालन करके हमारे सामने उपस्थित हैं ॥ १९-२० ॥

अतोऽन्यथा तैरुपचर्यमाणा
हन्युः समेतान् धृतराष्ट्रपुत्रान् ।
तैर्विप्रकारं च निशम्य कार्ये
सुहृज्जनास्तान् परिवारयेयुः ॥ २१ ॥

यदि अब भी धृतराष्ट्रके पुत्र इनके साथ विपरीत व्यवहार ही करते रहेंगे—इनका राज्य नहीं लौटायेंगे, तो पाण्डव उन सबको मार डालेंगे। कौरवलोग पाण्डवोंके कार्यमें विघ्न डाल रहे हैं और उनकी बुराईपर ही तुले हुए हैं; यह बात निश्चितरूपसे जान लेनेपर सुहृदों और सम्बन्धियोंको उचित है कि वे उन दुष्ट कौरवोंको (इस प्रकार अत्याचार करनेसे) रोकें ॥ २१ ॥

युद्धेन बाधेयुरिमांस्तथैव
तैर्बाध्यमाना युधि तांश्च हन्युः ।
तथापि नेमेऽल्पतया समर्था-
स्तेषां जयायेति भवेन्मतं वः ॥ २२ ॥

यदि धृतराष्ट्रके पुत्र इस प्रकार युद्ध छेड़कर इन पाण्डवोंको सतायेंगे, तो उनके बाध्य करनेपर ये भी डटकर युद्धमें उनका सामना करेंगे और उन्हें मार गिरायेंगे। सम्भव है, आपलोग यह सोचते हों कि ये पाण्डव अल्पसंख्यक होनेके कारण उनपर विजय पानेमें समर्थ नहीं हैं ॥ २२ ॥

समेत्य सर्वे सहिताः सुहृद्भि-
स्तेषां विनाशाय यतेयुरेव ।
दुर्योधनस्यापि मतं यथाव-
न्न ज्ञायते किं नु करिष्यतीति ॥ २३ ॥

तथापि ये सब लोग अपने हितैषी सुहृदोंके साथ मिलकर शत्रुओंके विनाशके लिये प्रयत्न तो करेंगे ही। (अतः इन्हें आपलोग दुर्बल न समझें) युद्धका भी निश्चय कैसे किया जाय; क्योंकि, दुर्योधनके भी मतका अभी ठीक-ठीक पता नहीं है कि वह क्या करेगा ? ॥ २३ ॥

अज्ञायमाने च मते परस्य
किं स्यात् समारभ्यतमं मतं वः ।
तस्मादितो गच्छतु धर्मशीलः
शुचिः कुलीनः पुरुषोऽप्रमत्तः ॥ २४ ॥

शत्रुपक्षका विचार जाने बिना आपलोग कोई ऐसा

निश्चय कैसे कर सकते हैं ? जिसे अवश्य ही कार्यरूपमें परिणत किया जा सके। अतः मेरा विचार है कि यहाँसे कोई धर्मशील, पवित्रात्मा, कुलीन और सावधान पुरुष दूत बनकर वहाँ जाय ॥ २४ ॥

दूतः समर्थः प्रशमाय तेषां
राज्यार्धदानाय युधिष्ठिरस्य ।

वह दूत ऐसा होना चाहिये, जो उनके जोश तथा रोषको शान्त करनेमें समर्थ हो और उन्हें युधिष्ठिरको इनका आधा राज्य दे देनेके लिये विवश कर सके ॥ २४½ ॥

निशम्य वाक्यं तु जनार्दनस्य
धर्मार्थयुक्तं मधुरं समं च ॥ २५ ॥
समाददे वाक्यमथाग्रजोऽस्य
सम्पूज्य वाक्यं तदतीव राजन् ॥ २६ ॥

राजन्! भगवान् श्रीकृष्णका धर्म और अर्थसे युक्त, मधुर एवं उभयपक्षके लिये समानरूपसे हितकर वचन सुनकर उनके बड़े भाई बलरामजीने उस भाषणकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके अपना वक्तव्य आरम्भ किया ॥ २५-२६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें (द्रुपदके) पुरोहितकी यात्राविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

बलरामजीका भाषण

बलदेव उवाच

श्रुतं भवद्भिर्गदपूर्वजस्य
वाक्यं यथा धर्मवदर्थवच्च ।
अजातशत्रोश्च हितं हितं च
दुर्योधनस्यापि तथैव राज्ञः ॥ १ ॥

बलदेवजी बोले—सज्जनो ! गदाग्रज श्रीकृष्णने जो कुछ धर्मानुकूल तथा अर्थशास्त्रसम्मत सम्भाषण किया है, उसे आप सब लोगोंने सुना है। इसीमें अजातशत्रु युधिष्ठिरका भी हित है तथा ऐसा करनेसे ही राजा दुर्योधनकी भलाई है ॥ १ ॥

अर्धं हि राज्यस्य विसृज्य वीराः
कुन्तीसुतास्तस्य कृते यतन्ते ।
प्रदाय चार्धं धृतराष्ट्रपुत्रः
सुखी सहास्माभिरतीव मोदेत् ॥ २ ॥

वीर कुन्तीकुमार आधा राज्य छोड़कर केवल आधेके लिये ही प्रयत्नशील हैं। दुर्योधन भी पाण्डवोंको आधा राज्य देकर हमारे साथ स्वयं भी सुखी और प्रसन्न होगा ॥ २ ॥

लब्ध्वा हि राज्यं पुरुषप्रवीराः
सम्यक्प्रवृत्तेषु परेषु चैव ।
ध्रुवं प्रशान्ताः सुखमाविशेयु-
स्तेषां प्रशान्तिश्च हितं प्रजानाम् ॥ ३ ॥

पुरुषोंमें श्रेष्ठ वीर पाण्डव आधा राज्य पाकर दूसरे पक्षकी ओरसे अच्छा बर्ताव होनेपर अवश्य ही शान्त (लड़ाई-झगड़ेसे दूर) रहकर कहीं सुखपूर्वक निवास करेंगे। इससे कौरवोंको शान्ति मिलेगी और प्रजावर्गका भी हित होगा ॥ ३ ॥

दुर्योधनस्यापि मतं च वेत्तुं
वक्तुं च वाक्यानि युधिष्ठिरस्य ।
प्रियं च मे स्याद् यदि तत्र कश्चिद्
व्रजेच्छमार्थं कुरुपाण्डवानाम् ॥ ४ ॥

यदि दुर्योधनका भी विचार जाननेके लिये, युधिष्ठिरका संदेशको उसके कानोंतक पहुँचानेके लिये तथा कौरव-पाण्डवोंमें शान्ति स्थापित करनेके लिये कोई दूत जाय, तो यह मेरे लिये बड़ी प्रसन्नताकी बात होगी ॥ ४ ॥

स भीष्ममामन्त्र्य कुरुप्रवीरं
वैचित्रवीर्यं च महानुभावम् ।
द्रोणं सपुत्रं विदुरं कृपं च
गान्धारराजं चससूतपुत्रम् ॥ ५ ॥
सर्वे च येऽन्ये धृतराष्ट्रपुत्रा
बलप्रधाना निगमप्रधानाः ।
स्थिताश्च धर्मेषु तथा स्वकेषु
लोकप्रवीराः श्रुतकालवृद्धाः ॥ ६ ॥
एतेषु सर्वेषु समागतेषु
पौरेषु वृद्धेषु च संगतेषु ।
ब्रवीतु वाक्यं प्रणिपातयुक्तं
कुन्तीसुतस्यार्थकरं यथा स्यात् ॥ ७ ॥

वह दूत वहाँ जाकर कुरुवंशके श्रेष्ठ वीर भीष्म, महानुभाव धृतराष्ट्र, द्रोण, अश्वत्थामा, विदुर, कृपाचार्य, शकुनि, कर्ण तथा दूसरे सब धृतराष्ट्रपुत्र, जो शक्तिशाली, वेदज्ञ, स्वधर्मनिष्ठ, लोकप्रसिद्ध वीर, विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध हैं, सबको आमन्त्रित करे और इन सबके आ जाने एवं नागरिकों तथा बड़े बूढ़ोंके सम्मिलित होनेपर वह दूत विनयपूर्वक प्रणाम करके ऐसी बात कहे, जिससे युधिष्ठिरके प्रयोजनकी सिद्धि हो ॥ ५—७ ॥

सर्वास्ववस्थासु च ते न कोप्या
ग्रस्तो हि सोऽर्थो बलमाश्रितैस्तैः ।

प्रियाभ्युपेतस्य युधिष्ठिरस्य
द्यूते प्रसक्तस्य हृतं च राज्यम् ॥ ८ ॥

किसी भी दशामें कौरवोंको उत्तेजित या कुपित नहीं करना चाहिये, क्योंकि उन्होंने बलवान् होकर ही पाण्डवोंके राज्यपर अधिकार जमाया है। (युधिष्ठिर भी सर्वथा निर्दोष नहीं हैं, क्योंकि) ये जूएको प्रिय मानकर उसमें आसक्त हो गये थे। तभी इनके राज्यका अपहरण हुआ है ॥ ८ ॥

निवार्यमाणश्च कुरुप्रवीरः
सर्वैः सुहृद्भिर्ह्ययमप्यतज्ज्ञः।
स दीव्यमानः प्रतिदीव्य चैनं
गान्धारराजस्य सुतं मताक्षम् ॥ ९ ॥
हित्वा हि कर्णं च सुयोधनं च
समाह्वयद् देवितुमाजमीढः।
दुरोदरास्तत्र सहस्रशोऽन्ये
युधिष्ठिरो यान् विषहेत जेतुम् ॥ १० ॥
उत्सृज्य तान् सौबलमेव चायं
समाह्वयत् तेन जितोऽक्षवत्याम्।

अजमीढवंशी कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर जूएका खेल नहीं जानते थे। इसीलिये समस्त सुहृदोंने इन्हें मना किया था, (परंतु इन्होंने किसीकी बात नहीं मानी।) दूसरी ओर गान्धारराजका पुत्र शकुनि जूएके खेलमें निपुण था। यह जानते हुए भी ये उसीके साथ बारंबार खेलते रहे। इन्होंने कर्ण और दुर्योधनको छोड़कर शकुनिको ही अपने साथ जूआ खेलनेके लिये ललकारा था। उस सभामें दूसरे भी हजारों जुआरी मौजूद थे, जिन्हें युधिष्ठिर जीत सकते थे। परंतु उन सबको छोड़कर इन्होंने सुबलपुत्रको ही बुलाया। इसीलिये उस जूएमें इनकी हार हुई ॥ ९–१०½ ॥

स दीव्यमानः प्रतिदेवनेन
अक्षेषु नित्यं तु पराङ्मुखेषु ॥ ११ ॥
संरम्भमाणो विजितः प्रसह्य
तत्रापराधः शकुनेर्न कश्चित्।

जब ये खेलने लगे और प्रतिपक्षीकी ओरसे फेंके हुए पासे जब बराबर इनके प्रतिकूल पड़ने लगे, तब ये और भी रोषावेशमें आकर खेलने लगे। इन्होंने हठपूर्वक खेल जारी रक्खा और अपनेको हराया, इसमें शकुनिका कोई अपराध नहीं है ॥ ११½ ॥

तस्मात् प्रणम्यैव वचो ब्रवीतु
वैचित्रवीर्यं बहुसामयुक्तम् ॥ १२ ॥
तथा हि शक्यो धृतराष्ट्रपुत्रः
स्वार्थे नियोक्तुं पुरुषेण तेन।

इसलिये जो दूत यहाँसे भेजा जाय, वह धृतराष्ट्रको प्रणाम करके अत्यन्त विनयके साथ सामनीतियुक्त वचन कहे। ऐसा करनेसे ही धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको वह पुरुष अपने प्रयोजनकी सिद्धिमें लगा सकता है ॥ १२½ ॥

अयुद्धमाकाङ्क्षत कौरवाणां
साम्नैव दुर्योधनमाह्वयध्वम् ॥ १३ ॥
साम्ना जितोऽर्थोऽर्थकरो भवेत
युद्धेऽनयो भविता नेह सोऽर्थः ॥ १४ ॥

कौरव पाण्डवोंमें परस्पर युद्ध हो, ऐसी आकाङ्क्षा न करो—ऐसा कोई कदम न उठाओ। सन्धि या समझौतेकी भावनासे ही दुर्योधनको आमन्त्रित करो। मेल-मिलापसे समझा-बुझाकर जो प्रयोजन सिद्ध किया जाता है, वही परिणाममें हितकारी होता है। युद्धमें तो दोनों पक्षकी ओरसे अन्याय अर्थात् अनीतिका ही बर्ताव किया जाता है और अन्यायसे इस जगत्में किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १३-१४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवत्येव मधुप्रवीरे
शिनिप्रवीरः सहसोत्पपात।
तच्चापि वाक्यं परिनिन्द्य तस्य
समाददे वाक्यमिदं समन्युः ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मधुवंशके प्रमुख वीर बलदेवजी इस प्रकार कह ही रहे थे कि शिनि-वंशके श्रेष्ठ शूरमा सात्यकि सहसा उछलकर खड़े हो गये। उन्होंने कुपित होकर बलभद्रजीके भाषणकी कड़ी आलोचना करते हुए इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि बलदेववाक्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें बलदेववाक्यविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

सात्यकिके वीरोचित उद्गार

सात्यकिरुवाच

यादृशः पुरुषस्यात्मा तादृशं सम्प्रभाषते।
यथारूपोऽन्तरात्मा ते तथारूपं प्रभाषसे ॥ १ ॥

सात्यकिने कहा—बलरामजी! मनुष्यका जैसा

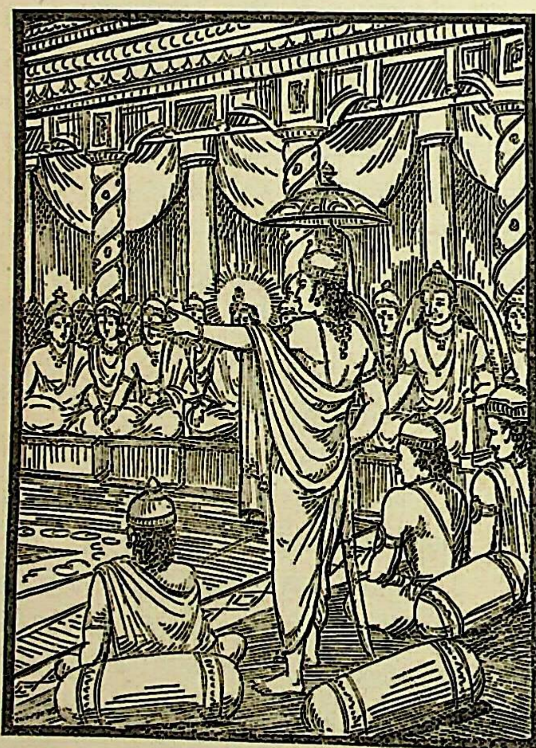
हृदय होता है, वैसी ही बात उसके मुखसे निकलती है। आपका भी जैसा अन्तःकरण है, वैसा ही आप भाषण दे रहे हैं ॥ १ ॥

सन्ति वै पुरुषाः शूराः सन्ति कापुरुषास्तथा।
उभावेतौ दृढौ पक्षौ दृश्येते पुरुषान् प्रति ॥ २ ॥

संसारमें शूर-वीर पुरुष भी हैं और कापुरुष (कायर) भी। पुरुषोंमें ये दोनों पक्ष निश्चितरूपसे देखे जाते हैं ॥२॥

एकस्मिन्नेव जायेते कुले क्लीबमहाबलौ।
फलाफलवती शाखे यथैकस्मिन् वनस्पतौ ॥ ३ ॥

जैसे एक ही वृक्षमें कोई शाखा फलवती होती है और कोई फलहीन। इसी प्रकार एक ही कुलमें दो प्रकारकी संतान उत्पन्न होती है, एक नपुंसक और दूसरी महान् बलशाली ॥ ३ ॥



नाभ्यसूयामि ते वाक्यं ब्रुवतो लाङ्गलध्वज।
ये तु शृण्वन्ति ते वाक्यं तानसूयामि माधव ॥ ४ ॥

अपनी ध्वजामें हलका चिह्न धारण करनेवाले मधुकुल-रत्न! आप जो कुछ कह रहे हैं, उसमें मैं दोष नहीं निकाल रहा हूँ, जो लोग आपकी बातें चुप-चाप सुन रहे हैं, उन्हीं-को मैं दोषी मानता हूँ ॥ ४ ॥

कथं हि धर्मराजस्य दोषमल्पमपि ब्रुवन्।
लभते परिषन्मध्ये व्याहर्तुमकुतोभयः ॥ ५ ॥

भला, कोई भी मनुष्य भरी सभामें निर्भय होकर धर्म-राज युधिष्ठिरपर थोड़ा-सा भी दोषारोपण करे, तो वह कैसे बोलनेका अवसर पा सकता है ? ॥ ५ ॥

समाहूय महात्मानं जितवन्तोऽक्षकोविदाः।
अनक्षज्ञं यथाश्रद्धं तेषु धर्मजयः कुतः ॥ ६ ॥

महात्मा युधिष्ठिर जूआ खेलना नहीं जानते थे, तो भी जूएके खेलमें निपुण धूर्तोंने उन्हें अपने घर बुलाकर अपने विश्वासके अनुसार हराया अथवा जीता है। यह उनकी धर्मपूर्वक विजय कैसे कही जा सकती है ? ॥ ६ ॥

यदि कुन्तीसुतं गेहे क्रीडन्तं भ्रातृभिः सह।
अभिगम्य जयेयुस्ते तत् तेषां धर्मतो भवेत्।
समाहूय तु राजानं क्षत्रधर्मरतं सदा ॥ ७ ॥
निकृत्या जितवन्तस्ते किं नु तेषां परं शुभम्।
कथं प्रणिपतेच्चायमिह कृत्वा पणं परम् ॥ ८ ॥

यदि भाइयोंसहित कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अपने घरपर जूआ खेलते होते और ये कौरव वहाँ जाकर उन्हें हरा देते तो यह उनकी धर्मपूर्वक विजय कही जा सकती थी। परंतु उन्होंने सदा क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले राजा युधिष्ठिरको बुलाकर छल और कपटसे उन्हें पराजित किया है। क्या यही उनका परम कल्याणमय कर्म कहा जा सकता है ? राजा युधिष्ठिर अपनी वनवासविषयक प्रतिज्ञा तो पूर्ण ही कर चुके हैं, अब किस लिये उनके आगे मस्तक झुकायें— क्यों प्रणाम अथवा विनय करें ? ॥ ७-८ ॥

वनवासाद् विमुक्तस्तु प्राप्तः पैतामहं पदम्।
यद्ययं परवित्तानि कामयेत युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
एवमप्ययमत्यन्तं परान् नार्हति याचितुम्।

वनवासके बन्धनसे मुक्त होकर अब ये अपने बाप-दादोंके राज्यको पानेके न्यायतः अधिकारी हो गये हैं। यदि युधिष्ठिर अन्यायसे भी अपना धन, अपना राज्य लेनेकी इच्छा करें, तो भी अत्यन्त दीन बनकर शत्रुओंके सामने हाथ फैलाने या भीख माँगनेके योग्य नहीं हैं ॥ ९½ ॥

कथं च धर्मयुक्तास्ते न च राज्यं जिहीर्षवः ॥ १० ॥
निवृत्तवासान् कौन्तेयान् य आहुर्विदिता इति।

कुन्तीके पुत्र वनवासकी अवधि पूरी करके जब लौटे हैं, तब कौरव यह कहने लगे हैं कि हमने तो इन्हें समय पूर्ण होनेसे पहले ही पहचान लिया है। ऐसी दशामें वे कैसे कहा जाय कि कौरव धर्ममें तत्पर हैं और पाण्डवोंके राज्यका अपहरण नहीं करना चाहते हैं ॥ १०½ ॥

अनुनीता हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ॥ ११ ॥
न व्यवस्यन्ति पाण्डूनां प्रदातुं पैतृकं वसु।

वे भीष्म, द्रोण और विदुरके बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी पाण्डवोंको उनका पैतृक धन वापस देनेका

निश्चय अथवा प्रयास नहीं कर रहे हैं ॥ ११½ ॥

अहं तु ताञ्छितैर्बाणैरनुनीय रणे बलात् ॥ १२ ॥
पादयोः पातयिष्यामि कौन्तेयस्य महात्मनः ।

मैं तो रणभूमिमें पैने बाणोंसे उन्हें बलपूर्वक मनाकर महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके चरणोंमें गिरा दूँगा ॥१२½॥

अथ ते न व्यवस्यन्ति प्रणिपाताय धीमतः ॥ १३ ॥
गमिष्यन्ति सहामात्या यमस्य सदनं प्रति ।

यदि वे परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरके चरणोंमें गिरनेका निश्चय नहीं करेंगे, तो अपने मन्त्रियोंसहित उन्हें यमलोककी यात्रा करनी पड़ेगी ॥ १३½ ॥

न हि ते युयुधानस्य संरब्धस्य युयुत्सतः ॥ १४ ॥
वेगं समर्थाः संसोढुं वज्रस्येव महीधराः ।

जैसे बड़े-बड़े पर्वत भी वज्रका वेग सहन करनेमें समर्थ नहीं हैं, उसी प्रकार युद्धकी इच्छा रखनेवाले और क्रोधमें भरे हुए मुझ सात्यकिके प्रहार-वेगको सहन करनेकी सामर्थ्य उनमेंसे किसीमें भी नहीं है ॥ १४½ ॥

को हि गाण्डीवधन्वानं कश्च चक्रायुधं युधि ॥ १५ ॥
मां चापि विषहेत् क्रुद्धं कश्च भीमं दुरासदम् ।
यमौ च दृढधन्वानौ यमकालोपमद्युती ।
विराटद्रुपदौ वीरौ यमकालोपमद्युती ॥ १६ ॥
को जिजीविषुरासादेद् धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ।

कौरवदलमें ऐसा कौन है, जो जीवनकी इच्छा रखते हुए भी युद्धभूमिमें गाण्डीवधन्वा अर्जुन, चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्ण, क्रोधमें भरे हुए मुझ सात्यकि, दुर्धर्ष वीर भीमसेन, यम और कालके समान तेजस्वी दृढ़ धनुर्धर नकुल-सहदेव, यम और कालको भी अपने तेजसे तिरस्कृत करनेवाले वीरवर विराट और द्रुपदका तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नका भी सामना कर सकता है ? ॥ १५-१६½ ॥

पञ्चैतान् पाण्डवेयांस्तु द्रौपद्याः कीर्तिवर्धनान् ॥ १७ ॥
समप्रमाणान् पाण्डूनां समवीर्यान् मदोत्कटान् ।
सौभद्रं च महेष्वासममरैरपि दुःसहम् ॥ १८ ॥
गदप्रद्युम्नसाम्बांश्च कालसूर्यानलोपमान् ।

द्रौपदीकी कीर्तिको बढ़ानेवाले ये पाँचों पाण्डवकुमार अपने पिताके समान ही डील-डौलवाले, वैसे ही पराक्रमी तथा उन्हींके समान रणोन्मत्त शूरवीर हैं । महान् धनुर्धर सुभद्राकुमार अभिमन्युका वेग तो देवताओंके लिये भी दुःसह है, गद, प्रद्युम्न और साम्ब—ये काल, सूर्य और अग्निके समान अजेय हैं—इन सबका सामना कौन कर सकता है ? ॥ १७-१८½ ॥

ते वयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रं शकुनिना सह ॥ १९ ॥
कर्णं चैव निहत्याजावभिषेक्ष्याम पाण्डवम् ।

हमलोग शकुनिसहित धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको तथा कर्णको भी युद्धमें मारकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका राज्याभिषेक करेंगे ॥ १९½ ॥

नाधर्मो विद्यते कश्चिच्छत्रून् हत्वाऽऽततायिनः ॥ २० ॥
अधर्म्यमयशस्यं च शात्रवाणां प्रयाचनम् ।

आततायी शत्रुओंका वध करनेमें कोई पाप नहीं है । शत्रुओंके सामने याचना करना ही अधर्म और अपयशकी बात है ॥ २०½ ॥

हृद्गतस्तस्य यः कामस्तं कुरुध्वमतन्द्रिताः ॥ २१ ॥
निसृष्टं धृतराष्ट्रेण राज्यं प्राप्नोतु पाण्डवः ।
अद्य पाण्डुसुतो राज्यं लभतां वा युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
निहता वा रणे सर्वे स्वप्स्यन्ति वसुधातले ॥ २३ ॥

अतः पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके मनमें जो अभिलाषा है, उसीकी आपलोग आलस्य छोड़कर सिद्धि करें । धृतराष्ट्र राज्य लौटा दें और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर उसे ग्रहण करें । अब पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको राज्य मिल जाना चाहिये, अन्यथा समस्त कौरव युद्धमें मारे जाकर रणभूमिमें सदाके लिये सो जायँगे ॥ २१-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि सात्यकिक्रोधवाक्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें सात्यकिका क्रोधपूर्ण वचनसम्बन्धी तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥



चतुर्थोऽध्यायः

राजा द्रुपदकी सम्मति

द्रुपद उवाच

एवमेतन्महाबाहो भविष्यति न संशयः ।
न हि दुर्योधनो राज्यं मधुरेण प्रदास्यति ॥ १ ॥
अनुवर्त्स्यति तं चापि धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ।
भीष्मद्रोणौ च कार्पण्यान्मौर्ख्याद् राधेयसौबलौ ॥ २ ॥

(सात्यकिकी बात सुनकर) द्रुपदने कहा—महाबाहो ! तुम्हारा कहना ठीक है । इसमें संदेह नहीं कि ऐसा ही होगा; क्योंकि दुर्योधन मधुर व्यवहारसे राज्य नहीं देगा । अपने उस पुत्रके प्रति आसक्त रहनेवाले धृतराष्ट्र भी उसीका अनुसरण करेंगे । भीष्म और द्रोणाचार्य दीनतावश तथा

कर्ण और शकुनि मूर्खतावश दुर्योधनका साथ देंगे ॥ १-२ ॥

बलदेवस्य वाक्यं तु मम ज्ञाने न युज्यते ।
एतद्धि पुरुषेणाग्रे कार्यं सुनयमिच्छता ॥ ३ ॥
न तु वाच्यो मृदुवचो धार्तराष्ट्रः कथंचन ।
न हि मार्दवसाध्योऽसौ पापबुद्धिर्मतो मम ॥ ४ ॥

बलदेवजीका कथन मेरी समझमें ठीक नहीं जान पड़ता । मैं जो कुछ कहने जा रहा हूँ, वही सुनीतिकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सबसे पहले करना चाहिये । धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे मधुर अथवा नम्रतापूर्ण वचन कहना किसी प्रकार उचित नहीं है । मेरा ऐसा मत है कि वह पापपूर्ण विचार रखनेवाला है, अतः मृदु व्यवहारसे वशमें आनेवाला नहीं है ॥ ३-४ ॥

गर्दभे मार्दवं कुर्याद् गोषु तीक्ष्णं समाचरेत् ।
मृदु दुर्योधने वाक्यं यो ब्रूयात् पापचेतसि ॥ ५ ॥

जो पापात्मा दुर्योधनके प्रति मृदु वचन बोलेगा, वह मानो गदहेके प्रति कोमलतापूर्ण व्यवहार करेगा और गायोंके प्रति कठोर बर्ताव ॥ ५ ॥

मृदुं वै मन्यते पापो भाषमाणमशक्तिकम् ।
जितमर्थं विजानीयादबुधो मार्दवे सति ॥ ६ ॥

पापी एवं मूर्ख मनुष्य मृदु वचन बोलनेवालेको शक्तिहीन समझता है और कोमलताका बर्ताव करनेपर यह मानने लगता है कि मैंने इसके धनपर विजय पा ली ॥ ६ ॥

एतच्चैव करिष्यामो यत्नश्च क्रियतामिह ।
प्रस्थापयाम मित्रेभ्यो बलान्युद्योजयन्तु नः ॥ ७ ॥

(हम आपके सामने जो प्रस्ताव ला रहे हैं;) इसीको सम्पन्न करेंगे और इसीके लिये यहाँ प्रयत्न किया जाना चाहिये । हमें अपने मित्रोंके पास यह संदेश भेजना चाहिये कि वे हमारे लिये सैन्य-संग्रहका उद्योग करें ॥ ७ ॥

शल्यस्य धृष्टकेतोश्च जयत्सेनस्य वा विभो ।
केकयानां च सर्वेषां दूता गच्छन्तु शीघ्रगाः ॥ ८ ॥

भगवन् ! हमारे शीघ्रगामी दूत शल्य, धृष्टकेतु, जयत्सेन और समस्त केकय राजकुमारोंके पास जायँ ॥ ८ ॥

स च दुर्योधनो नूनं प्रेषयिष्यति सर्वशः ।
पूर्वाभिपन्नाः सन्तश्च भजन्ते पूर्वचोदनम् ॥ ९ ॥

निश्चय ही दुर्योधन भी सबके यहाँ संदेश भेजेगा । श्रेष्ठ राजा जब किसीके द्वारा पहले सहायताके लिये निमन्त्रित हो जाते हैं, तब प्रथम निमन्त्रण देनेवालेकी ही सहायता करते हैं ।९।

तत् त्वरध्वं नरेन्द्राणां पूर्वमेव प्रचोदने ।
महद्धि कार्यं वोढव्यमिति मे वर्तते मतिः ॥ १० ॥

अतः सभी राजाओंके पास पहले ही अपना निमन्त्रण पहुँच जाय; इसके लिये शीघ्रता करो । मैं समझता हूँ, ह सब लोगोंको महान् कार्यका भार वहन करना है ॥ १० ॥

शल्यस्य प्रेष्यतां शीघ्रं ये च तस्यानुगा नृपाः ।
भगदत्ताय राज्ञे च पूर्वसागरवासिने ॥ ११ ॥

राजा शल्य तथा उनके अनुगामी नरेशोंके पास शी दूत भेजे जायँ । पूर्व समुद्रके तटवर्ती राजा भगदत्तके प भी दूत भेजना चाहिये ॥ ११ ॥

अमितौजसे तथोग्राय हार्दिक्यायान्धकाय च ।
दीर्घप्रज्ञाय शूराय रोचमानाय वा विभो ॥ १२ ॥

भगवन् ! इसी प्रकार अमितौजा, उग्र, हार्दि (कृतवर्मा), अन्धक, दीर्घप्रज्ञ तथा शूरवीर रोचमानके प भी दूतोंको भेजना आवश्यक है ॥ १२ ॥

आनीयतां बृहन्तश्च सेनाबिन्दुश्च पार्थिवः ।
सेनजित् प्रतिविन्ध्यश्च चित्रवर्मा सुवास्तुकः ॥ १३ ॥
बाह्लीको मुञ्जकेशश्च चैद्याधिपतिरेव च ।
सुपार्श्वश्च सुबाहुश्च पौरवश्च महारथः ॥ १४ ॥
शकानां पह्लवानां च दरदानां च ये नृपाः ।
सुरारिश्च नदीजश्च कर्णवेष्टश्च पार्थिवः ॥ १५ ॥
नीलश्च वीरधर्मा च भूमिपालश्च वीर्यवान् ।
दुर्जयो दन्तवक्त्रश्च रुक्मी च जनमेजयः ॥ १६ ॥
आषाढो वायुवेगश्च पूर्वपाली च पार्थिवः ।
भूरितेजा देवकश्च एकलव्यः सहात्मजैः ॥ १७ ॥
कारूषकाश्च राजानः क्षेमधूर्तिश्च वीर्यवान् ।
काम्बोजा ऋषिका ये च पश्चिमानूपकाश्च ये ॥ १८ ॥
जयत्सेनश्च काश्यश्च तथा पञ्चनदा नृपाः ।
क्राथपुत्रश्च दुर्धर्षः पार्वतीयाश्च ये नृपाः ॥ १९ ॥
जानकिश्च सुशर्मा च मणिमान् योतिमत्सकः ।
पांशुराष्ट्राधिपश्चैव धृष्टकेतुश्च वीर्यवान् ॥ २० ॥
तुण्डश्च दण्डधारश्च बृहत्सेनश्च वीर्यवान् ।
अपराजितो निषादश्च श्रेणिमान् वसुमानपि ॥ २१ ॥
बृहद्बलो महौजाश्च बाहुः परपुरञ्जयः ।
समुद्रसेनो राजा च सह पुत्रेण वीर्यवान् ॥ २२ ॥
उद्भवः क्षेमकश्चैव वाटधानश्च पार्थिवः ।
श्रुतायुश्च दृढायुश्च शाल्वपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ २३ ॥
कुमारश्च कलिङ्गानामीश्वरो युद्धदुर्मदः ।
एतेषां प्रेष्यतां शीघ्रमेतद्धि मम रोचते ॥ २४ ॥

बृहन्तको भी बुलाया जाय । राजा सेनाबिन्दु, सेन प्रतिविन्ध्य, चित्रवर्मा, सुवास्तुक, बाह्लीक, मुञ्जकेश, चै सुपार्श्व, सुबाहु, महारथी पौरव, शकनरेश, पह्लवराज दरददेशके नरेश भी निमन्त्रित किये जाने चाहिये । सु नदीज, भूपाल कर्णवेष्ट, नील, वीरधर्मा, पराक्रमी भूमि दुर्जय दन्तवक्त्र, रुक्मी, जनमेजय, आषाढ, वायुवेग,

पूर्वपाली, भूरितेजा, देवक, पुत्रोंसहित एकलव्य, करूष-देशके बहुत-से नरेश, पराक्रमी क्षेमधूर्ति, काम्बोजनरेश, ऋषिकदेशके राजा, पश्चिम द्वीपवासी नरेश, जयत्सेन, काश्य, पञ्चनद प्रदेशके राजा, दुर्धर्ष क्राथपुत्र, पर्वतीय नरेश, राजा जनकके पुत्र, सुशर्मा, मणिमान्, योतिमत्सक, पांशुराज्यके अधिपति, पराक्रमी धृष्टकेतु, तुण्ड, दण्डधार, वीर्यशाली बृहत्सेन, अपराजित, निषादराज, श्रेणिमान्, वसुमान्, बृहद्बल, महौजा, शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले बाहु, पुत्रसहित पराक्रमी राजा समुद्रसेन, उद्भव, क्षेमक, राजा वाटधान, श्रुतायु, दृढायु, पराक्रमी शाल्वपुत्र, कुमार तथा युद्धदुर्मद कलिङ्गराज—इन सबके पास शीघ्र ही रण-निमन्त्रण भेजा जाय; मुझे यही ठीक जान पड़ता है ॥ १३–२४ ॥

अयं च ब्राह्मणो विद्वान् मम राजन् पुरोहितः।
प्रेष्यतां धृतराष्ट्राय वाक्यमस्मै प्रदीयताम् ॥ २५ ॥

मत्स्यराज ! ये मेरे पुरोहित विद्वान् ब्राह्मण हैं, इन्हें धृतराष्ट्रके पास भेजिये और वहाँके लिये उचित संदेश दीजिये ॥ २५ ॥

यथा दुर्योधनो वाच्यो यथा शान्तनवो नृपः।
धृतराष्ट्रो यथा वाच्यो द्रोणश्च रथिनां वरः ॥ २६ ॥

दुर्योधनसे क्या कहना है ? शान्तनुनन्दन भीष्मजीसे किस प्रकार बातचीत करनी है ? धृतराष्ट्रको क्या संदेश देना है ? तथा रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे किस प्रकार वार्तालाप करना है ? यह सब उन्हें समझा दीजिये ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि द्रुपदवाक्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें द्रुपदवाक्यविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका द्वारकागमन, विराट और द्रुपदके संदेशसे राजाओंका पाण्डवपक्षकी ओरसे युद्धके लिये आगमन

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं वाक्यं सोमकानां धुरंधरे।
अर्थसिद्धिकरं राज्ञः पाण्डवस्यामितौजसः ॥ १ ॥

(तत्पश्चात् भगवान्) श्रीकृष्णने कहा—सभासदो ! सोमकवंशके धुरंधर वीर महाराज द्रुपदने जो बात कही है, वह उन्हींके योग्य है। इसीसे अमित तेजस्वी पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरके अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो सकती है ॥ १ ॥

एतच्च पूर्वं कार्यं नः सुनीतमभिकाङ्क्षताम्।
अन्यथा ह्याचरन् कर्म पुरुषः स्यात् सुबालिशः ॥ २ ॥

हमलोग सुनीतिकी इच्छा रखनेवाले हैं; अतः हमें सबसे पहले यही कार्य करना चाहिये। जो अवसरके विपरीत आचरण करता है, वह मनुष्य अत्यन्त मूर्ख माना जाता है ॥ २ ॥

किं तु सम्बन्धकं तुल्यमस्माकं कुरुपाण्डुषु।
यथेष्टं वर्तमानेषु पाण्डवेषु च तेषु च ॥ ३ ॥

परंतु हमलोगोंका कौरवों और पाण्डवोंसे एक-सा सम्बन्ध है। पाण्डव और कौरव दोनों ही हमारे साथ यथा-योग्य अनुकूल बर्ताव करते हैं ॥ ३ ॥

ते विवाहार्थमानीता वयं सर्वे तथा भवान्।
कृते विवाहे मुदिता गमिष्यामो गृहान् प्रति ॥ ४ ॥

इस समय हम और आप सब लोग विवाहोत्सवमें निमन्त्रित होकर आये हैं। विवाहकार्य सम्पन्न हो गया; अतः अब हम प्रसन्नतापूर्वक अपने अपने घरोंको लौट जायँगे ॥ ४ ॥

भवान् वृद्धतमो राज्ञां वयसा च श्रुतेन च।
शिष्यवत् ते वयं सर्वे भवामेह न संशयः ॥ ५ ॥

आप समस्त राजाओंमें अवस्था तथा शास्त्रज्ञान दोनों ही दृष्टियोंसे सबकी अपेक्षा बड़े हैं। इसमें संदेह नहीं कि हम सब लोग आपके शिष्यके समान हैं ॥ ५ ॥

भवन्तं धृतराष्ट्रश्च सततं बहु मन्यते।
आचार्ययोः सखा चासि द्रोणस्य च कृपस्य च ॥ ६ ॥

राजा धृतराष्ट्र भी सदा आपको विशेष आदर देते हैं, आचार्य द्रोण और कृप दोनोंके आप सखा हैं ॥ ६ ॥

स भवान् प्रेषयत्वद्य पाण्डवार्थकरं वचः।
सर्वेषां निश्चितं तन्नः प्रेषयिष्यति यद् भवान् ॥ ७ ॥

अतः आप ही आज पाण्डवोंकी कार्य-सिद्धिके अनुकूल संदेश भेजिये। आप जो भी संदेश भेजेंगे, वह हम सब लोगोंका निश्चित मत होगा ॥ ७ ॥

यदि तावच्छमं कुर्यान्न्यायेन कुरुपुङ्गवः।
न भवेत् कुरुपाण्डूनां सौभ्रात्रेण महान् क्षयः ॥ ८ ॥

यदि कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन न्यायके अनुसार शान्ति स्वीकार करेगा, तो कौरव और पाण्डवोंमें परस्पर बन्धुजनोचित सौहार्द-वश महान् संहार न होगा ॥ ८ ॥

अथ दर्पान्वितो मोहान्न कुर्याद् धृतराष्ट्रजः ।
अन्येषां प्रेषयित्वा च पश्चादस्मान् समाह्वये ॥ ९ ॥

यदि धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन मोहवश घमंडमें आकर हमारा प्रस्ताव न स्वीकार करे, तो आप दूसरे राजाओंको युद्धका निमन्त्रण भेजकर सबके बाद हमलोगोंको आमन्त्रित कीजियेगा ॥ ९ ॥

ततो दुर्योधनो मन्दः सहामात्यः सबान्धवः ।
निष्ठामापत्स्यते मूढः क्रुद्धे गाण्डीवधन्वनि ॥ १० ॥

फिर तो गाण्डीवधन्वा अर्जुनके कुपित होनेपर मन्द-बुद्धि मूढ दुर्योधन अपने मन्त्रियों और बन्धुजनोंके साथ सर्वथा नष्ट हो जायगा ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्कृत्य वार्ष्णेयं विराटः पृथिवीपतिः ।
गृहान् प्रस्थापयामास सगणं सहबान्धवम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा विराटने सेवकवृन्द तथा बान्धवोंसहित वृष्णिकुल-नन्दन भगवान् श्रीकृष्णका सत्कार करके उन्हें द्वारका जानेके लिये विदा किया ॥ ११ ॥

द्वारकां तु गते कृष्णे युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
चक्रुः सांग्रामिकं सर्वं विराटश्च महीपतिः ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णके द्वारका चले जानेपर युधिष्ठिर आदि पाण्डव तथा राजा विराट युद्धकी सारी तैयारियाँ करने लगे ॥ १२ ॥

ततः सम्प्रेषयामास विराटः सह बान्धवैः ।
सर्वेषां भूमिपालानां द्रुपदश्च महीपतिः ॥ १३ ॥

बन्धुओंसहित राजा विराट तथा महाराज द्रुपदने मिल-कर सब राजाओंके पास युद्धका निमन्त्रण भेजा ॥ १३ ॥

वचनात् कुरुसिंहानां मत्स्यपाञ्चालयोश्च ते ।
समाजग्मुर्महीपालाः सम्प्रहृष्टा महाबलाः ॥ १४ ॥

कुरुकुलके सिंह पाण्डव, मत्स्यनरेश विराट त[था] पाञ्चालराज द्रुपदके संदेशसे (दूर-दूरके) महाबली नरेश ब[ड़े] हर्ष और उत्साहमें भरकर वहाँ आने लगे ॥ १४ ॥

तच्छ्रुत्वा पाण्डुपुत्राणां समागच्छन्महद् बलम् ।
धृतराष्ट्रसुताश्चापि समानिन्युर्महीपतीन् ॥ १५ ॥

पाण्डवोंके यहाँ विशाल सेना एकत्र हो रही है, यह सुनकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंने भी भूमिपालोंको बुला[ना] आरम्भ कर दिया ॥ १५ ॥

समाकुला मही राजन् कुरुपाण्डवकारणात् ।
तदा समभवत् कृत्स्ना सम्प्रयाणे महीक्षिताम् ॥ १६ ॥
संकुला च तदा भूमिश्चतुरङ्गबलान्विता ।

राजन् ! इस प्रकार कौरवों तथा पाण्डवोंके उद्देश्य[से] दूर-दूरके नरेश अपनी सेना लेकर प्रस्थान करने लगे । इस[...] चतुरङ्गिणी सेनासे सारी पृथ्वी व्याप्त हुई-सी ज[ान] पड़ने लगी ॥ १६½ ॥

बलानि तेषां वीराणामागच्छन्ति ततस्ततः ॥ १७ ॥
चालयन्तीव गां देवीं सपर्वतवनामिमाम् ।

चारों ओरसे उन वीरोंके जो सैनिक आ रहे थे, पर्वतों और वनोंसहित इस सारी पृथ्वीको प्रकम्पित-सी[...] रहे थे ॥ १७½ ॥

ततः प्रज्ञावयोवृद्धं पाञ्चाल्यः स्वपुरोहितम् ।
कुरुभ्यः प्रेषयामास युधिष्ठिरमते स्थितः ॥ १८ ॥

तदनन्तर पाञ्चालनरेशने युधिष्ठिरकी सम्मतिके अनु[सार] बुद्धि और अवस्थामें भी बढ़े-चढ़े अपने पुरोहितको कौर[वों] के पास भेजा ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहित-प्रस्थानविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

द्रुपदका पुरोहितको दौत्यकर्मके लिये अनुमति देना तथा पुरोहितका हस्तिनापुरको प्रस्थान

द्रुपद उवाच

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेष्वपि द्विजातयः ॥ १ ॥

राजा द्रुपदने (पुरोहितसे) कहा—पुरोहितजी ! समस्त भूतोंमें प्राणधारी श्रेष्ठ हैं । प्राणधारियोंमें भी बुद्धि-जीवी श्रेष्ठ हैं । बुद्धिजीवी प्राणियोंमें भी मनुष्य और मनुष्यों-में भी ब्राह्मण श्रेष्ठ माने गये हैं ॥ १ ॥

द्विजेषु वैद्याः श्रेयांसो वैद्येषु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः ॥ २ ॥

ब्राह्मणोंमें विद्वान्, विद्वानोंमें सिद्धान्तके जानकार, सि[द्धान्त]के ज्ञाताओंमें भी तदनुसार आचरण करनेवाले पुरुष[...] उनमें भी ब्रह्मवेत्ता श्रेष्ठ हैं ॥ २ ॥



स भवान् कृतबुद्धीनां प्रधान इति मे मतिः।
कुलेन च विशिष्टोऽसि वयसा च श्रुतेन च ॥ ३ ॥

मेरा ऐसा विश्वास है कि आप सिद्धान्तवेत्ताओंमें प्रमुख हैं। आपका कुल तो श्रेष्ठ है ही, अवस्था तथा शास्त्र-ज्ञानमें भी आप बढ़े-चढ़े हैं ॥ ३ ॥

प्रज्ञया सदृशश्चासि शुक्रेणाङ्गिरसेन च।
विदितं चापि ते सर्वं यथावृत्तः स कौरवः ॥ ४ ॥

आपकी बुद्धि शुक्राचार्य और बृहस्पतिके समान है। दुर्योधनका आचार-विचार जैसा है, वह सब भी आपको ज्ञात ही है ॥ ४ ॥

पाण्डवश्च यथावृत्तः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
धृतराष्ट्रस्य विदिते वञ्चिताः पाण्डवाः परैः ॥ ५ ॥

कुन्तीपुत्र पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका आचार-विचार भी आपलोगोंसे छिपा नहीं है। धृतराष्ट्रकी जानकारीमें शत्रुओंने पाण्डवोंको ठगा है ॥ ५ ॥

विदुरेणानुनीतोऽपि पुत्रमेवानुवर्तते।
शकुनिर्बुद्धिपूर्वं हि कुन्तीपुत्रं समाह्वयत् ॥ ६ ॥
अनक्षज्ञं मताक्षः सन् क्षत्रवृत्ते स्थितं शुचिम्।

विदुरजीके अनुनय-विनय करनेपर भी धृतराष्ट्र अपने पुत्रका ही अनुसरण करते हैं। शकुनिने स्वयं जूएके खेलमें प्रवीण होकर यह जानते हुए भी कि युधिष्ठिर जूएके खिलाड़ी नहीं हैं, वे क्षत्रियधर्मपर चलनेवाले शुद्धात्मा पुरुष हैं, उन्हें समझ-बूझकर जूएके लिये बुलाया ॥ ६½ ॥

ते तथा वञ्चयित्वा तु धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ७ ॥
न कस्याञ्चिदवस्थायां राज्यं दास्यन्ति वै स्वयम्।

उन सबने मिलकर धर्मराज युधिष्ठिरको ठगा है। अब वे किसी भी अवस्थामें स्वयं राज्य नहीं लौटायेंगे ॥ ७½ ॥

भवांस्तु धर्मसंयुक्तं धृतराष्ट्रं ब्रुवन् वचः ॥ ८ ॥
मनांसि तस्य योधानां ध्रुवमावर्तयिष्यति।

परंतु आप राजा धृतराष्ट्रसे धर्मयुक्त बातें कहकर उनके योद्धाओंका मन निश्चय ही अपनी ओर फेर लेंगे ॥ ८½ ॥

विदुरश्चापि तद् वाक्यं साधयिष्यति तावकम् ॥ ९ ॥
भीष्मद्रोणकृपादीनां भेदं संजनयिष्यति।

विदुरजी भी वहाँ आपके वचनोंका समर्थन करेंगे तथा आप भीष्म, द्रोण एवं कृपाचार्य आदिमें भेद उत्पन्न कर देंगे ॥ ९½ ॥

अमात्येषु च भिन्नेषु योधेषु विमुखेषु च ॥ १० ॥
पुनरेकत्रकरणं तेषां कर्म भविष्यति।

जब मन्त्रियोंमें फूट पड़ जायगी और योद्धा भी विमुख होकर चल देंगे, तब उनका (प्रधान) कार्य होगा—पुनः नूतन सेनाका संग्रह और संगठन ॥ १०½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे पार्थाः सुखमेकाग्रबुद्धयः ॥ ११ ॥
सेनाकर्म करिष्यन्ति द्रव्याणां चैव संचयम्।

इसी बीचमें एकाग्रचित्तवाले कुन्तीकुमार अनायास ही सेनाका संगठन और द्रव्यका संग्रह कर लेंगे ॥ ११½ ॥

विद्यमानेषु च स्वेषु लम्बमाने तथा त्वयि ॥ १२ ॥
न तथा ते करिष्यन्ति सेनाकर्म न संशयः।

जब वहाँ हमारे स्वजन उपस्थित रहेंगे और आप भी वहाँ रहकर लौटनेमें विलम्ब करते रहेंगे, तब निःसंदेह वे सैन्य-संग्रहका कार्य उतने अच्छे ढंगसे नहीं कर सकेंगे ॥ १२½ ॥

एतत् प्रयोजनं चात्र प्राधान्येनोपलभ्यते ॥ १३ ॥
संगत्या धृतराष्ट्रश्च कुर्याद् धर्म्यं वचस्तव।

वहाँ आपके जानेका यही प्रयोजन प्रधानरूपसे दिखायी देता है। यह भी सम्भव है कि आपकी संगतिसे धृतराष्ट्रका मन बदल जाय और वे आपकी धर्मानुकूल बात स्वीकार कर लें॥

स भवान् धर्मयुक्तश्च धर्म्यं तेषु समाचरन् ॥ १४ ॥
कृपालुषु परिक्लेशान् पाण्डवीयान् प्रकीर्तयन्।
वृद्धेषु कुलधर्मं च ब्रुवन् पूर्वैरनुष्ठितम् ॥ १५ ॥
विभेत्स्यति मनांस्येषामिति मे नात्र संशयः।

आप धर्मपरायण तो हैं ही, वहाँ धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए कौरवकुलमें जो कृपालु वृद्ध पुरुष हैं, उनके समक्ष पूर्वपुरुषोंद्वारा आचरित कुलधर्मका प्रतिपादन एवं पाण्डवोंके क्लेशोंका वर्णन कीजियेगा। इस प्रकार आप उनका मन दुर्योधनकी ओरसे फोड़ लेंगे, इसमें मुझे कोई संशय नहीं है ॥ १४-१५½ ॥

न च तेभ्यो भयं तेऽस्ति ब्राह्मणो ह्यसि वेदवित् ॥
दूतकर्मणि युक्तश्च स्थविरश्च विशेषतः ।

आपको उनसे कोई भय नहीं है; क्योंकि आप वेदवेत्ता ब्राह्मण हैं। विशेषतः दूतकर्ममें नियुक्त और वृद्ध हैं ॥ १६½ ॥

स भवान् पुष्ययोगेन मुहूर्तेन जयेन च ।
कौरवेयान् प्रयात्वाशु कौन्तेयस्यार्थसिद्धये ॥ १७ ॥

अतः आप पुष्य नक्षत्रसे युक्त जय नामक मुहूर्तमें कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके कार्यकी सिद्धिके लिये कौरवोंके पास शीघ्र जाइये ॥

वैशम्पायन उवाच

तथानुशिष्टः प्रययौ द्रुपदेन महात्मना ।
पुरोधा वृत्तसम्पन्नो नगरं नागसाह्वयम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महामना राजा द्रुपदके द्वारा इस प्रकार अनुशासित होकर सदाचारसम्पन्न पुरोहितने हस्तिनापुरको प्रस्थान किया ॥ १८ ॥

शिष्यैः परिवृतो विद्वान् नीतिशास्त्रार्थकोविदः ।
पाण्डवानां हितार्थाय कौरवान् प्रति जग्मिवान् ॥ १९ ॥

वे विद्वान् तथा नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्रके विशेषज्ञ थे। वे पाण्डवोंके हितके लिये शिष्योंके साथ कौरवोंकी (राजधानीकी) ओर गये थे ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहितप्रस्थानविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका दुर्योधन तथा अर्जुन दोनोंको सहायता देना

वैशम्पायन उवाच

पुरोहितं ते प्रस्थाप्य नगरं नागसाह्वयम् ।
दूतान् प्रस्थापयामासुः पार्थिवेभ्यस्ततस्ततः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पुरोहितको हस्तिनापुर भेजकर पाण्डवलोग यत्र-तत्र राजाओंके यहाँ अपने दूतोंको भेजने लगे ॥ १ ॥

प्रस्थाप्य दूतानन्यत्र द्वारकां पुरुषर्षभः ।
स्वयं जगाम कौरव्यः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ २ ॥

अन्य सब स्थानोंमें दूत भेजकर कुरुकुलनन्दन कुन्तीपुत्र नरश्रेष्ठ धनंजय स्वयं द्वारकापुरीको गये ॥ २ ॥

गते द्वारवतीं कृष्णे बलदेवे च माधवे ।
सह वृष्ण्यन्धकैः सर्वैर्भोजैश्च शतशस्तदा ॥ ३ ॥
सर्वमागमयामास पाण्डवानां विचेष्टितम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो राजा गूढैः प्रणिहितैश्चरैः ॥ ४ ॥

जब मधुकुलनन्दन श्रीकृष्ण और बलभद्र सैकड़ों वृष्णि, अन्धक और भोजवंशी यादवोंको साथ ले द्वारकापुरीकी ओर चले थे, तभी धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनने अपने नियुक्त किये हुए गुप्तचरोंसे पाण्डवोंकी सारी चेष्टाओंका पता लगा लिया था ॥ ३-४ ॥

स श्रुत्वा माधवं यान्तं सदश्वैरनिलोपमैः ।
बलेन नातिमहता द्वारकामभ्ययात् पुरीम् ॥ ५ ॥

जब उसने सुना कि श्रीकृष्ण विराटनगरसे द्वारकाको जा रहे हैं, तब वह वायुके समान वेगवान् उत्तम अश्वों तथा एक छोटी-सी सेनाके साथ द्वारकापुरीकी ओर चल दिया ॥ ५ ॥

तमेव दिवसं चापि कौन्तेयः पाण्डुनन्दनः ।
आनर्तनगरीं रम्यां जगामाशु धनंजयः ॥ ६ ॥

कुन्तीकुमार पाण्डुनन्दन अर्जुनने भी उसी दिन शीघ्रतापूर्वक रमणीय द्वारकापुरीकी ओर प्रस्थान किया ॥ ६ ॥

तौ यात्वा पुरुषव्याघ्रौ द्वारकां कुरुनन्दनौ ।
सुप्तं ददृशतुः कृष्णं शयानं चाभिजग्मतुः ॥ ७ ॥

कुरुवंशका आनन्द बढ़ानेवाले उन दोनों नरवीरोंने द्वारकामें पहुँचकर देखा, श्रीकृष्ण शयन कर रहे हैं। तब वे दोनों सोये हुए श्रीकृष्णके पास गये ॥ ७ ॥

ततः शयाने गोविन्दे प्रविवेश सुयोधनः ।
उच्छीर्षतश्च कृष्णस्य निषसाद वरासने ॥ ८ ॥

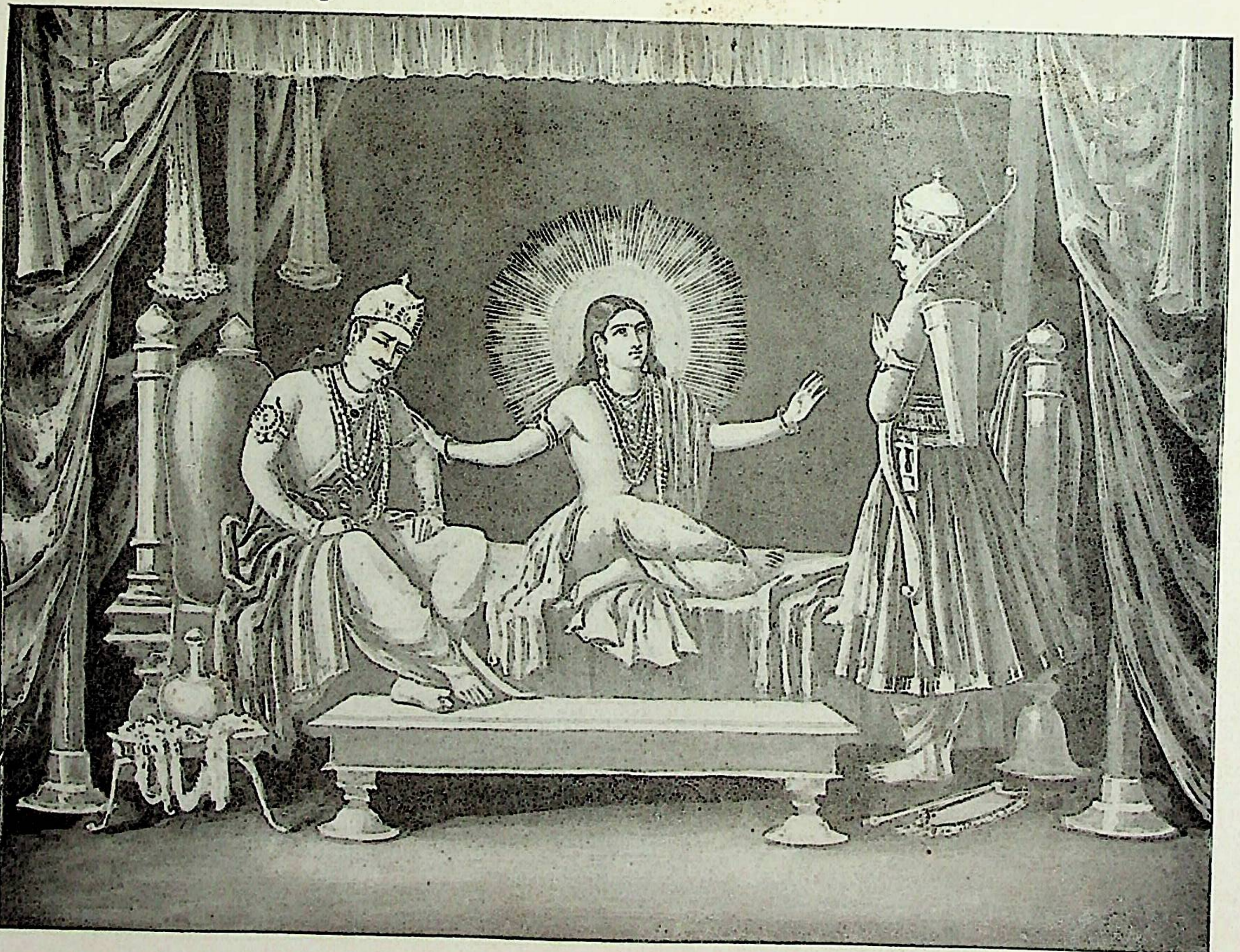
श्रीकृष्णके शयनकालमें पहले दुर्योधनने उनके भवनमें प्रवेश किया और उनके सिरहानेकी ओर रक्खे हुए एक श्रेष्ठ सिंहासनपर बैठ गया ॥ ८ ॥

ततः किरीटी तस्यानुप्रविवेश महामनाः ।
पश्चाच्चैव स कृष्णस्य प्रह्वोऽतिष्ठत् कृताञ्जलिः ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् महामना किरीटधारी अर्जुनने श्रीकृष्णके शयनागारमें प्रवेश किया। वे बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़े हुए श्रीकृष्णके चरणोंकी ओर खड़े रहे ॥ ९ ॥

प्रतिबुद्धः स वार्ष्णेयो ददर्शाग्रे किरीटिनम् ।
स तयोः स्वागतं कृत्वा यथावत् प्रतिपूज्य तौ ॥ १० ॥
तदागमनजं हेतुं पप्रच्छ मधुसूदनः ।
ततो दुर्योधनः कृष्णमुवाच प्रहसन्निव ॥ ११ ॥

जागनेपर वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्णने पहले अर्जुनको ही देखा। मधुसूदनने उन दोनोंका यथायोग्य आदर-सत्कार



दुर्योधन और अर्जुनका श्रीकृष्णसे युद्धके लिये सहायता माँगना



करके उनसे उनके आगमनका कारण पूछा। तब दुर्योधनने भगवान् श्रीकृष्णसे हँसते हुए-से कहा—॥ १०-११ ॥

विग्रहेऽस्मिन् भवान् साह्यं मम दातुमिहार्हति।
समं हि भवतः सख्यं मम चैवार्जुनेऽपि च ॥ १२ ॥
तथा सम्बन्धकं तुल्यमस्माकं त्वयि माधव।
अहं चाभिगतः पूर्वं त्वामद्य मधुसूदन ॥ १३ ॥
पूर्वं चाभिगतं सन्तो भजन्ते पूर्वसारिणः।
त्वं च श्रेष्ठतमो लोके सतामद्य जनार्दन।
सततं सम्मतश्चैव सद्वृत्तमनुपालय ॥ १४ ॥

'माधव! (पाण्डवोंके साथ हमारा) जो युद्ध होनेवाला है, उसमें आप मुझे सहायता दें। आपकी मेरे तथा अर्जुनके साथ एक-सी मित्रता है एवं हमलोगोंका आपके साथ सम्बन्ध भी समान ही है और मधुसूदन! आज मैं ही आपके पास पहले आया हूँ। पूर्वपुरुषोंके सदाचारका अनुसरण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष पहले आये हुए प्रार्थीकी ही सहायता करते हैं। जनार्दन! आप इस समय संसारके सत्पुरुषोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं और सभी सर्वदा आपको सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं। अतः आप सत्पुरुषोंके ही आचारका पालन करें' ॥ १२-१४ ॥

कृष्ण उवाच

भवानभिगतः पूर्वमत्र मे नास्ति संशयः।
दृष्टस्तु प्रथमं राजन् मया पार्थो धनंजयः ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन्! इसमें संदेह नहीं कि आप ही मेरे यहाँ पहले आये हैं, परंतु मैंने पहले कुन्तीनन्दन अर्जुनको ही देखा है ॥ १५ ॥



तव पूर्वाभिगमनात् पूर्वं चाप्यस्य दर्शनात्।
साहाय्यमुभयोरेव करिष्यामि सुयोधन ॥ १६ ॥

सुयोधन! आप पहले आये हैं और अर्जुनको मैंने पहले देखा है; इसलिये मैं दोनोंकी ही सहायता करूँगा ॥ १६ ॥

प्रवारणं तु बालानां पूर्वं कार्यमिति श्रुतिः।
तस्मात् प्रवारणं पूर्वमर्हः पार्थो धनंजयः ॥ १७ ॥

शास्त्रकी आज्ञा है कि पहले बालकोंको ही उनकी अभीष्ट वस्तु देनी चाहिये; अतः अवस्थामें छोटे होनेके कारण पहले कुन्तीपुत्र अर्जुन ही अपनी अभीष्ट वस्तु पानेके अधिकारी हैं॥

मत्संहननतुल्यानां गोपानामर्बुदं महत्।
नारायणा इति ख्याताः सर्वे संग्रामयोधिनः ॥ १८ ॥

मेरे पास दस करोड़ गोपोंकी विशाल सेना है, जो सबके सब मेरे जैसे-ही बलिष्ठ शरीरवाले हैं। उन सबकी 'नारायण' संज्ञा है। वे सभी युद्धमें डटकर लोहा लेनेवाले हैं ॥ १८ ॥

ते वा युधि दुराधर्षा भवन्त्वेकस्य सैनिकाः।
अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः ॥ १९ ॥

एक ओर तो वे दुर्धर्ष सैनिक युद्धके लिये उद्यत रहेंगे और दूसरी ओरसे अकेला मैं रहूँगा; परंतु मैं न तो युद्ध करूँगा और न कोई शस्त्र ही धारण करूँगा ॥ १९ ॥

आभ्यामन्यतरं पार्थ यत् ते हृद्यतरं मतम्।
तद् वृणीतां भवानग्रे प्रवार्यस्त्वं हि धर्मतः ॥ २० ॥

अर्जुन! इन दोनोंमेंसे कोई एक वस्तु, जो तुम्हारे मनको अधिक प्रिय जान पड़े, तुम पहले चुन लो; क्योंकि धर्मके अनुसार पहले तुम्हें ही अपनी मनचाही वस्तु चुननेका अधिकार है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कृष्णेन कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम् ॥ २१ ॥
नारायणममित्रघ्नं कामाज्जातमजं नृषु।
सर्वक्षत्रस्य पुरतो देवदानवयोरपि ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार धनंजयने संग्रामभूमिमें युद्ध न करनेवाले उन भगवान् श्रीकृष्णको ही (अपना सहायक) चुना, जो साक्षात् शत्रुहन्ता नारायण हैं और अजन्मा होते हुए भी स्वेच्छासे देवता, दानव तथा समस्त क्षत्रियोंके सम्मुख मनुष्योंमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ २१-२२ ॥

दुर्योधनस्तु तत् सैन्यं सर्वमावरयत् तदा।
सहस्राणां सहस्रं तु योधानां प्राप्य भारत ॥ २३ ॥
कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा सम्प्राप परमां मुदम्।
दुर्योधनस्तु तत् सैन्यं सर्वमादाय पार्थिवः ॥ २४ ॥
ततोऽभ्ययाद् भीमबलो रौहिणेयं महाबलम्।

सर्वं चागमने हेतुं स तस्मै संन्यवेदयत् ।
प्रत्युवाच ततः शौरिर्धार्तराष्ट्रमिदं वचः ॥ २५ ॥

जनमेजय ! तब दुर्योधनने वह सारी सेना माँग ली, जो अनेक सहस्र सैनिकोंकी सहस्रों टोलियोंमें संगठित थी । उन योद्धाओंको पाकर और श्रीकृष्णको ठगा गया समझकर राजा दुर्योधनको बड़ी प्रसन्नता हुई । उसका बल भयंकर था । वह सारी सेना लेकर महाबली रोहिणीनन्दन बलरामजीके पास गया और उसने उन्हें अपने आनेका सारा कारण बताया । तब शूरवंशी बलरामजीने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको इस प्रकार उत्तर दिया ॥ २३-२५ ॥

बलदेव उवाच

विदितं ते नरव्याघ्र सर्वं भवितुमर्हति ।
यन्मयोक्तं विराटस्य पुरा वैवाहिके तदा ॥ २६ ॥

बलदेवजी बोले—पुरुषसिंह ! पहले राजा विराटके यहाँ विवाहोत्सवके अवसरपर मैंने जो कुछ कहा था, वह सब तुम्हें मालूम हो गया होगा ॥ २६ ॥

निगृह्योक्तो हृषीकेशस्त्वदर्थं कुरुनन्दन ।
मया सम्बन्धकं तुल्यमिति राजन् पुनः पुनः ॥ २७ ॥
न च तद् वाक्यमुक्तं वै केशवं प्रत्यपद्यत ।
न चाहमुत्सहे कृष्णं विना स्थातुमपि क्षणम् ॥ २८ ॥

कुरुनन्दन ! तुम्हारे लिये मैंने श्रीकृष्णको बाध्य करके कहा था कि हमारे साथ दोनों पक्षोंका समानरूपसे सम्बन्ध है । राजन् ! मैंने वह बात बार-बार दुहरायी, परंतु श्रीकृष्णको जँची नहीं और मैं श्रीकृष्णको छोड़कर एक क्षण भी अन्यत्र कहीं ठहर नहीं सकता ॥ २७-२८ ॥

नाहं सहायः पार्थस्य नापि दुर्योधनस्य वै ।
इति मे निश्चिता बुद्धिर्वासुदेवमवेक्ष्य ह ॥ २९ ॥

अतः मैं श्रीकृष्णकी ओर देखकर मन-ही-मन इस निश्चयपर पहुँचा हूँ कि मैं न तो अर्जुनकी सहायता करूँगा और न दुर्योधनकी ही ॥ २९ ॥

जातोऽसि भारते वंशे सर्वपार्थिवपूजिते ।
गच्छ युध्यस्व धर्मेण क्षात्रेण पुरुषर्षभ ॥ ३० ॥

पुरुषरत्न ! तुम समस्त राजाओंद्वारा सम्मानित भरतवंशमें उत्पन्न हुए हो । जाओ, क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध करो ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्तस्तु तदा परिष्वज्य हलायुधम् ।
कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा युद्धान्मेने जितं जयम् ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बलभद्रजीके ऐसा कहनेपर दुर्योधनने उन्हें हृदयसे लगाया और श्रीकृष्णको ठगा गया जानकर युद्धसे अपनी निश्चित वि[जय] समझ ली ॥ ३१ ॥

सोऽभ्ययात् कृतवर्माणं धृतराष्ट्रसुतो नृपः ।
कृतवर्मा ददौ तस्य सेनामक्षौहिणीं तदा ॥ ३२ ॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन कृतवर्माके प[ास] गया । कृतवर्माने उसे एक अक्षौहिणी सेना दी ॥ ३२ ॥

स तेन सर्वसैन्येन भीमेन कुरुनन्दनः ।
वृतः परिययौ हृष्टः सुहृदः सम्प्रहर्षयन् ॥ ३३ ॥

उस सारी भयंकर सेनाके द्वारा घिरा हुआ कुरुनन्दन दुर्योधन अपने सुहृदोंका हर्ष बढ़ाता हुआ बड़ी प्रसन्नता[के] साथ हस्तिनापुरको लौट गया ॥ ३३ ॥

ततः पीताम्बरधरो जगत्स्रष्टा जनार्दनः ।
गते दुर्योधने कृष्णः किरीटिनमथाब्रवीत् ।
अयुध्यमानः कां बुद्धिमास्थायाहं वृतस्त्वया ॥ ३४ ॥

दुर्योधनके चले जानेपर पीताम्बरधारी जगत्स्रष्टा जनार्दन श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! मैं तो युद्ध करूँगा न[हीं] फिर तुमने क्या सोच-समझकर मुझे चुना है ?' ॥ ३४ ॥

अर्जुन उवाच

भवान् समर्थस्तान् सर्वान् निहन्तुं नात्र संशयः ।
निहन्तुमहमप्येकः समर्थः पुरुषर्षभ ॥ ३५ ॥

अर्जुन बोले—भगवन् ! आप अकेले ही उन सबको [मार]नेमें समर्थ हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है । पुरुषोत्त[म !] (आपकी ही कृपासे) मैं भी अकेला ही उन सब शत्रुओं[का] संहार करनेमें समर्थ हूँ ॥ ३५ ॥

भवांस्तु कीर्तिमाँल्लोके तद् यशस्त्वां गमिष्यति ।
यशसां चाहमप्यर्थी तस्मादसि मया वृतः ॥ ३६ ॥

परंतु आप संसारमें यशस्वी हैं । आप जहाँ भी रहें[गे] वह यश आपका ही अनुसरण करेगा । मुझे भी यशकी इ[च्छा] है ही; इसीलिये मैंने आपका वरण किया है ॥ ३६ ॥

सारथ्यं तु त्वया कार्यमिति मे मानसं सदा ।
चिररात्रेप्सितं कामं तद् भवान् कर्तुमर्हति ॥ ३७ ॥

मेरे मनमें बहुत दिनोंसे यह अभिलाषा थी कि आ[पको] अपना सारथि बनाऊँ—अपने जीवनरथकी बागडोर आ[पके] हाथोंमें सौंप दूँ । मेरी इस चिरकालिक अभिलाषाको [आप] पूर्ण करें ॥ ३७ ॥

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं पार्थ यत् स्पर्धसि मया सह ।
सारथ्यं ते करिष्यामि कामः सम्पद्यतां तव ॥ ३८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पार्थ ! तुम जो (शत्रुओं...

पर विजय पानेमें) मेरे साथ स्पर्धा रखते हो, यह तुम्हारे लिये ठीक ही है। मैं तुम्हारा सारथ्य करूँगा। तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण हो ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रमुदितः पार्थः कृष्णेन सहितस्तदा।
वृतो दशार्हप्रवरैः पुनरायाद् युधिष्ठिरम् ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार (अपनी इच्छा पूर्ण होनेसे) प्रसन्न हुए अर्जुन श्रीकृष्णके सहित मुख्य-मुख्य दशार्हवंशी यादवोंसे घिरे हुए पुनः युधिष्ठिरके पास आये ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि कृष्णसारथ्यस्वीकारे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें श्रीकृष्णका सारथ्यस्वीकारविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

शल्यका दुर्योधनके सत्कारसे प्रसन्न हो उसे वर देना और युधिष्ठिरसे मिलकर उन्हें आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

शल्यः श्रुत्वा तु दूतानां सैन्येन महता वृतः।
अभ्ययात् पाण्डवान् राजन् सह पुत्रैर्महारथैः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवोंके दूतोंके मुखसे उनका संदेश सुनकर राजा शल्य अपने महारथी पुत्रोंके साथ विशाल सेनासे घिरकर पाण्डवोंके पास चले ॥ १ ॥

तस्य सेनानिवेशोऽभूदध्यर्धमिव योजनम्।
तथा हि विपुलां सेनां बिभर्ति स नरर्षभः ॥ २ ॥

नरश्रेष्ठ शल्य इतनी अधिक सेनाका भरण-पोषण करते थे कि उसका पड़ाव पड़नेपर आधी योजन भूमि घिर जाती थी ॥ २ ॥

अक्षौहिणीपती राजन् महावीर्यपराक्रमः।
विचित्रकवचाः शूरा विचित्रध्वजकार्मुकाः ॥ ३ ॥
विचित्राभरणाः सर्वे विचित्ररथवाहनाः।
विचित्रस्रग्धराः सर्वे विचित्राम्बरभूषणाः ॥ ४ ॥
स्वदेशवेषाभरणा वीराः शतसहस्रशः।
तस्य सेनाप्रणेतारो बभूवुः क्षत्रियर्षभाः ॥ ५ ॥

राजन्! महान् बलवान् और पराक्रमी शल्य अक्षौहिणी सेनाके स्वामी थे। सैकड़ों और हजारों वीर क्षत्रियशिरोमणि उनकी विशाल वाहिनीका संचालन करनेवाले सेनापति थे। वे सबके सब शौर्य-सम्पन्न, अद्भुत कवच धारण करनेवाले तथा विचित्र ध्वज एवं धनुषसे सुशोभित थे। उन सबके अङ्गोंमें विचित्र आभूषण शोभा दे रहे थे। सभीके रथ और वाहन विचित्र थे। सबके गलेमें विचित्र मालाएँ सुशोभित थीं। सबके वस्त्र और अलङ्कार अद्भुत दिखायी देते थे। उन सबने अपने-अपने देशकी वेष-भूषा धारण कर रक्खी थी ॥

व्यथयन्निव भूतानि कम्पयन्निव मेदिनीम्।
शनैर्विश्रामयन् सेनां स ययौ येन पाण्डवः ॥ ६ ॥

राजा शल्य समस्त प्राणियोंको व्यथित और पृथ्वीको कम्पित-से करते हुए अपनी सेनाको धीरे-धीरे विभिन्न स्थानों-पर ठहराकर विश्राम देते हुए उस मार्गपर चले, जिससे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके पास शीघ्र पहुँच सकते थे ॥ ६ ॥

ततो दुर्योधनः श्रुत्वा महात्मानं महारथम्।
उपायान्तमभिद्रुत्य स्वयमानर्च भारत ॥ ७ ॥

भरतनन्दन! उन्हीं दिनों दुर्योधनने महारथी एवं महामना राजा शल्यका आगमन सुनकर स्वयं आगे बढ़कर (मार्गमें ही) उनका सेवा-सत्कार प्रारम्भ कर दिया ॥ ७ ॥

कारयामास पूजार्थं तस्य दुर्योधनः सभाः।
रमणीयेषु देशेषु रत्नचित्राः स्वलंकृताः ॥ ८ ॥

दुर्योधनने राजा शल्यके स्वागत-सत्कारके लिये रमणीय प्रदेशोंमें बहुत-से सभाभवन तैयार कराये, जिनकी दीवारोंमें रत्न जड़े हुए थे। उन भवनोंको सब प्रकारसे सजाया गया था ॥ ८ ॥

शिल्पिभिर्विविधैश्चैव क्रीडास्तत्र प्रयोजिताः।
तत्र वस्त्राणि माल्यानि भक्ष्यं पेयं च सत्कृतम् ॥ ९ ॥

नाना प्रकारके शिल्पियोंने उनमें अनेकानेक क्रीडा-विहारके स्थान बनाये थे। वहाँ भाँति-भाँतिके वस्त्र, मालाएँ, खाने-पीनेके सामान तथा सत्कारकी अन्यान्य वस्तुएँ रक्खी गयी थीं ॥ ९ ॥

कूपाश्च विविधाकारा मनोहर्षविवर्धनाः।
वाप्यश्च विविधाकारा औदकानि गृहाणि च ॥ १० ॥

अनेक प्रकारके कुएँ तथा भाँति-भाँतिकी बावड़ियाँ बनायी गयी थीं, जो हृदयके हर्षको बढ़ा रही थीं। बहुत-से ऐसे गृह बने थे, जिनमें जलकी विशेष सुविधा सुलभ की गयी थी ॥ १० ॥

स ताः सभाः समासाद्य पूज्यमानो यथामरः।
दुर्योधनस्य सचिवैर्देशे देशे समन्ततः ॥ ११ ॥

सब ओर विभिन्न स्थानोंमें बने हुए उन सभाभवनोंमें पहुँचकर राजा शल्य दुर्योधनके मन्त्रियोंद्वारा देवताओंकी भाँति पूजित होते थे ॥ ११ ॥

आजगाम सभामन्यां देवावसथवर्चसम् ।
स तत्र विषयैर्युक्तः कल्याणैरतिमानुषैः ॥ १२ ॥

इस तरह (यात्रा करते हुए) शल्य किसी दूसरे सभाभवनमें गये, जो देवमन्दिरोंके समान प्रकाशित होता था। वहाँ उन्हें अलौकिक कल्याणमय भोग प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

मेनेऽभ्यधिकमात्मानमवमेने पुरंदरम् ।
पप्रच्छ स ततः प्रेष्यान् प्रहृष्टः क्षत्रियर्षभः ॥ १३ ॥

उस समय उन क्षत्रियशिरोमणि नरेशने अपने-आपको सबसे अधिक सौभाग्यशाली समझा। उन्हें देवराज इन्द्र भी अपनेसे तुच्छ प्रतीत हुए। उस समय अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्होंने सेवकोंसे पूछा—॥ १३ ॥

युधिष्ठिरस्य पुरुषाः केऽत्र चक्रुः सभा इमाः ।
आनीयन्तां सभाकाराः प्रदेयार्हा हि मे मताः ॥ १४ ॥

'युधिष्ठिरके किन आदमियोंने ये सभाभवन बनाये हैं। उन सबको बुलाओ। मैं उन्हें पुरस्कार देनेके योग्य मानता हूँ ॥ १४ ॥

प्रसादमेषां दास्यामि कुन्तीपुत्रोऽनुमन्यताम् ।
दुर्योधनाय तत् सर्वं कथयन्ति स्म विस्मिताः ॥ १५ ॥

'मैं इन सबको अपनी प्रसन्नताके फलस्वरूप कुछ पुरस्कार दूँगा, कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको भी मेरे इस व्यवहार-का अनुमोदन करना चाहिये।' यह सुनकर सब सेवकोंने विस्मित हो दुर्योधनसे वे सारी बातें बतायीं ॥ १५ ॥

सम्प्रहृष्टो यदा शल्यो दिदित्सुरपि जीवितम् ।
गूढो दुर्योधनस्तत्र दर्शयामास मातुलम् ॥ १६ ॥

जब हर्षमें भरे हुए राजा शल्य (अपने प्रति किये गये उपकारके बदले) प्राणतक देनेको तैयार हो गये, तब गुप्तरूपसे वहीं छिपा हुआ दुर्योधन मामा शल्यके सामने गया ॥१६॥

तं दृष्ट्वा मद्रराजश्च ज्ञात्वा यत्नं च तस्य तम् ।
परिष्वज्याब्रवीत् प्रीत इष्टोऽर्थो गृह्यतामिति ॥ १७ ॥

उसे देखकर तथा उसीने यह सारी तैयारी की है, यह जानकर मद्रराजने प्रसन्नतापूर्वक दुर्योधनको हृदयसे लगा लिया और कहा—'तुम अपनी अभीष्ट वस्तु मुझसे माँग लो' ॥ १७ ॥

दुर्योधन उवाच

सत्यवाग् भव कल्याण वरो वै मम दीयताम् ।
सर्वसेनाप्रणेता वै भवान् भवितुमर्हति ॥ १८ ॥

दुर्योधनने कहा—कल्याणस्वरूप महानुभाव ! आपकी बात सत्य हो। आप मुझे अवश्य वर दीजिये। मैं चाहता हूँ कि आप मेरी सम्पूर्ण सेनाके अधिनायक हो जायँ ॥१८॥

(यथैव पाण्डवास्तुभ्यं तथैव भवते ह्यहम् ।
अनुमान्यं च पाल्यं च भक्तं च भज मां विभो ॥

आपके लिये जैसे पाण्डव हैं, वैसा ही मैं हूँ। प्रभो! आपका भक्त होनेके कारण आपके द्वारा समादृत एवं पालित होने योग्य हूँ। अतः मुझे अपनाइये ॥

शल्य उवाच

एवमेतन्महाराज यथा वदसि पार्थिव ।
एवं ददामि ते प्रीत एवमेतद् भविष्यति ॥)

शल्यने कहा—महाराज ! तुम्हारा कहना ठीक है। भूपाल ! तुम जैसा कहते हो, वैसा ही वर तुम्हें प्रसन्न होकर देता हूँ। यह ऐसा ही होगा—मैं तुम्हारी सेनाका अधिनायक बनूँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

कृतमित्यब्रवीच्छल्यः किमन्यत् क्रियतामिति ।
कृतमित्येव गान्धारिः प्रत्युवाच पुनः पुनः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उस समय शल्यने दुर्योधनसे कहा—'तुम्हारी यह प्रार्थना तो स्वीकार कर ली, अब और कौन-सा कार्य करूँ ?' यह सुनकर गान्धारीनन्दन दुर्योधनने बार-बार यही कहा कि मेरा तो सब काम आपने पूरा कर दिया ॥ १९ ॥

शल्य उवाच

गच्छ दुर्योधन पुरं स्वकमेव नरर्षभ ।
अहं गमिष्ये द्रष्टुं वै युधिष्ठिरमरिंदमम् ॥

शल्य बोले—नरश्रेष्ठ दुर्योधन ! अब तुम अपने नगरको जाओ। मैं शत्रुदमन युधिष्ठिरसे मिलने जाऊँगा ॥



दृष्ट्वा युधिष्ठिरं राजन् क्षिप्रमेष्ये नराधिप।
अवश्यं चापि द्रष्टव्यः पाण्डवः पुरुषर्षभः ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! मैं युधिष्ठिरसे मिलकर शीघ्र ही लौट आऊँगा। पाण्डुपुत्र नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे मिलना भी अत्यन्त आवश्यक है ॥ २१ ॥

दुर्योधन उवाच

क्षिप्रमागम्यतां राजन् पाण्डवं वीक्ष्य पार्थिव।
त्वय्यधीनाः स्म राजेन्द्र वरदानं स्मरस्व नः ॥ २२ ॥

दुर्योधनने कहा—राजन् ! पृथ्वीपते ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे मिलकर आप शीघ्र चले आइये। राजेन्द्र ! हम आपके ही अधीन हैं। आपने हमें जो वरदान दिया है, उसे याद रखियेगा ॥ २२ ॥

शल्य उवाच

क्षिप्रमेष्यामि भद्रं ते गच्छस्व स्वपुरं नृप।
परिष्वज्य तथान्योन्यं शल्यदुर्योधनावुभौ ॥ २३ ॥

शल्य बोले—नरेश्वर ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम अपने नगरको जाओ। मैं शीघ्र आऊँगा।

ऐसा कहकर राजा शल्य तथा दुर्योधन दोनों एक दूसरेसे गले मिलकर विदा हुए ॥ २३ ॥

तथा शल्यमामन्त्र्य पुनरायात् स्वकं पुरम्।
शल्यो जगाम कौन्तेयानाख्यातुं कर्म तस्य तत् ॥ २४ ॥

इस प्रकार शल्यसे आज्ञा लेकर दुर्योधन पुनः अपने नगरको लौट आया और शल्य कुन्तीकुमारोंसे दुर्योधनकी करतूत सुनानेके लिये युधिष्ठिरके पास गये ॥ २४ ॥

उपप्लव्यं स गत्वा तु स्कन्धावारं प्रविश्य च।
पाण्डवानथ तान् सर्वान् शल्यस्तत्र ददर्श ह ॥ २५ ॥

विराटनगरके उपप्लव्य नामक प्रदेशमें जाकर वे पाण्डवोंकी छावनीमें पहुँचे और वहीं उन सब पाण्डवोंसे मिले ॥ २५ ॥

समेत्य च महाबाहुः शल्यः पाण्डुसुतैस्तदा।
पाद्यमर्घ्यं च गां चैव प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ॥ २६ ॥

पाण्डुपुत्रोंसे मिलकर महाबाहु शल्यने उनके द्वारा विधिपूर्वक दिये हुए पाद्य, अर्घ्य और गौको ग्रहण किया ॥ २६ ॥

ततः कुशलपूर्वं हि मद्रराजोऽरिसूदनः।
प्रीत्या परमया युक्तः समाश्लिष्यद् युधिष्ठिरम् ॥ २७ ॥
तथा भीमार्जुनौ हृष्टौ स्वस्रीयौ च यमावुभौ।

तत्पश्चात् शत्रुसूदन मद्रराज शल्यने कुशल-प्रश्नके अनन्तर बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा युधिष्ठिरको हृदयसे लगाया। इसी प्रकार उन्होंने हर्षमें भरे हुए दोनों भाई भीमसेन और अर्जुनको तथा अपनी बहिनके दोनों जुड़वे पुत्रों—नकुल-सहदेवको भी गले लगाया ॥ २७½ ॥

(द्रौपदी च सुभद्रा च अभिमन्युश्च भारत।
समेत्य च महाबाहुं शल्यं पाण्डुसुतस्तदा ॥
कृताञ्जलिरदीनात्मा धर्मात्मा शल्यमब्रवीत्।

भारत ! तदनन्तर द्रौपदी, सुभद्रा तथा अभिमन्युने महाबाहु शल्यके पास आकर उन्हें प्रणाम किया। उस समय उदारचेता धर्मात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने दोनों हाथ जोड़कर शल्यसे कहा ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्वागतं तेऽस्तु वै राजन्नेतदासनमास्यताम् ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! आपका स्वागत है। इस आसनपर विराजिये ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो न्यषीदच्छल्यश्च काञ्चने परमासने।
कुशलं पाण्डवोऽपृच्छच्छल्यं सर्वसुखावहम् ॥
स तैः परिवृतः सर्वैः पाण्डवैर्धर्मचारिभिः।)
आसने चोपविष्टस्तु शल्यः पार्थमुवाच ह ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा शल्य सुवर्णके श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान हुए। उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने सबको सुख देनेवाले शल्यसे कुशल-समाचार पूछा। उन समस्त धर्मात्मा पाण्डवोंसे घिरकर आसनपर बैठे हुए राजा शल्य कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले— ॥ २८ ॥

कुशलं राजशार्दूल कच्चित् ते कुरुनन्दन।
अरण्यवासाद् दिष्ट्यासि विमुक्तो जयतां वर ॥ २९ ॥

'नृपतिश्रेष्ठ कुरुनन्दन ! तुम कुशलसे तो हो न ? विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ नरेश ! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम वनवासके कष्टसे छुटकारा पा गये ॥ २९ ॥

सुदुष्करं कृतं राजन् निर्जने वसता त्वया।
भ्रातृभिः सह राजेन्द्र कृष्णया चानया सह ॥ ३० ॥

'राजन् ! तुमने अपने भाइयों तथा इस द्रुपदकुमारी कृष्णाके साथ निर्जन वनमें निवास करके अत्यन्त दुष्कर कार्य किया है ॥ ३० ॥

अज्ञातवासं घोरं च वसता दुष्करं कृतम्।
दुःखमेव कुतः सौख्यं भ्रष्टराज्यस्य भारत ॥ ३१ ॥

'भारत ! भयंकर अज्ञातवास करके तो तुमलोगोंमें और भी दुष्कर कार्य सम्पन्न किया है। जो अपने राज्यसे वञ्चित हो गया हो, उसे तो कष्ट ही उठाना पड़ता है, सुख कहाँसे मिल सकता है ? ॥ ३१ ॥

दुःखस्यैतस्य महतो धार्तराष्ट्रकृतस्य वै।
अवाप्स्यसि सुखं राजन् हत्वा शत्रून् परंतप ॥ ३२ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! दुर्योधनके दिये हुए इस महान् दुःखके अन्तमें अब तुम शत्रुओंको मारकर सुखके भागी होओगे ॥ ३२ ॥

विदितं ते महाराज लोकतन्त्रं नराधिप।
तस्माल्लोभकृतं किंचित् तव तात न विद्यते ॥ ३३ ॥

'महाराज ! नरेश्वर ! तुम्हें लोकतन्त्रका सम्यक् ज्ञान है। तात ! इसीलिये तुममें लोभजनित कोई भी बर्ताव नहीं है ॥ ३३ ॥

राजर्षीणां पुराणानां मार्गमन्विच्छ भारत।
दाने तपसि सत्ये च भव तात युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥

'भारत ! प्राचीन राजर्षियोंके मार्गका अनुसरण करो। तात युधिष्ठिर ! तुम सदा दान, तपस्या और सत्यमें ही संलग्न रहो ॥ ३४ ॥

क्षमा दमश्च सत्यं च अहिंसा च युधिष्ठिर।
अद्भुतश्च पुनर्लोकस्त्वयि राजन् प्रतिष्ठितः ॥ ३५ ॥

'राजा युधिष्ठिर ! क्षमा, इन्द्रियसंयम, सत्य, अहिंसा तथा अद्भुत लोक—ये सब तुममें प्रतिष्ठित हैं ॥ ३५ ॥

मृदुर्वदान्यो ब्रह्मण्यो दाता धर्मपरायणः।
धर्मास्ते विदिता राजन् बहवो लोकसाक्षिकाः ॥ ३६ ॥

'महाराज ! तुम कोमल, उदार, ब्राह्मणभक्त, दानी तथा धर्मपरायण हो। संसार जिनका साक्षी है, ऐसे बहुत-से धर्म तुम्हें ज्ञात हैं ॥ ३६ ॥

सर्वं जगदिदं तात विदितं ते परंतप।
दिष्ट्या कृच्छ्रमिदं राजन् पारितं भरतर्षभ ॥ ३७ ॥

'तात ! परंतप ! तुम्हें इस सम्पूर्ण जगत्का तत्त्व ज्ञात है। भरतश्रेष्ठ नरेश ! तुम इस महान् संकटसे पार हो गये, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ ३७ ॥

दिष्ट्या पश्यामि राजेन्द्र धर्मात्मानं सहानुगम्।
निस्तीर्णं दुष्करं राजंस्त्वां धर्मनिचयं प्रभो ॥ ३८ ॥

'राजेन्द्र ! तुम धर्मात्मा एवं धर्मकी निधि हो। राजन् ! तुमने भाइयोंसहित अपनी दुष्कर प्रतिज्ञा पूरी कर ली है और इस अवस्थामें मैं तुम्हें देख रहा हूँ; यह मेरा अहोभाग्य है' ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽस्याकथयद् राजा दुर्योधनसमागमम्।
तच्च शुश्रूषितं सर्वं वरदानं च भारत ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! तदनन्तर राजा शल्यने दुर्योधनके मिलने, सेवा-शुश्रूषा करने और उसे अपने वरदान देनेकी सारी बातें कह सुनायीं ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सुकृतं ते कृतं राजन् प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
दुर्योधनस्य यद् वीर त्वया वाचा प्रतिश्रुतम् ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर बोले—वीर महाराज ! आपने प्रसन्नचित्त होकर जो दुर्योधनको उसकी सहायताका वचन दे दिया, वह अच्छा ही किया ॥ ४० ॥

एकं त्विच्छामि भद्रं ते क्रियमाणं महीपते।
राजन्नकर्तव्यमपि कर्तुमर्हसि सत्तम ॥ ४१ ॥
ममत्ववेक्षया वीर शृणु विज्ञापयामि ते।
भवानिह च सारथ्ये वासुदेवसमो युधि ॥ ४२ ॥

परंतु पृथ्वीपते ! आपका कल्याण हो। मैं आपके द्वारा अपना भी एक काम कराना चाहता हूँ। सत्पुरुषशिरोमणे ! वह न करने योग्य होनेपर भी मेरी ओर देखते हुए आपको अवश्य करना चाहिये। वीरवर ! सुनिये; वह कार्य आपको बता रहा हूँ। महाराज ! आप इस भूतलपर संग्राममें सारथिका काम करनेके लिये वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके समान माने गये हैं ॥ ४१-४२ ॥

कर्णार्जुनाभ्यां सम्प्राप्ते द्वैरथे राजसत्तम।
कर्णस्य भवता कार्यं सारथ्यं नात्र संशयः ॥ ४३ ॥

नृपशिरोमणे ! जब कर्ण और अर्जुनके द्वैरथयुद्धका अवसर प्राप्त होगा, उस समय आपको ही कर्णके सारथिका काम करना पड़ेगा; इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ४३ ॥

तत्र पाल्योऽर्जुनो राजन् यदि मत्प्रियमिच्छसि।
तेजोवधश्च ते कार्यः सौतेरस्मज्जयावहः ॥ ४४ ॥
अकर्तव्यमपि ह्येतत् कर्तुमर्हसि मातुल।

राजन् ! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं, तो उस युद्धमें आपको अर्जुनकी रक्षा करनी होगी। आपका कार्य इतना ही होगा कि आप कर्णका उत्साह भङ्ग करते रहें। वही कर्णसे हमें विजय दिलानेवाला होगा। मामाजी ! मेरेलिये यह न करने योग्य कार्य भी करें ॥ ४४½ ॥

शल्य उवाच

शृणु पाण्डव ते भद्रं यद् ब्रवीषि महात्मनः।
तेजोवधनिमित्तं मां सूतपुत्रस्य सङ्गमे ॥ ४५ ॥
अहं तस्य भविष्यामि संग्रामे सारथिर्ध्रुवम्।
वासुदेवेन हि समं नित्यं मां स हि मन्यते ॥ ४६ ॥

शल्य बोले—पाण्डुनन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरी बात सुनो ! युद्धमें महामना सूतपुत्र कर्णके तेज और उत्साहको नष्ट करनेके लिये तुम जो मुझसे अनुरोध करते हो, वह ठीक है। यह निश्चय है कि मैं उस युद्धमें उसका सारथि होऊँगा। स्वयं कर्ण भी सदा मुझे सारथिकर्ममें भगवान् श्रीकृष्णके समान समझता है ॥ ४५-४६ ॥



तस्याहं कुरुशार्दूल प्रतीपमहितं वचः।
ध्रुवं संकथयिष्यामि योद्धुकामस्य संयुगे ॥ ४७॥
यथा स हृतदर्पश्च हृततेजाश्च पाण्डव।
भविष्यति सुखं हन्तुं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ४८॥

कुरुश्रेष्ठ ! जब कर्ण रणभूमिमें अर्जुनके साथ युद्धकी इच्छा करेगा, उस समय मैं अवश्य ही उसके प्रतिकूल अहितकर वचन बोलूँगा, जिससे उसका अभिमान और तेज नष्ट हो जायगा और वह युद्धमें सुखपूर्वक मारा जा सकेगा। पाण्डुनन्दन ! मैं तुमसे यह सत्य कहता हूँ।४७-४८।

एवमेतत् करिष्यामि यथा तात त्वमात्थ माम्।
यच्चान्यदपि शक्ष्यामि तत् करिष्यामि ते प्रियम् ॥ ४९॥

तात ! तुम मुझसे जो कुछ कह रहे हो, यह अवश्य पूर्ण करूँगा। इसके सिवा और भी जो कुछ मुझसे हो सकेगा, तुम्हारा वह प्रिय कार्य अवश्य करूँगा ॥ ४९ ॥

यच्च दुःखं त्वया प्राप्तं द्यूते वै कृष्णया सह।
परुषाणि च वाक्यानि सूतपुत्रकृतानि वै ॥ ५०॥
जटासुरात् परिक्लेशः कीचकाच्च महाद्युते।
द्रौपद्याधिगतं सर्वं दमयन्त्या यथाशुभम् ॥ ५१॥
सर्वं दुःखमिदं वीर सुखोदर्कं भविष्यति।
नात्र मन्युस्त्वया कार्यो विधिर्हि बलवत्तरः ॥ ५२॥

महातेजस्वी वीरवर युधिष्ठिर ! तुमने द्यूतसभामें द्रौपदीके साथ जो दुःख उठाया है, सूतपुत्र कर्णने तुम्हें जो कठोर बातें सुनायी हैं तथा पूर्वकालमें दमयन्तीने जैसे अशुभ (दुःख) भोगा था, उसी प्रकार द्रौपदीने जटासुर तथा कीचकसे जो महान् क्लेश प्राप्त किया है, यह सभी दुःख भविष्यमें तुम्हारे लिये सुखके रूपमें परिवर्तित हो जायगा। इसके लिये तुम्हें खेद नहीं करना चाहिये; क्योंकि विधाताका विधान अति प्रबल होता है ॥ ५०-५२ ॥

दुःखानि हि महात्मानः प्राप्नुवन्ति युधिष्ठिर।
देवैरपि हि दुःखानि प्राप्तानि जगतीपते ॥ ५३॥

युधिष्ठिर ! महात्मा पुरुष भी समय-समयपर दुःख पाते हैं । पृथ्वीपते ! देवताओंने भी बहुत दुःख उठाये हैं ॥ ५३ ॥

इन्द्रेण श्रूयते राजन् सभार्येण महात्मना।
अनुभूतं महद् दुःखं देवराजेन भारत ॥ ५४॥

भरतवंशी नरेश ! सुना जाता है कि पत्नीसहित महामना देवराज इन्द्रने भी महान् दुःख भोगा है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि शल्यवाक्ये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें शल्यवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

इन्द्रके द्वारा त्रिशिराका वध, वृत्रासुरकी उत्पत्ति, उसके साथ इन्द्रका युद्ध तथा देवताओंकी पराजय

युधिष्ठिर उवाच

कथमिन्द्रेण राजेन्द्र सभार्येण महात्मना।
दुःखं प्राप्तं परं घोरमेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजेन्द्र ! पत्नीसहित महामना इन्द्रने कैसे अत्यन्त भयंकर दुःख प्राप्त किया था ? यह मैं जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

शल्य उवाच

शृणु राजन् पुरावृत्तमितिहासं पुरातनम्।
सभार्येण यथा प्राप्तं दुःखमिन्द्रेण भारत ॥ २ ॥

शल्यने कहा—भरतवंशी नरेश ! यह पूर्वकालमें घटित पुरातन इतिहास है। पत्नीसहित इन्द्रने जिस प्रकार महान् दुःख प्राप्त किया था, वह बताता हूँ; सुनो ॥ २ ॥

त्वष्टा प्रजापतिर्ह्यासीद् देवश्रेष्ठो महातपाः।
स पुत्रं वै त्रिशिरसमिन्द्रद्रोहात् किलासृजत् ॥ ३ ॥

त्वष्टा नामसे प्रसिद्ध एक प्रजापति थे, जो देवताओंमें

श्रेष्ठ और महान् तपस्वी माने जाते थे। कहते हैं, उन्होंने इन्द्रके प्रति द्रोहबुद्धि हो जानेके कारण ही एक तीन सिरवाला पुत्र उत्पन्न किया ॥ ३ ॥

ऐन्द्रं स प्रार्थयत् स्थानं विश्वरूपो महाद्युतिः।
तैस्त्रिभिर्वदनैर्घोरैः सूर्येन्दुज्वलनोपमैः ॥ ४ ॥

उस महातेजस्वी बालकका नाम था विश्वरूप। वह सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निके समान तेजस्वी एवं भयंकर अपने उन तीनों मुखोंद्वारा इन्द्रका स्थान पानेकी प्रार्थना करता था ॥४॥

वेदानेकेन सोऽधीते सुरामेकेन चापिबत्।
एकेन च दिशः सर्वाः पिबन्निव निरीक्षते ॥ ५ ॥

वह अपने एक मुखसे वेदोंका स्वाध्याय करता, दूसरेसे सुरा पीता और तीसरेसे सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर इस प्रकार देखता था, मानो उन्हें पी जायगा ॥ ५ ॥

स तपस्वी मृदुर्दान्तो धर्मे तपसि चोद्यतः।
तपस्तस्य महत् तीव्रं सुदुश्चरमरिंदम ॥ ६ ॥

शत्रुदमन! त्वष्टाका वह पुत्र कोमल स्वभाववाला, तपस्वी, जितेन्द्रिय तथा धर्म और तपस्याके लिये सदा उद्यत रहनेवाला था। उसका बड़ा भारी तीव्र तप दूसरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर था ॥ ६ ॥

तस्य दृष्ट्वा तपोवीर्यं सत्यं चामिततेजसः।
विषादमगमच्छक्र इन्द्रोऽयं मा भवेदिति ॥ ७ ॥

उस अमिततेजस्वी बालकका तपोबल तथा सत्य देखकर इन्द्रको बड़ा दुःख हुआ। वे सोचने लगे, 'कहीं यह इन्द्र न हो जाय ॥ ७ ॥

कथं सज्जेच्च भोगेषु न च तप्येन्महत् तपः।
विवर्धमानस्त्रिशिराः सर्वं हि भुवनं ग्रसेत् ॥ ८ ॥

'क्या उपाय किया जाय, जिससे यह भोगोंमें आसक्त हो जाय और भारी तपस्यामें प्रवृत्त न हो? क्योंकि यह वृद्धिको प्राप्त हुआ त्रिशिरा तीनों लोकोंको अपना ग्रास बना लेगा' ।८।

इति संचिन्त्य बहुधा बुद्धिमान् भरतर्षभ।
आज्ञापयत् सोऽप्सरसस्त्वष्टृपुत्रप्रलोभने ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ! इस तरह बहुत सोच-विचार करके बुद्धिमान् इन्द्रने त्वष्टाके पुत्रको लुभानेके लिये अप्सराओंको आज्ञा दी— ॥ ९ ॥

यथा स सज्जेत् त्रिशिराः कामभोगेषु वै भृशम्।
क्षिप्रं कुरुत गच्छध्वं प्रलोभयत मा चिरम् ॥ १० ॥

'अप्सराओ! जिस प्रकार त्रिशिरा कामभोगोंमें अत्यन्त आसक्त हो जाय, शीघ्र वैसा ही यत्न करो। जाओ, उसे लुभाओ, विलम्ब न करो ॥ १० ॥

शृङ्गारवेषाः सुश्रोण्यो हारैर्युक्ता मनोहरैः।
हावभावसमायुक्ताः सर्वाः सौन्दर्यशोभिताः ॥ ११ ॥
प्रलोभयत भद्रं वः शमयध्वं भयं मम।
अस्वस्थं ह्यात्मनाऽऽत्मानं लक्षयामि वराङ्गनाः।
भयं तन्मे महाघोरं क्षिप्रं नाशयताबलाः ॥ १२ ॥

'सुन्दरियो! तुम सब शृङ्गारके अनुरूप वेष धारण करके मनोहर हारोंसे विभूषित, हाव-भावसे संयुक्त तथा सौन्दर्यसे सुशोभित हो विश्वरूपको लुभाओ। तुम्हारा कल्याण हो, मेरे भयको शान्त करो। वराङ्गनाओ! मैं अपने आपको अस्वस्थचित्त देख रहा हूँ, अतः अबलाओ! तुम मेरे अत्यन्त घोर भयका शीघ्र निवारण करो' ॥ ११-१२ ॥

अप्सरस ऊचुः

तथा यत्नं करिष्यामः शक्र तस्य प्रलोभने।
यथा नावाप्स्यसि भयं तस्माद् बलनिषूदन ॥ १३ ॥

अप्सराएँ बोलीं—शक्र! बलनिषूदन! हम विश्वरूपको लुभानेके लिये ऐसा यत्न करेंगी, जिससे उसकी ओरसे आपको कोई भय नहीं प्राप्त होगा ॥ १३ ॥

निर्दहन्निव चक्षुर्भ्यां योऽसावास्ते तपोनिधिः।
तं प्रलोभयितुं देव गच्छामः सहिता वयम् ॥ १४ ॥
यतिष्यामो वशे कर्तुं व्यपनेतुं च ते भयम्।

देव! जो तपोनिधि विश्वरूप अपने दोनों नेत्रोंसे सबको दग्ध करते हुए-से विराज रहे हैं, उन्हें प्रलोभनमें डालनेके लिये हम सब अप्सराएँ एक साथ जा रही हैं। वहाँ उसे वशमें करने तथा आपके भयको दूर हटानेके लिये हम प्रयत्न करेंगी ॥ १४½ ॥

शल्य उवाच

इन्द्रेण तास्त्वनुज्ञाता जग्मुस्त्रिशिरसोऽन्तिकम्।
तत्र ता विविधैर्भावैर्लोभयन्त्यो वराङ्गनाः ॥ १५ ॥
नित्यं संदर्शयामासुस्तथैवाङ्गेषु सौष्ठवम्।
नाभ्यगच्छत् प्रहर्षं ताः स पश्यन् सुमहातपाः ॥ १६ ॥
इन्द्रियाणि वशे कृत्वा पूर्वसागरसंनिभः।

शल्य बोले—राजन्! इन्द्रकी आज्ञा पाकर वे सब अप्सराएँ त्रिशिराके समीप गयीं। वहाँ उन



रियोंने भाँति-भाँतिके हाव-भावोंद्वारा उन्हें लुभानेका प्रयत्न किया तथा प्रतिदिन विश्वरूपको अपने अङ्गोंके सौन्दर्यका दर्शन कराया । तथापि वे महातपस्वी महर्षि उन सबको देखते हुए हर्ष आदि विकारोंको नहीं प्राप्त हुए; अपितु वे इन्द्रियोंको वशमें करके पूर्वसागरके समान शान्तभावसे बैठे रहे ॥ १५-१६½ ॥

तास्तु यत्नं परं कृत्वा पुनः शक्रमुपस्थिताः ॥ १७ ॥
कृताञ्जलिपुटाः सर्वा देवराजमथाब्रुवन् ।
न स शक्यः सुदुर्धर्षो धैर्याच्चालयितुं प्रभो ॥ १८ ॥
यत् ते कार्यं महाभाग क्रियतां तदनन्तरम् ।

वे सब अप्सराएँ (त्रिशिराको विचलित करनेका) पूरा प्रयत्न करके पुनः देवराज इन्द्रकी सेवामें उपस्थित हुईं और हाथ जोड़कर बोलीं—'प्रभो ! वे त्रिशिरा बड़े दुर्धर्ष तपस्वी हैं, उन्हें धैर्यसे विचलित नहीं किया जा सकता । महाभाग ! अब आपको जो कुछ करना हो, उसे कीजिये' ॥ १७-१८½ ॥

सम्पूज्याप्सरसः शक्रो विसृज्य च महामतिः ॥ १९ ॥
चिन्तयामास तस्यैव वधोपायं युधिष्ठिर ।

युधिष्ठिर ! तब परम बुद्धिमान् इन्द्रने अप्सराओंका आदर-सत्कार करके उन्हें विदा कर दिया और वे त्रिशिराके वधका उपाय सोचने लगे ॥ १९½ ॥

स तूष्णीं चिन्तयन् वीरो देवराजः प्रतापवान् ॥ २० ॥
विनिश्चितमतिर्धीमान् वधे त्रिशिरसोऽभवत् ।

प्रतापी वीर बुद्धिमान् देवराज इन्द्र चुपचाप सोचते हुए त्रिशिराके वधके विषयमें एक निश्चयपर पहुँच गये ॥ २०½ ॥

वज्रमस्य क्षिपाम्यद्य स क्षिप्रं न भविष्यति ॥ २१ ॥
शत्रुः प्रवृद्धो नोपेक्ष्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा ।

(उन्होंने सोचा—) 'आज मैं त्रिशिरापर वज्रका प्रहार करूँगा, जिससे वह तत्काल नष्ट हो जायगा । बलवान् पुरुषको दुर्बल होनेपर भी बढ़ते हुए अपने शत्रुकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये' ॥ २१½ ॥

शास्त्रबुद्ध्या विनिश्चित्य कृत्वा बुद्धिं वधे दृढाम् ॥ २२ ॥
अथ वैश्वानरनिभं घोररूपं भयावहम् ।
मुमोच वज्रं संक्रुद्धः शक्रस्त्रिशिरसं प्रति ॥ २३ ॥
स पपात हतस्तेन वज्रेण दृढमाहतः ।
पर्वतस्येव शिखरं प्रणुन्नं मेदिनीतले ॥ २४ ॥

शास्त्रयुक्त बुद्धिसे त्रिशिराके वधका दृढ़ निश्चय करके क्रोधमें भरे हुए इन्द्रने अग्निके समान तेजस्वी, घोर एवं भयंकर वज्रको त्रिशिराकी ओर चला दिया । उस वज्रकी गहरी चोट खाकर त्रिशिरा मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो वज्रके आघातसे टूटा हुआ पर्वतका शिखर भूतलपर पड़ा हो ॥ २२—२४ ॥

तं तु वज्रहतं दृष्ट्वा शयानमचलोपमम् ।
न शर्म लेभे देवेन्द्रो दीपितस्तस्य तेजसा ॥ २५ ॥

त्रिशिराको वज्रके प्रहारसे प्राणशून्य होकर पर्वतकी भाँति पृथ्वीपर पड़ा देखकर भी देवराज इन्द्रको शान्ति नहीं मिली । वे उनके तेजसे संतप्त हो रहे थे ॥ २५ ॥

हतोऽपि दीप्ततेजाः स जीवन्निव हि दृश्यते ।
घातितस्य शिरांस्याजौ जीवन्तीवाद्भुतानि वै ॥ २६ ॥

क्योंकि वे मारे जानेपर भी अपने तेजसे उद्दीप्त होकर जीवित-से दिखायी देते थे । युद्धमें मारे हुए त्रिशिराके तीनों सिर जीते-जागते-से अद्भुत प्रतीत हो रहे थे ॥ २६ ॥

ततोऽतिभीतगात्रस्तु शक्र आस्ते विचारयन् ।
अथाजगाम परशुं स्कन्धेनादाय वर्धकिः ॥ २७ ॥

इससे अत्यन्त भयभीत हो इन्द्र भारी सोच-विचारमें पड़ गये । इसी समय एक बढ़ई कंधेपर कुल्हाड़ी लिये उधर आ निकला ॥ २७ ॥

तदरण्यं महाराज यत्रास्तेऽसौ निपातितः ।
स भीतस्तत्र तक्षाणं घटमानं शचीपतिः ॥ २८ ॥
अपश्यदब्रवीच्चैनं सत्वरं पाकशासनः ।
क्षिप्रं छिन्धि शिरांस्यस्य कुरुष्व वचनं मम ॥ २९ ॥

महाराज ! वह बढ़ई उसी वनमें आया, जहाँ त्रिशिराको मार गिराया गया था । डरे हुए शचीपति इन्द्रने वहाँ अपना काम करते हुए बढ़ईको देखा । देखते ही पाकशासन इन्द्रने तुरंत उससे कहा—'बढ़ई ! तू शीघ्र इस शवके तीनों

मस्तकोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे । मेरी इस आज्ञाका पालन कर' ॥ २८-२९ ॥

तक्षोवाच

महास्कन्धो भृशं ह्येष परशुर्न भविष्यति ।
कर्तुं चाहं न शक्ष्यामि कर्म सद्भिर्विगर्हितम् ॥ ३० ॥

बढ़ईने कहा—इसके कंधे तो बड़े भारी और विशाल हैं। मेरी यह कुल्हाड़ी इसपर काम नहीं देगी और इस प्रकार किसी प्राणीकी हत्या करना तो साधु पुरुषों-द्वारा निन्दित पापकर्म है, अतः मैं इसे नहीं कर सकूँगा॥ ३० ॥

इन्द्र उवाच

मा भैस्त्वं शीघ्रमेतद् वै कुरुष्व वचनं मम ।
मत्प्रसादाद्धि ते शस्त्रं वज्रकल्पं भविष्यति ॥ ३१ ॥

इन्द्रने कहा—बढ़ई ! तू भय न कर । शीघ्र मेरी इस आज्ञाका पालन कर । मेरे प्रसादसे तेरी यह कुल्हाड़ी वज्रके समान हो जायगी ॥ ३१ ॥

तक्षोवाच

कं भवन्तमहं विद्यां घोरकर्माणमद्य वै ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन कथयस्व मे ॥ ३२ ॥

बढ़ईने पूछा—आज इस प्रकार भयानक कर्म करनेवाले आप कौन हैं, यह मैं कैसे समझूँ ? मैं आपका परिचय सुनना चाहता हूँ । यह यथार्थरूपसे बताइये ॥ ३२ ॥

इन्द्र उवाच

अहमिन्द्रो देवराजस्तक्षन् विदितमस्तु ते ।
कुरुष्वैतद् यथोक्तं मे तक्षन् मात्र विचारय ॥ ३३ ॥

इन्द्रने कहा—बढ़ई ! तुझे मालूम होना चाहिये कि मैं देवराज इन्द्र हूँ। मैंने जो कुछ कहा है, उसे शीघ्र पूरा कर । इस विषयमें कुछ विचार न कर ॥ ३३ ॥

तक्षोवाच

क्रूरेण नापत्रपसे कथं शक्रेह कर्मणा ।
ऋषिपुत्रमिमं हत्वा ब्रह्महत्याभयं न ते ॥ ३४ ॥

बढ़ईने कहा—देवराज ! इस क्रूर कर्मसे आपको यहाँ लज्जा कैसे नहीं आती है ? इस ऋषिकुमारकी हत्या करनेसे जो ब्रह्महत्याका पाप लगेगा, क्या उसका भय आपको नहीं है ? ॥ ३४ ॥

शक्र उवाच

पश्चाद् धर्मं चरिष्यामि पावनार्थं सुदुश्चरम् ।
शत्रुरेष महावीर्यो वज्रेण निहतो मया ॥ ३५ ॥

इन्द्रने कहा—यह मेरा महान् शक्तिशाली शत्रु था, जिसे मैंने वज्रसे मार डाला है । इसके बाद ब्रह्महत्यासे अपनी शुद्धि करनेके लिये मैं किसी ऐसे धर्मका अनुष्ठान करूँगा, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर हो ॥ ३५ ॥

अद्यापि चाहमुद्विग्नस्तक्षन्नस्माद् बिभेमि वै ।
क्षिप्रं छिन्धि शिरांसि त्वं करिष्येऽनुग्रहं तव ॥ ३६ ॥

बढ़ई ! यद्यपि यह मारा गया है, तो भी अभी मुझे इसका भय बना हुआ है । तू शीघ्र इसके मस्तकोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे । मैं तेरे ऊपर अनुग्रह करूँगा ॥ ३६ ॥

शिरः पशोस्ते दास्यन्ति भागं यज्ञेषु मानवाः ।
एष तेऽनुग्रहस्तक्षन् क्षिप्रं कुरु मम प्रियम् ॥ ३७ ॥

मनुष्य हिंसाप्रधान तामस यज्ञोंमें पशुका सिर तेरे भागके रूपमें देंगे । बढ़ई ! यह तेरे ऊपर मेरा अनुग्रह है । अब तू जल्दी मेरा प्रिय कार्य कर ॥ ३७ ॥

शल्य उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु तक्षा स महेन्द्रवचनात् तदा ।
शिरांस्यथ त्रिशिरसः कुठारेणाच्छिनत् तदा ॥ ३८ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! यह सुनकर बढ़ईने उस समय महेन्द्रकी आज्ञाके अनुसार कुठारसे त्रिशिराके तीनों सिरोंके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ३८ ॥

निकृत्तेषु ततस्तेषु निष्क्रामन्नण्डजास्त्वथ ।
कपिञ्जलास्तित्तिराश्च कलविङ्काश्च सर्वशः ॥ ३९ ॥

कट जानेपर उनके अंदरसे तीन प्रकारके पक्षी निकले, कपिञ्जल, तीतर और गौरैये ॥ ३९ ॥

येन वेदानधीते स्म पिबते सोममेव च ।
तस्माद् वक्त्राद् विनिश्चेरुः क्षिप्रं तस्य कपिञ्जलाः ॥ ४० ॥

जिस मुखसे वे वेदोंका पाठ करते तथा केवल सोमरस पीते थे, उससे शीघ्रतापूर्वक कपिञ्जल पक्षी निकले थे ॥ ४० ॥

येन सर्वा दिशो राजन् पिबन्निव निरीक्षते ।
तस्माद् वक्त्राद् विनिश्चेरुस्तित्तिरास्तस्य पाण्डव ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर ! जिसके द्वारा वे सम्पूर्ण दिशाओंको इस प्रकार देखते थे, मानो पी जायँगे, उस मुखसे तीतर निकले ॥ ४१ ॥

यत् सुरापं तु तस्यासीद् वक्त्रं त्रिशिरसस्तदा ।
कलविङ्काः समुत्पेतुः श्येनाश्च भरतर्षभ ॥ ४२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! त्रिशिराका जो मुख सुरापान करनेवाला था, उससे गौरैये तथा बाज नामक पक्षी प्रकट हुए ॥ ४२ ॥

ततस्तेषु निकृत्तेषु विज्वरो मघवानथ ।
जगाम त्रिदिवं हृष्टस्तक्षापि स्वगृहान् ययौ ॥ ४३ ॥

उन तीनों सिरोंके कट जानेपर इन्द्रकी मानसिक चिन्ता दूर हो गयी । वे प्रसन्न होकर स्वर्गको लौट गये तथा बढ़ई भी अपने घर चला गया ॥ ४३ ॥

(तक्षापि स्वगृहं गत्वा नैव शंसति कस्यचित्।
अथैनं नाभिजानन्ति वर्षमेकं तथागतम् ॥
अथ संवत्सरे पूर्णे भूताः पशुपतेः प्रभो।
समाक्रोशन्त मघवान् नः प्रभुर्ब्रह्महा इति ॥
तत इन्द्रो व्रतं घोरमाचरत् पाकशासनः।
तपसा च स संयुक्तः सह देवैर्मरुद्गणैः॥
समुद्रेषु पृथिव्यां च वनस्पतिषु स्त्रीषु च।
विभज्य ब्रह्महत्यां च तान् वरैरप्ययोजयत् ॥
वरदस्तु वरं दत्त्वा पृथिव्यै सागराय च।
वनस्पतिभ्यः स्त्रीभ्यश्च ब्रह्महत्यां नुनोद ताम् ॥
ततस्तु शुद्धो भगवान् देवैर्लोकैश्च पूजितः।
इन्द्रस्थानमुपातिष्ठत् पूज्यमानो महर्षिभिः ॥)

उस बढ़ईने भी अपने घर जाकर किसीसे कुछ नहीं कहा। तदनन्तर इन्द्रने ऐसा काम किया है, यह एक वर्ष-तक किसीको मालूम नहीं हुआ। युधिष्ठिर ! वर्ष पूर्ण होनेपर भगवान् पशुपतिके भूतगण यह हल्ला मचाने लगे कि हमारे स्वामी इन्द्र ब्रह्महत्यारे हैं। तब पाकशासन इन्द्रने ब्रह्महत्यासे मुक्ति पानेके लिये कठिन व्रतका आचरण किया। वे देवताओं तथा मरुद्गणोंके साथ तपस्यामें संलग्न हो गये। उन्होंने समुद्र, पृथ्वी, वृक्ष तथा स्त्रीसमुदायको अपनी ब्रह्महत्या बाँटकर उन सबको अभीष्ट वरदान दिया। इस प्रकार वरदायक इन्द्रने पृथ्वी, समुद्र, वनस्पति तथा स्त्रियोंको वर देकर उस ब्रह्महत्याको दूर किया। तदनन्तर शुद्ध होकर भगवान् इन्द्र देवताओं, मनुष्यों तथा महर्षियोंसे पूजित होते हुए अपने इन्द्रपदपर आसीन हुए ॥

मेने कृतार्थमात्मानं हत्वा शत्रुं सुरारिहा।
त्वष्टा प्रजापतिः श्रुत्वा शक्रेणाथ हतं सुतम् ॥ ४४ ॥
क्रोधसंरक्तनयन इदं वचनमब्रवीत्।

दैत्योंका संहार करनेवाले इन्द्रने शत्रुको मारकर अपने आपको कृतार्थ माना। इधर त्वष्टा प्रजापतिने जब यह सुना कि इन्द्रने मेरे पुत्रको मार डाला है, तब उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं और वे इस प्रकार बोले ॥ ४४½ ॥

त्वष्टोवाच

तप्यमानं तपो नित्यं क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम्।
विनापराधेन यतः पुत्रं हिंसितवान् मम ॥ ४५ ॥

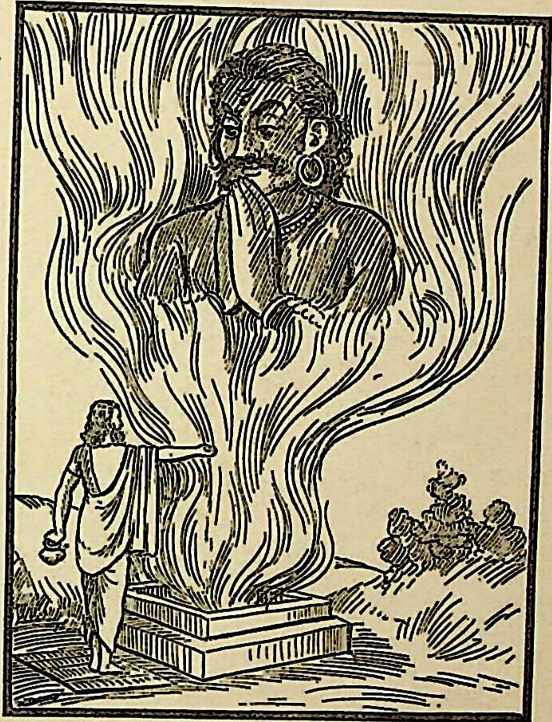
त्वष्टाने कहा—मेरा पुत्र सदा क्षमाशील, संयमी और जितेन्द्रिय रहकर तपस्यामें लगा हुआ था, तो भी इन्द्र-ने बिना किसी अपराधके उसकी हत्या की है ॥ ४५ ॥

तस्माच्छक्रविनाशाय वृत्रमुत्पादयाम्यहम्।
लोकाः पश्यन्तु मे वीर्यं तपसश्च बलं महत् ॥ ४६ ॥

अतः मैं भी देवेन्द्रके विनाशके लिये वृत्रासुरको उत्पन्न करूँगा। आज संसारके लोग मेरा पराक्रम तथा मेरी तपस्या-का महान् बल देखें ॥ ४६ ॥

स च पश्यतु देवेन्द्रो दुरात्मा पापचेतनः।
उपस्पृश्य ततः क्रुद्धस्तपस्वी सुमहायशाः ॥ ४७ ॥
अग्नौ हुत्वा समुत्पाद्य घोरं वृत्रमुवाच ह।
इन्द्रशत्रो विवर्धस्व प्रभावात् तपसो मम ॥ ४८ ॥

साथ ही वह पापात्मा और दुरात्मा देवेन्द्र भी मेरा महान् तपोबल देख ले। ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए तपस्वी एवं महायशस्वी त्वष्टाने आचमन करके अग्निमें आहुति दे घोर रूपवाले वृत्रासुरको उत्पन्न करके उससे कहा—'इन्द्र-



शत्रो ! तू मेरी तपस्याके प्रभावसे खूब बढ़ जा' ॥ ४७-४८ ॥

सोऽवर्धत दिवं स्तब्ध्वा सूर्यवैश्वानरोपमः।
किं करोमीति चोवाच कालसूर्य इवोदितः ॥ ४९ ॥

उनके इतना कहते ही सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी वृत्रासुर सारे आकाशको आक्रान्त करके बहुत बड़ा हो गया। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो प्रलयकालका सूर्य उदित हुआ हो। उसने पूछा—'पिताजी ! मैं क्या करूँ ?' ॥४९॥

शक्रं जहीति चाप्युक्तो जगाम त्रिदिवं ततः।
ततो युद्धं समभवद् वृत्रवासवयोर्महत् ॥ ५० ॥

तब त्वष्टाने कहा—'इन्द्रको मार डालो।' उनके ऐसा कहनेपर वृत्रासुर स्वर्गलोकमें गया। तदनन्तर वृत्रासुर तथा इन्द्रमें बड़ा भारी युद्ध छिड़ गया ॥ ५० ॥

संक्रुद्धयोर्महाघोरं प्रसक्तं कुरुसत्तम।
ततो जग्राह देवेन्द्रं वृत्रो वीरः शतक्रतुम् ॥ ५१ ॥

अपावृत्याक्षिपद् वक्त्रे शक्रं कोपसमन्वितः ।
ग्रस्ते वृत्रेण शक्रे तु सम्भ्रान्तास्त्रिदिवेश्वराः ॥ ५२ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! वे दोनों क्रोधमें भरे हुए थे । उनमें अत्यन्त घोर संग्राम होने लगा । तदनन्तर कुपित हुए वीर वृत्रासुरने शतक्रतु इन्द्रको पकड़ लिया और मुँह बाकर उन्हें उसके भीतर डाल लिया । वृत्रासुरके द्वारा इन्द्रके ग्रस लिये जानेपर सम्पूर्ण श्रेष्ठ देवता घबरा गये ॥ ५१-५२ ॥

असृजंस्ते महासत्त्वा जृम्भिकां वृत्रनाशिनीम् ।
विजृम्भमाणस्य ततो वृत्रस्यास्यादपावृतात् ॥ ५३ ॥
स्वान्यङ्गान्यभिसंक्षिप्य निष्क्रान्तो बलनाशनः ।
ततः प्रभृति लोकस्य जृम्भिका प्राणसंश्रिता ॥ ५४ ॥

तब उन महासत्त्वशाली देवताओंने जँभाईकी सृष्टि की, जो वृत्रासुरका नाश करनेवाली थी । जँभाई लेते समय जब वृत्रासुरने अपना मुख फैलाया, तब बलनाशक इन्द्र अपने अङ्गोंको समेटकर बाहर निकल आये । तभीसे सब लोगोंके प्राणोंमें जृम्भाशक्तिका निवास हो गया ॥ ५३-५४ ॥

जहृषुश्च सुराः सर्वे शक्रं दृष्ट्वा विनिःसृतम् ।
ततः प्रववृते युद्धं वृत्रवासवयोः पुनः ॥ ५५ ॥

इन्द्रको उसके मुखसे निकला हुआ देख सब देवता बड़े प्रसन्न हुए । तदनन्तर वृत्रासुर तथा इन्द्रमें पुनः युद्ध होने लगा ॥ ५५ ॥

संरब्धयोस्तदा घोरं सुचिरं भरतर्षभ ।
यदा व्यवर्धत रणे वृत्रो बलसमन्वितः ॥ ५
त्वष्टुस्तेजोबलाविद्धस्तदा शक्रो न्यवर्तत ।
निवृत्ते च तदा देवा विषादमगमन् परम् ॥ ५

भरतश्रेष्ठ ! क्रोधमें भरे हुए उन दोनों वीरोंका भयानक संग्राम बहुत देरतक चलता रहा । वृत्रासुर जब त्वष्टाके तेज और बलसे व्याप्त हो जब युद्धमें अधिक बलवान् होकर बढ़ने लगा, तब इन्द्र युद्धसे विमुख हो गये । इन्द्रके विमुख होनेपर सब देवताओंको बड़ा दुःख हुआ ॥ ५६-५७ ॥

समेत्य सह शक्रेण त्वष्टुस्तेजोविमोहिताः ।
आमन्त्रयन्त ते सर्वे मुनिभिः सह भारत ॥ ५
किं कार्यमिति वै राजन् विचिन्त्य भयमोहिताः ।
जग्मुः सर्वे महात्मानं मनोभिर्विष्णुमव्ययम् ।
उपविष्टा मन्दराग्रे सर्वे वृत्रवधेप्सवः ॥ ५

भारत ! त्वष्टाके तेजसे मोहित हुए सब देवता वे इन्द्र तथा ऋषियोंसे मिलकर सलाह करने लगे कि अब क्या करना चाहिये ? राजन् ! भयसे मोहित हुए सब देवता बहुत देरतक सोच-विचार करके मन-ही-मन अविनाशी परमात्मा भगवान् विष्णुकी शरणमें गये और वे वृत्रासुरके वधकी इच्छासे मन्दराचलके शिखरपर ध्यानस्थ होकर बैठ गये ॥ ५८-५९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रविजये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्रविजयविषयक नौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल ६५ श्लोक हैं)

दशमोऽध्यायः

इन्द्रसहित देवताओंका भगवान् विष्णुकी शरणमें जाना और इन्द्रका उनके आज्ञानुसार वृत्रासुरसे संधि करके अवसर पाकर उसे मारना एवं ब्रह्महत्याके भयसे जलमें छिपना

इन्द्र उवाच

सर्वं व्याप्तमिदं देवा वृत्रेण जगदव्ययम् ।
न ह्यस्य सदृशं किंचित् प्रतिघाताय यद् भवेत् ॥ १ ॥

इन्द्र बोले—देवताओ ! वृत्रासुरने इस सम्पूर्ण जगत्को आक्रान्त कर लिया है । इसके योग्य कोई ऐसा अस्त्र-शस्त्र नहीं है, जो इसका विनाश कर सके ॥ १ ॥

समर्थो ह्यभवं पूर्वमसमर्थोऽस्मि साम्प्रतम् ।
कथं नु कार्यं भद्रं वो दुर्धर्षः स हि मे मतः ॥ २ ॥

पहले मैं सब प्रकारसे सामर्थ्यशाली था; किंतु इस समय असमर्थ हो गया हूँ । आपलोगोंका कल्याण हो । बताइये, कैसे क्या काम करना चाहिये ? मुझे तो वृत्रासुर दुर्जय प्रतीत हो रहा है ॥ २ ॥

तेजस्वी च महात्मा च युद्धे चामितविक्रमः ।
ग्रसेत् त्रिभुवनं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥

वह तेजस्वी और महाकाय है । युद्धमें उसके पराक्रमकी कोई सीमा नहीं है । वह चाहे तो देवता, दैत्यों और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण त्रिलोकीको अपना ग्रास बना सकता है ॥ ३ ॥

तस्माद् विनिश्चयमिमं शृणुध्वं त्रिदिवौकसः ।
विष्णोः क्षयमुपागम्य समेत्य च महात्मना ।
तेन सम्मन्त्र्य वेत्स्यामो वधोपायं दुरात्मनः ॥

अतः देवताओ ! इस विषयमें मेरे इस निश्चयको सुनो, हमलोग भगवान् विष्णुके धाममें चलें और उन परमात्मासे मिलकर उन्हींसे सलाह करके उस दुरात्माके वधका उपाय जानें ॥ ४ ॥

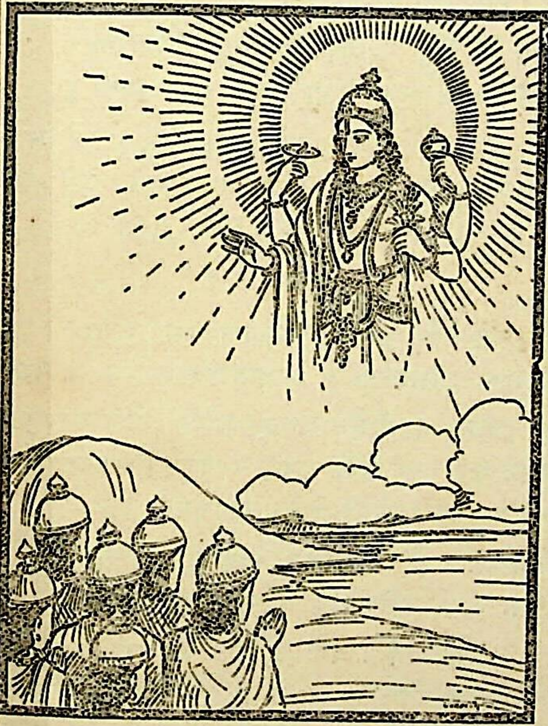
शल्य उवाच

एवमुक्ते मघवता देवाः सर्षिगणास्तदा।
शरण्यं शरणं देवं जग्मुर्विष्णुं महाबलम् ॥ ५ ॥

शल्य बोले—राजन्! इन्द्रके ऐसा कहनेपर ऋषियों-सहित सम्पूर्ण देवता सबके शरणदाता अत्यन्त बलशाली भगवान् विष्णुकी शरणमें गये ॥ ५ ॥

ऊचुश्च सर्वे देवेशं विष्णुं वृत्रभयार्दिताः।
त्रयो लोकास्त्वया क्रान्तास्त्रिभिर्विक्रमणैः पुरा ॥ ६ ॥

वे सबके सब वृत्रासुरके भयसे पीड़ित थे। उन्होंने देवेश्वर भगवान् विष्णुसे इस प्रकार कहा—'प्रभो! आपने पूर्वकालमें अपने तीन डगोंद्वारा सम्पूर्ण त्रिलोकीको माप लिया था ॥ ६ ॥



अमृतं चाहृतं विष्णो दैत्याश्च निहता रणे।
बलिं बद्ध्वा महादैत्यं शक्रो देवाधिपः कृतः ॥ ७ ॥

'विष्णो! आपने ही (मोहिनी अवतार धारण करके) दैत्योंके हाथसे अमृत छीना एवं युद्धमें उन सबका संहार किया तथा महादैत्य बलिको बाँधकर इन्द्रको देवताओंका राजा बनाया ॥ ७ ॥

त्वं प्रभुः सर्वदेवानां त्वया सर्वमिदं ततम्।
त्वं हि देवो महादेव सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ८ ॥

'आप ही सम्पूर्ण देवताओंके स्वामी हैं। आपसे ही यह समस्त चराचर जगत् व्याप्त है। महादेव! आप ही अखिल-विश्ववन्दित देवता हैं ॥ ८ ॥

गतिर्भव त्वं देवानां सेन्द्राणाममरोत्तम।
जगद् व्याप्तमिदं सर्वं वृत्रेणासुरसूदन ॥ ९ ॥

सुरश्रेष्ठ! आप इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके आश्रय हों। असुरसूदन! वृत्रासुरने इस सम्पूर्ण जगत्को आक्रान्त कर लिया है ॥ ९ ॥

विष्णुरुवाच

अवश्यं करणीयं मे भवतां हितमुत्तमम्।
तस्मादुपायं वक्ष्यामि यथासौ न भविष्यति ॥ १० ॥

भगवान् विष्णु बोले—देवताओ! मुझे तुमलोगोंका उत्तम हित अवश्य करना है। अतः तुम सबको एक उपाय बताऊँगा, जिससे वृत्रासुरका अन्त होगा ॥ १० ॥

गच्छध्वं सर्षिगन्धर्वा यत्रासौ विश्वरूपधृक्।
साम तस्य प्रयुञ्जध्वं तत एनं विजेष्यथ ॥ ११ ॥

तुमलोग ऋषियों और गन्धर्वोंके साथ वहीं जाओ, जहाँ विश्वरूपधारी वृत्रासुर विद्यमान है। तुमलोग उसके साथ संधि कर लो, तभी उसे जीत सकोगे ॥ ११ ॥

भविष्यति जयो देवाः शक्रस्य मम तेजसा।
अदृश्यश्च प्रवेक्ष्यामि वज्रे ह्यस्यायुधोत्तमे ॥ १२ ॥

देवताओ! मेरे तेजसे इन्द्रकी विजय होगी। मैं इनके उत्तम आयुध वज्रमें अदृश्यभावसे प्रवेश करूँगा ॥ १२ ॥

गच्छध्वमृषिभिः सार्धं गन्धर्वैश्च सुरोत्तमाः।
वृत्रस्य सह शक्रेण सन्धिं कुरुत मा चिरम् ॥ १३ ॥

देवेश्वरगण! तुमलोग ऋषियों तथा गन्धर्वोंके साथ जाओ और इन्द्रके साथ वृत्रासुरकी संधि कराओ। इसमें विलम्ब न करो ॥ १३ ॥

शल्य उवाच

एवमुक्ते तु देवेन ऋषयस्त्रिदशास्तथा।
ययुः समेत्य सहिताः शक्रं कृत्वा पुरःसरम् ॥ १४ ॥

शल्य कहते हैं—राजन्! भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर ऋषि तथा देवता एक साथ मिलकर देवेन्द्रको आगे करके वृत्रासुरके पास गये ॥ १४ ॥

समीपमेत्य च यदा सर्व एव महौजसः।
तं तेजसा प्रज्वलितं प्रतपन्तं दिशो दश ॥ १५ ॥
ग्रसन्तमिव लोकांस्त्रीन् सूर्याचन्द्रमसौ यथा।
ददृशुस्ते ततो वृत्रं शक्रेण सह देवताः ॥ १६ ॥

समस्त महाबली देवता जब वृत्रासुरके समीप आये, तब वह अपने तेजसे प्रज्वलित होकर दसों दिशाओंको तपा रहा था, मानो सूर्य और चन्द्रमा अपना प्रकाश बिखेर रहे हों। इन्द्रके साथ सम्पूर्ण देवताओंने वृत्रासुरको देखा। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो तीनों लोकोंको अपना ग्रास बना लेगा ॥

ऋषयोऽथ ततोऽभ्येत्य वृत्रमूचुः प्रियं वचः।
व्याप्तं जगदिदं सर्वं तेजसा तव दुर्जय ॥ १७ ॥

उस समय वृत्रासुरके पास आकर ऋषियोंने उससे यह प्रिय वचन कहा—'दुर्जय वीर ! तुम्हारे तेजसे यह सारा जगत् व्याप्त हो रहा है ॥ १७ ॥

न च शक्नोषि निर्जेतुं वासवं बलिनां वर।
युध्यतोश्चापि वां कालो व्यतीतः सुमहानिह ॥ १८ ॥

'बलवानोंमें श्रेष्ठ वृत्र ! इतनेपर भी तुम इन्द्रको जीत नहीं सकते। तुम दोनोंको युद्ध करते बहुत समय बीत गया है ॥ १८ ॥

पीड्यन्ते च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानुषाः।
सख्यं भवतु ते वृत्र शक्रेण सह नित्यदा ॥ १९ ॥

'देवता, असुर तथा मनुष्योंसहित सारी प्रजा इस युद्धसे पीड़ित हो रही है। अतः वृत्रासुर ! हम चाहते हैं कि इन्द्रके साथ तुम्हारी सदाके लिये मैत्री हो जाय ॥ १९ ॥

अवाप्स्यसि सुखं त्वं च शक्रलोकांश्च शाश्वतान्।
ऋषिवाक्यं निशम्याथ वृत्रः स तु महाबलः ॥ २० ॥
उवाच तानृषीन् सर्वान् प्रणम्य शिरसासुरः।
सर्वे यूयं महाभागा गन्धर्वाश्चैव सर्वशः ॥ २१ ॥
यद् ब्रूथ तच्छ्रुतं सर्वं ममापि शृणुतानघाः।
संधिः कथं वै भविता मम शक्रस्य चोभयोः।
तेजसोर्हि द्वयोर्देवाः सख्यं वै भविता कथम् ॥ २२ ॥

'इससे तुम्हें सुख मिलेगा और इन्द्रके सनातन लोकोंपर भी तुम्हारा अधिकार रहेगा।' ऋषियोंकी यह बात सुनकर महाबली वृत्रासुरने उन सबको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'महाभाग देवताओ ! महर्षियो तथा गन्धर्वो ! आप सब लोग जो कुछ कह रहे हैं, वह सब मैंने सुन लिया। निष्पाप देवगण ! अब मेरी भी बात आपलोग सुनें। मुझमें और इन्द्रमें संधि कैसे होगी ? दो तेजस्वी पुरुषोंमें मैत्रीका सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित होगा ?' ॥२०—२२॥

ऋषय ऊचुः

सकृत् सतां संगतं लिप्सितव्यं
ततः परं भविता भव्यमेव।
नातिक्रामेत् सत्पुरुषेण संगतं
तस्मात् सतां संगतं लिप्सितव्यम् ॥ २३ ॥

ऋषि बोले—एक बार साधु पुरुषोंकी संगतिकी अभिलाषा अवश्य रखनी चाहिये। साधु पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होनेपर उससे परम कल्याण ही होगा। साधु पुरुषोंके सङ्गकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। अतः संतोंका सङ्ग मिलनेकी अवश्य इच्छा करे ॥ २३ ॥

दृढं सतां संगतं चापि नित्यं
ब्रूयाच्चार्थं ह्यर्थकृच्छ्रेषु धीरः।
महार्थवत् सत्पुरुषेण संगतं
तस्मात् सन्तं न जिघांसेत धीरः॥ २४ ॥

सज्जनोंका सङ्ग सुदृढ़ एवं चिरस्थायी होता है, संत-महात्मा संकटके समय हितकर कर्तव्यका ही उपदेश देते हैं। साधु पुरुषोंका सङ्ग महान् अभीष्ट वस्तुओंका साधक होता है। अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह सज्जनको नष्ट करनेकी इच्छा न करे ॥ २४ ॥

इन्द्रः सतां सम्मतश्च निवासश्च महात्मनाम्।
सत्यवादी ह्यनिन्द्यश्च धर्मवित् सूक्ष्मनिश्चयः ॥ २५ ॥

इन्द्र सत्पुरुषोंके सम्माननीय हैं। महात्मा पुरुषोंके आश्रय हैं। वे सत्यवादी, अनिन्दनीय, धर्मज्ञ तथा सूक्ष्म बुद्धिवाले हैं ॥ २५ ॥

तेन ते सह शक्रेण संधिर्भवतु नित्यदा।
एवं विश्वासमागच्छ मा तेऽभूद् बुद्धिरन्यथा ॥ २६ ॥

ऐसे इन्द्रके साथ तुम्हारी सदाके लिये संधि हो। इस प्रकार तुम उनका विश्वास प्राप्त करो। तुम्हें विपरीत कोई विचार नहीं करना चाहिये ॥ २६ ॥

शल्य उवाच

महर्षिवचनं श्रुत्वा तानुवाच महाद्युतिः।
अवश्यं भगवन्तो मे माननीयास्तपस्विनः ॥ २७ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! महर्षियोंकी यह बात सुनकर महातेजस्वी वृत्रने उनसे कहा—'भगवन् ! आप-जैसे तपस्वी महात्मा अवश्य ही मेरे लिये सम्माननीय हैं ॥ २७ ॥

ब्रवीमि यदहं देवास्तत् सर्वं क्रियते यदि।
ततः सर्वं करिष्यामि यदूचुर्मां द्विजर्षभाः ॥ २८ ॥

'देवताओ ! मैं अभी जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब यदि आपलोग स्वीकार कर लें, तो इन श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंने मुझे जो आदेश दिये हैं, उन सबका मैं अवश्य पालन करूँगा ॥ २८ ॥

न शुष्केण न चार्द्रेण नाश्मना न च दारुणा।
न शस्त्रेण न चास्त्रेण न दिवा न तथा निशि ॥ २९ ॥
वध्यो भवेयं विप्रेन्द्राः शक्रस्य सह दैवतैः।
एवं मे रोचते सन्धिः शक्रेण सह नित्यदा ॥ ३० ॥

'विप्रवरो ! मैं देवताओंसहित इन्द्रके द्वारा न सूखी वस्तुसे; न गीली वस्तुसे; न पत्थरसे, न लकड़ीसे; न शस्त्रसे, न अस्त्रसे; न दिनमें और न रातमें ही मारा जाऊँ, इस शर्तपर देवेन्द्रके साथ सदाके लिये मेरी संधि हो, तो मैं उसे पसंद करता हूँ' ॥ २९-३० ॥

बाढमित्येव ऋषयस्तमूचुर्भरतर्षभ।
एवंवृत्ते तु संधाने वृत्रः प्रमुदितोऽभवत् ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब ऋषियोंने उससे 'बहुत अच्छा' कहा । इस प्रकार संधि हो जानेपर वृत्रासुरको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

युक्तः सदाभवच्चापि शक्रो हर्षसमन्वितः।
वृत्रस्य वधसंयुक्तानुपायाननन्वचिन्तयत् ॥ ३२ ॥

इन्द्र भी हर्षमें भरकर सदा उससे मिलने लगे, परंतु वे वृत्रके वधसम्बन्धी उपायोंको ही सोचते रहते थे ॥ ३२ ॥

छिद्रान्वेषी समुद्विग्नः सदा वसति देवराट्।
स कदाचित् समुद्रान्ते समपश्यन्महासुरम् ॥ ३३ ॥

वृत्रासुरके छिद्रकी (उसे मारनेके अवसरकी) खोज करते हुए देवराज इन्द्र सदा उद्विग्न रहते थे । एक दिन उन्होंने समुद्रके तटपर उस महान् असुरको देखा ॥ ३३ ॥

संध्याकाल उपावृत्ते मुहूर्ते चातिदारुणे।
ततः संचिन्त्य भगवान् वरदानं महात्मनः ॥ ३४ ॥
संध्येयं वर्तते रौद्रा न रात्रिर्दिवसं न च ।
वृत्रश्चावश्यवध्योऽयं मम सर्वहरो रिपुः ॥ ३५ ॥
यदि वृत्रं न हन्म्यद्य वञ्चयित्वा महासुरम् ।
महाबलं महाकायं न मे श्रेयो भविष्यति ॥ ३६ ॥

उस समय अत्यन्त दारुण संध्याकालका मुहूर्त उपस्थित था । भगवान् इन्द्रने परमात्मा श्रीविष्णुके वरदानका विचार करके सोचा—'यह भयंकर संध्या उपस्थित है, इस समय न रात है, न दिन है, अतः अभी इस वृत्रासुरका अवश्य वध कर देना चाहिये; क्योंकि यह मेरा सर्वस्व हर लेनेवाला शत्रु है । यदि इस महाबली, महाकाय और महान् असुर वृत्रको धोखा देकर मैं अभी नहीं मार डालता हूँ, तो मेरा भला न होगा' ॥ ३४–३६ ॥

एवं संचिन्तयन्नेव शक्रो विष्णुमनुस्मरन् ।
अथ फेनं तदापश्यत् समुद्रे पर्वतोपमम् ॥ ३७ ॥

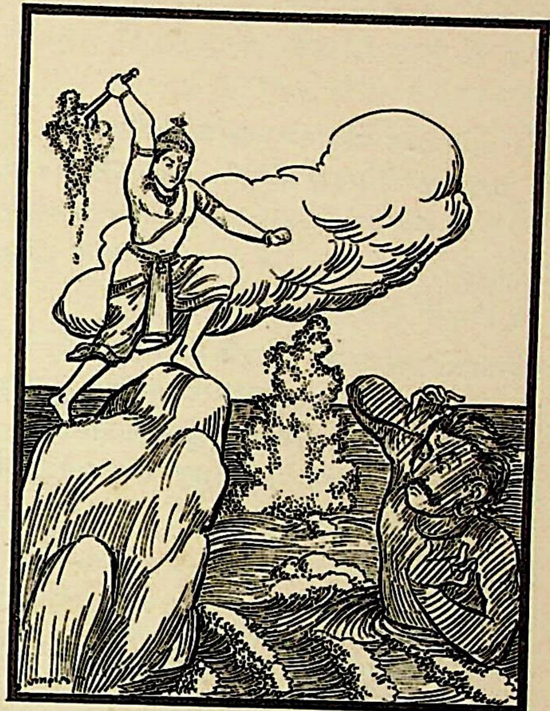
इस प्रकार सोचते हुए ही इन्द्र भगवान् विष्णुका बार-बार स्मरण करने लगे । इसी समय उनकी दृष्टि समुद्रमें उठते हुए पर्वताकार फेनपर पड़ी ॥ ३७ ॥

नायं शुष्को न चार्द्रोऽयं न च शस्त्रमिदं तथा।
एनं क्षेप्स्यामि वृत्रस्य क्षणादेव नशिष्यति ॥ ३८ ॥

उसे देखकर इन्द्रने मन-ही-मन यह विचार किया कि यह न सूखा है न आर्द्र, न अस्त्र है न शस्त्र, अतः इसीको वृत्रासुरपर छोड़ूँगा, जिससे वह क्षणभरमें नष्ट हो जायगा ॥ ३८ ॥

सवज्रमथ फेनं तं क्षिप्रं वृत्रे निसृष्टवान् ।
प्रविश्य फेनं तं विष्णुरथ वृत्रं व्यनाशयत् ॥ ३९ ॥

यह सोचकर इन्द्रने तुरंत ही वृत्रासुरपर वज्रसहित फेनका प्रहार किया । उस समय भगवान् विष्णुने उस



फेनमें प्रवेश करके वृत्रासुरको नष्ट कर दिया ॥ ३९ ॥

निहते तु ततो वृत्रे दिशो वितिमिराऽभवन्।
प्रववौ च शिवो वायुः प्रजाश्च जहृषुस्तथा ॥ ४० ॥

वृत्रासुरके मारे जानेपर सम्पूर्ण दिशाओंका अन्धकार दूर हो गया, शीतल-सुखद वायु चलने लगी और सम्पूर्ण प्रजामें हर्ष छा गया ॥ ४० ॥

ततो देवाः सगन्धर्वा यक्षरक्षोमहोरगाः।
ऋषयश्च महेन्द्रं तमस्तुवन् विविधैः स्तवैः ॥ ४१ ॥

तदनन्तर देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महानाग तथा ऋषि भाँति-भाँतिके स्तोत्रोंद्वारा महेन्द्रकी स्तुति करने लगे ॥ ४१ ॥

नमस्कृतः सर्वभूतैः सर्वभूतान्यसान्त्वयत्।
हत्वा शत्रुं प्रहृष्टात्मा वासवः सह दैवतैः ॥ ४२ ॥

शत्रुको मारकर देवताओंसहित इन्द्रका हृदय हर्षसे भर गया । समस्त प्राणियोंने उन्हें नमस्कार किया और उन्होंने उन सबको सान्त्वना दी ॥ ४२ ॥

विष्णुं त्रिभुवनश्रेष्ठं पूजयामास धर्मवित्।
ततो हते महावीर्ये वृत्रे देवभयंकरे ॥ ४३ ॥
अनृतेनाभिभूतोऽभूच्छक्रः परमदुर्मनाः।
त्रैशीर्षयाभिभूतश्च स पूर्वं ब्रह्महत्यया ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् धर्मज्ञ देवराजने तीनों लोकोंके श्रेष्ठ आराध्य-देव भगवान् विष्णुका पूजन किया । इस प्रकार देवताओं-

को भय देनेवाले महापराक्रमी वृत्रासुरके मारे जानेपर विश्वास-घातरूपी असत्यसे अभिभूत होकर इन्द्र मन-ही-मन बहुत दुखी हो गये । त्रिशिराके वधसे उत्पन्न हुई ब्रह्महत्याने तो उन्हें पहलेसे ही घेर रक्खा था ॥ ४३-४४ ॥

सोऽन्तमाश्रित्य लोकानां नष्टसंज्ञो विचेतनः ।
न प्राज्ञायत देवेन्द्रस्त्वभिभूतः स्वकल्मषैः ॥ ४५ ॥

वे सम्पूर्ण लोकोंकी अन्तिम सीमापर जाकर बेसुध और अचेत होकर रहने लगे । वहाँ अपने ही पापोंसे पीड़ित हुए देवेन्द्रका किसीको पता न चला ॥ ४५ ॥

प्रतिच्छन्नोऽवसच्चाप्सु चेष्टमान इवोरगः ।
ततः प्रणष्टे देवेन्द्रे ब्रह्महत्याभयार्दिते ॥ ४६ ॥
भूमिः प्रध्वस्तसंकाशा निर्वृक्षा शुष्ककानना ।
विच्छिन्नस्रोतसो नद्यः सरांस्यनुदकानि च ॥ ४७ ॥

वे जलमें विचरनेवाले सर्पकी भाँति पानीमें ही छिपकर रहने लगे । ब्रह्महत्याके भयसे पीड़ित होकर जब देवराज इन्द्र अदृश्य हो गये, तब यह पृथ्वी नष्ट-सी हो गयी । यहाँके वृक्ष उजड़ गये, जंगल सूख गये, नदियोंका स्रोत छिन्न-भिन्न हो गया और सरोवरोंका जल सूख गया ॥ ४६-४७ ॥

संक्षोभश्चापि सत्त्वानामनावृष्टिकृतोऽभवत् ।
देवाश्चापि भृशं त्रस्तास्तथा सर्वे महर्षयः ॥ ४८ ॥

सब जीवोंमें अनावृष्टिके कारण क्षोभ उत्पन्न हो गया । देवता तथा सम्पूर्ण महर्षि भी अत्यन्त भयभीत हो गये ॥ ४८ ॥

अराजकं जगत् सर्वमभिभूतमुपद्रवैः ।
ततो भीताऽभवन् देवाः को नो राजा भवेदिति ॥ ४९ ॥
दिवि देवर्षयश्चापि देवराजविनाकृताः ।
न स्म कश्चन देवानां राज्ये वै कुरुते मतिम् ॥ ५० ॥

सम्पूर्ण जगत्में अराजकताके कारण भारी उपद्रव होने लगे । स्वर्गमें देवराज इन्द्रके न होनेसे देवता और देवर्षि भी भयभीत होकर सोचने लगे—'अब हमारा राजा कौन होगा ?' देवताओंमेंसे कोई भी स्वर्गका राजा बननेका विचार नहीं करता था ॥ ४९-५० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि वृत्रवधे इन्द्रविजयो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें वृत्रवधके प्रसंगमें इन्द्रविजयविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

देवताओं तथा ऋषियोंके अनुरोधसे राजा नहुषका इन्द्रके पदपर अभिषिक्त होना एवं काम-भोगमें आसक्त होना और चिन्तामें पड़ी हुई इन्द्राणीको बृहस्पतिका आश्वासन

शल्य उवाच

ऋषयोऽथाब्रुवन् सर्वे देवाश्च त्रिदिवेश्वराः ।
अयं वै नहुषः श्रीमान् देवराज्येऽभिषिच्यताम् ॥ १ ॥
तेजस्वी च यशस्वी च धार्मिकश्चैव नित्यदा ।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार (स्वर्गमें अराजकता हो जानेपर) ऋषियों, सम्पूर्ण देवताओं एवं देवेश्वरोंने परस्पर मिलकर कहा—'ये जो श्रीमान् नहुष हैं, इन्हींको देवराजके पदपर अभिषिक्त किया जाय; क्योंकि ये तेजस्वी, यशस्वी तथा नित्य-निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं' ॥ १½ ॥

ते गत्वा त्वब्रुवन् सर्वे राजा नो भव पार्थिव ॥ २ ॥
स तानुवाच नहुषो देवानृषिगणांस्तथा ।
पितृभिः सहितान् राजन् परीप्सन् हितमात्मनः ॥ ३ ॥

ऐसा निश्चय करके वे सब लोग राजा नहुषके पास जाकर बोले—'पृथिवीपते ! आप हमारे राजा होइये'—राजन् ! तब नहुषने पितरोंसहित उन देवताओं तथा ऋषियोंसे अपने हितकी इच्छासे कहा—॥ २-३ ॥



दुर्बलोऽहं न मे शक्तिर्भवतां परिपालने।
बलवाञ्जायते राजा बलं शक्रे हि नित्यदा ॥ ४ ॥

'मैं तो दुर्बल हूँ, मुझमें आपलोगोंकी रक्षा करनेकी शक्ति नहीं है। बलवान् पुरुष ही राजा होता है। इन्द्रमें ही बलकी नित्य सत्ता है' ॥ ४ ॥

तमब्रुवन् पुनः सर्वे देवा ऋषिपुरोगमाः।
अस्माकं तपसा युक्तः पाहि राज्यं त्रिविष्टपे ॥ ५ ॥
परस्परभयं घोरमस्माकं हि न संशयः।
अभिषिच्यस्व राजेन्द्र भव राजा त्रिविष्टपे ॥ ६ ॥

यह सुनकर सम्पूर्ण देवता तथा ऋषि पुनः उनसे बोले—'राजेन्द्र! आप हमारी तपस्यासे संयुक्त हो स्वर्गके राज्यका पालन कीजिये। हमलोगोंमें प्रत्येकको एक-दूसरेसे घोर भय बना रहता है, इसमें संशय नहीं है। अतः आप अपना अभिषेक कराइये और स्वर्गके राजा होइये ॥ ५-६ ॥

देवदानवयक्षाणामृषीणां रक्षसां तथा।
पितृगन्धर्वभूतानां चक्षुर्विषयवर्तिनाम् ॥ ७ ॥
तेज आदास्यसे पश्यन् बलवांश्च भविष्यसि।
धर्मं पुरस्कृत्य सदा सर्वलोकाधिपो भव ॥ ८ ॥

'देवता, दानव, यक्ष, ऋषि, राक्षस, पितर, गन्धर्व और भूत—जो भी आपके नेत्रोंके सामने आ जायँगे, उन्हें देखते ही आप उनका तेज हर लेंगे और बलवान् हो जायँगे। अतः सदा धर्मको सामने रखते हुए आप सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति होइये ॥ ७-८ ॥

ब्रह्मर्षींश्चापि देवांश्च गोपायस्व त्रिविष्टपे।
अभिषिक्तः स राजेन्द्र ततो राजा त्रिविष्टपे ॥ ९॥

'आप स्वर्गमें रहकर ब्रह्मर्षियों तथा देवताओंका पालन कीजिये।' युधिष्ठिर! तदनन्तर राजा नहुषका स्वर्गमें इन्द्रके पदपर अभिषेक हुआ ॥ ९ ॥

धर्मं पुरस्कृत्य तदा सर्वलोकाधिपोऽभवत्।
सुदुर्लभं वरं लब्ध्वा प्राप्य राज्यं त्रिविष्टपे ॥ १०॥
धर्मात्मा सततं भूत्वा कामात्मा समपद्यत।

धर्मको आगे रखकर उस समय राजा नहुष सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति हो गये। वे परम दुर्लभ वर पाकर स्वर्गके राज्यको हस्तगत करके निरन्तर धर्मपरायण रहते हुए भी काममोगमें आसक्त हो गये ॥ १०½ ॥

देवोद्यानेषु सर्वेषु नन्दनोपवनेषु च ॥ ११ ॥
कैलासे हिमवत्पृष्ठे मन्दरे श्वेतपर्वते।
सह्ये महेन्द्रे मलये समुद्रेषु सरित्सु च ॥ १२ ॥
अप्सरोभिः परिवृतो देवकन्यासमावृतः।
नहुषो देवराजोऽथ क्रीडन् बहुविधं तदा ॥ १३ ॥
शृण्वन् दिव्या बहुविधाः कथाः श्रुतिमनोहराः।
वादित्राणि च सर्वाणि गीतं च मधुरस्वनम् ॥ १४ ॥

देवराज नहुष सम्पूर्ण देवोद्यानोंमें, नन्दनवनके उपवनोंमें, कैलासमें, हिमालयके शिखरपर, मन्दराचल, श्वेतगिरि, सह्य, महेन्द्र तथा मलयपर्वतपर एवं समुद्रों और सरिताओंमें, अप्सराओं तथा देवकन्याओंके साथ भाँति-भाँतिकी क्रीडाएँ करते थे, कानों और मनको आकर्षित करनेवाली नाना प्रकारकी दिव्य कथाएँ सुनते थे तथा सब प्रकारके वाद्यों और मधुर स्वरसे गाये जानेवाले गीतोंका आनन्द लेते थे ॥ ११—१४ ॥

विश्वावसुर्नारदश्च गन्धर्वाप्सरसां गणाः।
ऋतवः षट् च देवेन्द्रं मूर्तिमन्त उपस्थिताः ॥ १५ ॥

विश्वावसु, नारद, गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदाय तथा छहों ऋतुएँ शरीर धारण करके देवेन्द्रकी सेवामें उपस्थित होती थीं ॥ १५ ॥

मारुतः सुरभिर्वाति मनोज्ञः सुखशीतलः।
एवं च क्रीडतस्तस्य नहुषस्य दुरात्मनः ॥ १६ ॥
सम्प्राप्ता दर्शनं देवी शक्रस्य महिषी प्रिया।

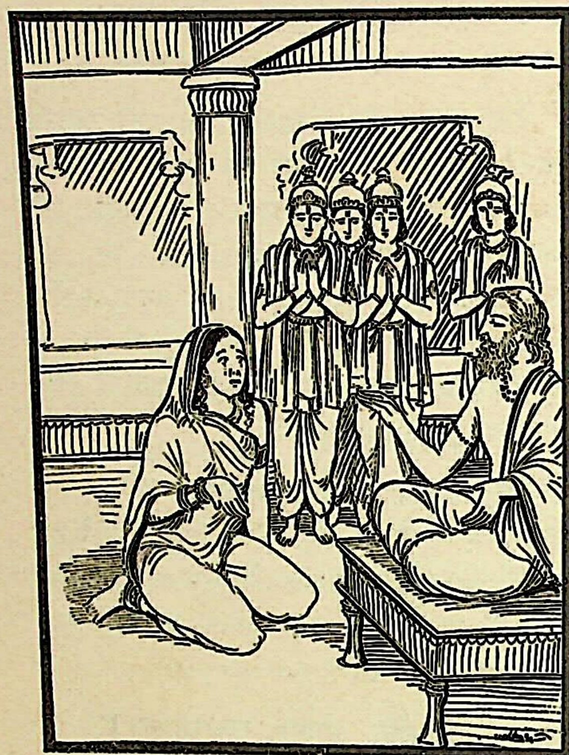
उनके लिये वायु मनोहर, सुखद, शीतल और सुगन्धित होकर बहते थे। इस प्रकार क्रीडा करते हुए दुरात्मा राजा नहुषकी दृष्टि एक दिन देवराज इन्द्रकी प्यारी महारानी शचीपर पड़ी ॥ १६½ ॥

स तां संदृश्य दुष्टात्मा प्राह सर्वान् सभासदः ॥ १७ ॥
इन्द्रस्य महिषी देवी कस्मान्मां नोपतिष्ठति।
अहमिन्द्रोऽस्मि देवानां लोकानां च तथेश्वरः ॥ १८ ॥
आगच्छतु शची मह्यं क्षिप्रमद्य निवेशनम्।

उन्हें देखकर दुष्टात्मा नहुषने समस्त सभासदोंसे कहा—'इन्द्रकी महारानी शची मेरी सेवामें क्यों नहीं उपस्थित होतीं? मैं देवताओंका इन्द्र हूँ और सम्पूर्ण लोकोंका अधीश्वर हूँ। अतः शचीदेवी आज मेरे महलमें शीघ्र पधारें' ॥ १७-१८½ ॥

तच्छ्रुत्वा दुर्मना देवी बृहस्पतिमुवाच ह ॥ १९ ॥
रक्ष मां नहुषाद् ब्रह्मंस्त्वामस्मि शरणं गता।
सर्वलक्षणसम्पन्नां ब्रह्मंस्त्वं मां प्रभाषसे ॥ २० ॥
देवराजस्य दयितामत्यन्तं सुखभागिनीम्।
अवैधव्येन युक्तां चाप्येकपत्नीं पतिव्रताम् ॥ २१ ॥

यह सुनकर शचीदेवी मन-ही-मन बहुत दुखी हुई और बृहस्पतिसे बोलीं—'ब्रह्मन्! मैं आपकी शरणमें आयी हूँ, आप नहुषसे मेरी रक्षा कीजिये। विप्रवर! आप मुझसे कहा



करते हैं कि तुम समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, देवराज इन्द्रकी प्राणवल्लभा, अत्यन्त सुखभागिनी, सौभाग्यवती, एकपत्नी और पतिव्रता हो ॥ १९–२१ ॥

उक्तवानसि मां पूर्वमृतां तां कुरु वै गिरम्।
नोक्तपूर्वं च भगवन् वृथा ते किंचिदीश्वर ॥ २२ ॥
तस्मादेतद् भवेत् सत्यं त्वयोक्तं द्विजसत्तम।

'भगवन्! आपने पहले जो वैसी बातें कही हैं, उन वाणियोंको सत्य कीजिये। देवगुरो! आपके मुखसे कभी कोई व्यर्थ या असत्य वचन नहीं निकला है, द्विजश्रेष्ठ! आपका यह पूर्वोक्त वचन भी सत्य होना चाहिये' ॥ २२½ ॥

बृहस्पतिरथोवाच शक्राणीं भयमोहिताम् ॥ २३ ॥
यदुक्तासि मया देवि सत्यं तद् भविता ध्रुवम्।
द्रक्ष्यसे देवराजानमिन्द्रं शीघ्रमिहागतम् ॥ २४ ॥
न भेतव्यं च नहुषात् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
समानयिष्ये शक्रेण न चिराद् भवतीमहम् ॥ २५ ॥

यह सुनकर बृहस्पतिने भयसे व्याकुल हुई इन्द्राणीसे कहा—'देवि! मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, वह सब अवश्य सत्य होगा। तुम शीघ्र ही देवराज इन्द्रको यहाँ आया हुआ देखोगी। नहुषसे तुम्हें डरना नहीं चाहिये। मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ, थोड़े ही दिनोंमें तुम्हें इन्द्रसे मिला दूँगा' ॥ २३–२५ ॥

अथ शुश्राव नहुषः शक्राणीं शरणं गताम्।
बृहस्पतेरङ्गिरसश्चुक्रोध स नृपस्तदा ॥ २६ ॥

जब राजा नहुषने सुना कि इन्द्राणी अङ्गिरानन्दन बृहस्पतिकी शरणमें गयी है, तब वे बहुत कुपित हुए ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीभये एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणी-भयविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

देवता-नहुष-संवाद, बृहस्पतिके द्वारा इन्द्राणीकी रक्षा तथा इन्द्राणीका नहुषके पास कुछ समयकी अवधि माँगनेके लिये जाना

शल्य उवाच

क्रुद्धं तु नहुषं दृष्ट्वा देवा ऋषिपुरोगमाः।
अब्रुवन् देवराजानं नहुषं घोरदर्शनम् ॥ १ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! देवराज नहुषको क्रोधमें भरे हुए देख देवतालोग ऋषियोंको आगे करके उनके पास गये। उस समय उनकी दृष्टि बड़ी भयंकर प्रतीत होती थी। देवताओं तथा ऋषियोंने कहा—॥ १ ॥

देवराज जहि क्रोधं त्वयि क्रुद्धे जगद् विभो।
त्रस्तं सासुरगन्धर्वं सकिंनरमहोरगम् ॥ २ ॥

'देवराज! आप क्रोध छोड़ें। प्रभो! आपके कुपित होनेसे असुर, गन्धर्व, किंनर और महानागगणोंसहित सम्पूर्ण जगत् भयभीत हो उठा है ॥ २ ॥

जहि क्रोधमिमं साधो न कुप्यन्ति भवद्विधाः।
परस्य पत्नी सा देवी प्रसीदस्व सुरेश्वर ॥ ३ ॥

'साधो! आप इस क्रोधको त्याग दीजिये। आप-जैसे श्रेष्ठ पुरुष दूसरोंपर कोप नहीं करते हैं। अतः प्रसन्न होइये। सुरेश्वर! शची देवी दूसरे इन्द्रकी पत्नी हैं ॥ ३ ॥

निवर्तय मनः पापात् परदाराभिमर्शनात्।
देवराजोऽसि भद्रं ते प्रजा धर्मेण पालय ॥ ४ ॥

'परायी स्त्रियोंका स्पर्श पापकर्म है। उससे मनको हटा लीजिये। आप देवताओंके राजा हैं। आपका कल्याण हो। आप धर्मपूर्वक प्रजाका पालन कीजिये' ॥ ४ ॥

एवमुक्तो न जग्राह तद्वचः काममोहितः।
अथ देवानुवाचेदमिन्द्रं प्रति सुराधिपः॥ ५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर भी काममोहित नहुषने उनकी बात नहीं मानी। उस समय देवेश्वर नहुषने इन्द्रके विषयमें देवताओंसे इस प्रकार कहा— ॥ ५ ॥

अहल्या धर्षिता पूर्वमृषिपत्नी यशस्विनी।
जीवतो भर्तुरिन्द्रेण स वः किं न निवारितः॥ ६ ॥

'देवताओ! जब इन्द्रने पूर्वकालमें यशस्विनी ऋषि-पत्नी अहल्याका उसके पति गौतमके जीते-जी सतीत्व नष्ट किया था, उस समय आपलोगोंने उन्हें क्यों नहीं रोका?॥ ६ ॥

बहूनि च नृशंसानि कृतानीन्द्रेण वै पुरा।
वैधर्म्याण्युपधाश्चैव स वः किं न निवारितः॥ ७ ॥

'प्राचीनकालमें इन्द्रने बहुत-से क्रूरतापूर्ण कर्म किये हैं। अनेक अधार्मिक कृत्य तथा छल-कपट उनके द्वारा हुए हैं। उन्हें आपलोगोंने क्यों नहीं रोका था?॥ ७ ॥

उपतिष्ठतु देवी मामेतदस्या हितं परम्।
युष्माकं च सदा देवाः शिवमेवं भविष्यति॥ ८ ॥

'शची देवी मेरी सेवामें उपस्थित हों। इसीमें इनका परम हित है तथा देवताओ! ऐसा होनेपर ही सदा तुम्हारा कल्याण होगा'॥ ८ ॥

देवा ऊचुः

इन्द्राणीमानयिष्यामो यथेच्छसि दिवस्पते।
जहि क्रोधमिमं वीर प्रीतो भव सुरेश्वर॥ ९ ॥

देवता बोले—स्वर्गलोकके स्वामी वीर देवेश्वर! आपकी जैसी इच्छा है, उसके अनुसार हमलोग इन्द्राणीको आपकी सेवामें ले आयेंगे। आप यह क्रोध छोड़िये और प्रसन्न होइये॥ ९ ॥

शल्य उवाच

इत्युक्त्वा तं तदा देवा ऋषिभिः सह भारत।
जग्मुर्बृहस्पतिं वक्तुमिन्द्राणीं चाशुभं वचः॥ १० ॥

शल्यने कहा—युधिष्ठिर! नहुषसे ऐसा कहकर उस समय सब देवता ऋषियोंके साथ इन्द्राणीसे यह अशुभ वचन कहनेके लिये बृहस्पतिजीके पास गये॥ १० ॥

जानीमः शरणं प्राप्तामिन्द्राणीं तव वेश्मनि।
दत्ताभयां च विप्रेन्द्र त्वया देवर्षिसत्तम॥ ११ ॥

उन्होंने कहा—'देवर्षिप्रवर! विप्रेन्द्र! हमें पता लगा है कि इन्द्राणी आपकी शरणमें आयी हैं और आपके ही भवनमें रह रही हैं। आपने उन्हें अभय-दान दे रक्खा है॥ ११ ॥

ते त्वां देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च महाद्युते।
प्रसादयन्ति चेन्द्राणी नहुषाय प्रदीयताम्॥ १२ ॥

'महाद्युते! अब ये देवता, गन्धर्व तथा ऋषि आपको इस बातके लिये प्रसन्न करा रहे हैं कि आप इन्द्राणीको राजा नहुषकी सेवामें अर्पण कर दीजिये॥ १२ ॥

इन्द्राद् विशिष्टो नहुषो देवराजो महाद्युतिः।
वृणोत्वियं वरारोहा भर्तृत्वे वरवर्णिनी॥ १३ ॥

'इस समय महातेजस्वी नहुष देवताओंके राजा हैं। अतः इन्द्रसे बढ़कर हैं। सुन्दर रूप-रंगवाली शची इन्हें अपना पति स्वीकार कर लें'॥ १३ ॥

एवमुक्ता तु सा देवी बाष्पमुत्सृज्य सस्वनम्।
उवाच रुदती दीना बृहस्पतिमिदं वचः॥ १४ ॥

'देवताओंके यह बात कहनेपर शची देवी आँसू बहाती हुई फूट-फूटकर रोने लगीं और दीनभावसे बृहस्पतिजीको सम्बोधित करके इस प्रकार बोलीं—॥ १४ ॥

नाहमिच्छामि नहुषं पतिं देवर्षिसत्तम।
शरणागतास्मि ते ब्रह्मंस्त्रायस्व महतो भयात्॥ १५ ॥

'देवर्षियोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणदेव! मैं नहुषको अपना पति बनाना नहीं चाहती; इसीलिये आपकी शरणमें आयी हूँ। आप इस महान् भयसे मेरी रक्षा कीजिये'॥ १५ ॥

बृहस्पतिरुवाच

शरणागतं न त्यजेयमिन्द्राणि मम निश्चयः।
धर्मज्ञां सत्यशीलां च न त्यजेयमनिन्दिते॥ १६ ॥

बृहस्पतिने कहा—इन्द्राणी! मैं शरणागतका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा दृढ़ निश्चय है। अनिन्दिते! तुम धर्मज्ञ और सत्यशील हो; अतः मैं तुम्हारा त्याग नहीं करूँगा॥ १६ ॥

नाकार्यं कर्तुमिच्छामि ब्राह्मणः सन् विशेषतः।
श्रुतधर्मा सत्यशीलो जानन् धर्मानुशासनम्॥ १७ ॥
नाहमेतत् करिष्यामि गच्छध्वं वै सुरोत्तमाः।
अस्मिंश्चार्थे पुरा गीतं ब्रह्मणा श्रूयतामिदम्॥ १८ ॥

विशेषतः ब्राह्मण होकर मैं यह न करने योग्य कार्य नहीं कर सकता। मैंने धर्मकी बातें सुनी हैं और सत्यको अपने स्वभावमें उतार लिया है। शास्त्रोंमें जो धर्मका उपदेश किया है, उसे भी जानता हूँ; अतः मैं यह पापकर्म नहीं करूँगा! सुरश्रेष्ठगण! आपलोग लौट जायँ। इस विषयमें ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जो गीत गाया था, वह इस प्रकार है, सुनिये॥ १७-१८ ॥

न तस्य बीजं रोहति रोहकाले
न तस्य वर्षं वर्षति वर्षकाले।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति शत्रवे
न स त्रातारं लभते त्राणमिच्छन्॥ १९ ॥

'जो भयभीत होकर शरणमें आये हुए प्राणीको उसके शत्रुके हाथमें दे देता है, उसका बोया हुआ बीज समयपर नहीं जमता है। उसके यहाँ ठीक समयपर वर्षा नहीं होती और वह जब कभी अपनी रक्षा चाहता है, तो उसे कोई रक्षक नहीं मिलता है ॥ १९ ॥

मोघमन्नं विन्दति चाप्यचेताः
स्वर्गाल्लोकाद् भ्रश्यति नष्टचेष्टः।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति यो वै
न तस्य हव्यं प्रतिगृह्णन्ति देवाः॥ २० ॥

'जो भयभीत शरणागतको शत्रुके हाथमें सौंप देता है, वह दुर्बलचित्त मानव जो अन्न ग्रहण करता है, वह व्यर्थ हो जाता है। उसके सारे उद्यम नष्ट हो जाते हैं और वह स्वर्गलोकसे नीचे गिर जाता है। इतना ही नहीं, देवतालोग उसके दिये हुए हविष्यको स्वीकार नहीं करते हैं ॥२०॥

प्रमीयते चास्य प्रजा ह्यकाले
सदा विवासं पितरोऽस्य कुर्वते।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति शत्रवे
सेन्द्रा देवाः प्रहरन्त्यस्य वज्रम्॥ २१ ॥

'उसकी संतान अकालमें ही मर जाती है। उसके पितर सदा नरकमें निवास करते हैं। जो भयभीत शरणागतको शत्रुके हाथमें दे देता है, उसपर इन्द्र आदि देवता वज्रका प्रहार करते हैं' ॥ २१ ॥

एतदेवं विजानन् वै न दास्यामि शचीमिमाम्।
इन्द्राणीं विश्रुतां लोके शक्रस्य महिषीं प्रियाम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार ब्रह्माजीके उपदेशके अनुसार शरणागतके त्यागसे होनेवाले अधर्मको मैं निश्चितरूपसे जानता हूँ; अतः जो सम्पूर्ण विश्वमें इन्द्रकी पत्नी तथा देवराजकी प्यारी पटरानीके रूपमें विख्यात हैं, उन्हीं इन शचीदेवीको मैं नहुषके हाथमें नहीं दूँगा ॥ २२ ॥

अस्या हितं भवेद् यच्च मम चापि हितं भवेत्।
क्रियतां तत् सुरश्रेष्ठा न हि दास्याम्यहं शचीम् ॥ २३ ॥

श्रेष्ठ देवताओ! जो इनके लिये हितकर हो, जिससे मेरा भी हित हो, वह कार्य आपलोग करें। मैं शचीको कदापि नहीं दूँगा ॥ २३ ॥

शल्य उवाच

अथ देवाः सगन्धर्वा गुरुमाहुरिदं वचः।
कथं सुनीतं नु भवेन्मन्त्रयस्व बृहस्पते ॥ २४ ॥

शल्य कहते हैं—राजन्! तब देवताओं तथा गन्धर्वोंने गुरुसे इस प्रकार कहा—'बृहस्पते! आप ही सलाह दीजिये कि किस उपायका अवलम्बन करनेसे शुभ परिणाम होगा?' ॥ २४ ॥

बृहस्पतिरुवाच

नहुषं याचतां देवी किंचित् कालान्तरं शुभा।
इन्द्राणी हितमेतद्धि तथास्माकं भविष्यति ॥ २५

बृहस्पतिजीने कहा—देवगण! शुभलक्षणा शची दे[वी] नहुषसे कुछ समयकी अवधि माँगें। इसीसे इनका [और] हमारा भी हित होगा ॥ २५ ॥

बहुविघ्नः सुराः कालः कालः कालं नयिष्यति।
गर्वितो बलवांश्चापि नहुषो वरसंश्रयात् ॥ २६

देवताओ! समय अनेक प्रकारके विघ्नोंसे भरा है। इस समय नहुष आपलोगोंके वरदानके प्रभावसे बल[वान्] और गर्वीला हो गया है। काल ही उसे कालके गा[ल] पहुँचा देगा ॥ २६ ॥

शल्य उवाच

ततस्तेन तथोक्ते तु प्रीता देवास्तथाब्रुवन्।
ब्रह्मन् साध्विदमुक्तं ते हितं सर्वदिवौकसाम् ॥ २७

शल्य कहते हैं—राजन्! उनके इस प्रकार [कह] देनेपर देवता बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन्! आपने बहुत अच्छी बात कही है। इसीमें स[ब] देवताओंका हित है ॥ २७ ॥

एवमेतद् द्विजश्रेष्ठ देवी चेयं प्रसाद्यताम्।
ततः समस्ता इन्द्राणीं देवाश्चाग्निपुरोगमाः।
ऊचुर्वचनमव्यग्रा लोकानां हितकाम्यया ॥ २८

'द्विजश्रेष्ठ! इसी बातके लिये शचीदेवीको [प्रसन्न] कीजिये।' तदनन्तर अग्नि आदि सब देवता इन्द्रा[णीके] पास जा समस्त लोकोंके हितके लिये शान्तभावसे [इस] प्रकार बोले ॥ २८ ॥

देवा ऊचुः

त्वया जगदिदं सर्वं धृतं स्थावरजङ्गमम्।
एकपत्न्यसि सत्या च गच्छस्व नहुषं प्रति ॥ २९
क्षिप्रं त्वामभिकामश्च विनशिष्यति पापकृत्।
नहुषो देवि शक्रश्च सुरैश्वर्यमवाप्स्यति ॥ ३०

देवता बोले—देवि! यह समस्त चराचर जगत् [तुमने] ही धारण कर रक्खा है, क्योंकि तुम पतिव्रता और [सत्य]परायणा हो। अतः तुम नहुषके पास चलो। देवि! [वह] तुम्हारी कामना करनेके कारण पापी नहुष शीघ्र [नष्ट हो] जायगा और इन्द्र पुनः अपने देवसाम्राज्यको [प्राप्त] कर लेंगे ॥ २९-३० ॥

एवं विनिश्चयं कृत्वा इन्द्राणी कार्यसिद्धये।
अभ्यगच्छत सव्रीडा नहुषं घोरदर्शनम् ॥ ३

अपनी कार्य-सिद्धिके लिये ऐसा निश्चय करके इ[न्द्राणी]

भयंकर दृष्टिवाले नहुषके पास बड़े संकोचके साथ गयी ॥

दृष्ट्वा तां नहुषश्चापि वयोरूपसमन्विताम् ।
समहृष्यत दुष्टात्मा कामोपहतचेतनः ॥ ३२ ॥

नयी अवस्था और सुन्दर रूपसे सुशोभित इन्द्राणीको देखकर दुष्टात्मा नहुष बहुत प्रसन्न हुआ। कामभावनासे उसकी बुद्धि मारी गयी थी ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीकालावधियाचने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणीकी नहुषसे समययाचनासे सम्बन्ध रखनेवाला बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

नहुषका इन्द्राणीको कुछ कालकी अवधि देना, इन्द्रका ब्रह्महत्यासे उद्धार तथा शचीद्वारा रात्रिदेवीकी उपासना

शल्य उवाच

अथ तामब्रवीद् दृष्ट्वा नहुषो देवराट् तदा ।
त्रयाणामपि लोकानामहमिन्द्रः शुचिस्मिते ॥ १ ॥
भजस्व मां वरारोहे पतित्वे वरवर्णिनि ।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस समय देवराज नहुषने इन्द्राणीको देखकर कहा—'शुचिस्मिते ! मैं तीनों लोकोंका स्वामी इन्द्र हूँ। उत्तम रूप-रंगवाली सुन्दरी ! तुम मुझे अपना पति बना लो' ॥ १½ ॥

एवमुक्ता तु सा देवी नहुषेण पतिव्रता ॥ २ ॥
प्रावेपत भयोद्विग्ना प्रवाते कदली यथा ।
प्रणम्य सा हि ब्रह्माणं शिरसा तु कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥
देवराजमथोवाच नहुषं घोरदर्शनम् ।
कालमिच्छाम्यहं लब्धुं त्वत्तः कंचित् सुरेश्वर ॥ ४ ॥

नहुषके ऐसा कहनेपर पतिव्रता देवी शची भयसे उद्विग्न हो तेज हवामें हिलनेवाले केलेके वृक्षकी भाँति काँपने लगीं। उन्होंने मस्तक झुकाकर ब्रह्माजीको प्रणाम किया और भयंकर दृष्टिवाले देवराज नहुषसे हाथ जोड़कर कहा—'देवेश्वर ! मैं आपसे कुछ समयकी अवधि लेना चाहती हूँ ॥ २–४ ॥

न हि विज्ञायते शक्रः किंवा प्राप्तः क्व वा गतः ।
तत्त्वमेतत् तु विज्ञाय यदि न ज्ञायते प्रभो ॥ ५ ॥
ततोऽहं त्वामुपस्थास्ये सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
एवमुक्तः स इन्द्राण्या नहुषः प्रीतिमानभूत् ॥ ६ ॥

'अभी यह पता नहीं है कि देवेन्द्र किस अवस्थामें पड़े हैं ? अथवा कहाँ चले गये हैं ? प्रभो ! इसका ठीक-ठीक पता लगानेपर यदि कोई बात मालूम नहीं हो सकी, तो मैं आपकी सेवामें उपस्थित हो जाऊँगी। यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ।' इन्द्राणीके ऐसा कहनेपर नहुषको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ५-६ ॥

नहुष उवाच

एवं भवतु सुश्रोणि यथा मामिह भाषसे ।
ज्ञात्वा चागमनं कार्यं सत्यमेतदनुस्मरेः ॥ ७ ॥

नहुष बोले—सुन्दरी ! तुम मुझसे यहाँ जैसा कह रही हो ऐसा ही हो। इसके अनुसार पता लगाकर तुम्हें मेरे पास आ जाना चाहिये; इस सत्यको सदा याद रखना ॥ ७ ॥

नहुषेण विसृष्टा च निश्चक्राम ततः शुभा ।
बृहस्पतिनिकेतं च सा जगाम यशस्विनी ॥ ८ ॥

नहुषसे विदा लेकर शुभलक्षणा यशस्विनी शची उस स्थानसे निकली और पुनः बृहस्पतिजीके भवनमें चली गयी ॥ ८ ॥

तस्याः संश्रुत्य च वचो देवाश्चाग्निपुरोगमाः ।
चिन्तयामासुरेकाग्राः शक्रार्थं राजसत्तम ॥ ९ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इन्द्राणीकी बात सुनकर अग्नि आदि सब देवता एकाग्रचित्त होकर इन्द्रकी खोज करनेके लिये आपस-में विचार करने लगे ॥ ९ ॥

देवदेवेन सङ्गम्य विष्णुना प्रभविष्णुना ।
ऊचुश्चैनं समुद्विग्ना वाक्यं वाक्यविशारदाः ॥ १० ॥

फिर बातचीतमें कुशल देवगण सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति-के कारणभूत देवाधिदेव भगवान् विष्णुसे मिले और भयसे उद्विग्न हो उनसे इस प्रकार बोले—॥ १० ॥



ब्रह्मवध्याभिभूतो वै शक्रः सुरगणेश्वरः।
गतिश्च नस्त्वं देवेश पूर्वजो जगतः प्रभुः ॥ ११ ॥

'देवेश्वर! देवसमुदायके स्वामी इन्द्र ब्रह्महत्यासे अभिभूत होकर कहीं छिप गये हैं। भगवन्! आप ही हमारे आश्रय और सम्पूर्ण जगत्‌के पूर्वज तथा प्रभु हैं ॥ ११ ॥

रक्षार्थं सर्वभूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान्।
त्वद्वीर्यनिहते वृत्रे वासवो ब्रह्महत्यया ॥ १२ ॥
वृतः सुरगणश्रेष्ठ मोक्षं तस्य विनिर्दिश।

'आपने समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये विष्णुरूप धारण किया है। यद्यपि वृत्रासुर आपकी ही शक्तिसे मारा गया है तथापि इन्द्रको ब्रह्महत्याने आक्रान्त कर लिया है। सुरगणश्रेष्ठ! अब आप ही उनके उद्धारका उपाय बताइये' ॥ १२½ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा देवानां विष्णुरब्रवीत् ॥ १३ ॥
मामेव यजतां शक्रः पावयिष्यामि वज्रिणम्।
पुण्येन हयमेधेन मामिष्ट्वा पाकशासनः ॥ १४ ॥
पुनरेष्यति देवानामिन्द्रत्वमकुतोभयः।
स्वकर्मभिश्च नहुषो नाशं यास्यति दुर्मतिः ॥ १५ ॥
किंचित् कालमिदं देवा मर्षयध्वमतन्द्रिताः।

देवताओंकी यह बात सुनकर भगवान् विष्णु बोले—'इन्द्र यज्ञोंद्वारा केवल मेरी ही आराधना करें, इससे मैं वज्रधारी इन्द्रको पवित्र कर दूँगा। पाकशासन इन्द्र पवित्र अश्वमेध यज्ञके द्वारा मेरी आराधना करके पुनः निर्भय हो देवेन्द्र-पदको प्राप्त कर लेंगे और खोटी बुद्धिवाला नहुष अपने कर्मोंसे ही नष्ट हो जायगा। देवताओ! तुम आलस्य छोड़कर कुछ कालतक और यह कष्ट सहन करो' ॥ १३-१५½ ॥

श्रुत्वा विष्णोः शुभां सत्यां वाणींताममृतोपमाम् ॥ १६ ॥
ततः सर्वे सुरगणाः सोपाध्यायाः सहर्षिभिः।
यत्र शक्रो भयोद्विग्नस्तं देशमुपचक्रमुः ॥ १७ ॥

भगवान् विष्णुकी यह शुभ, सत्य तथा अमृतके समान मधुर वाणी सुनकर गुरु तथा महर्षियोंसहित सब देवता उस स्थानपर गये, जहाँ भयसे व्याकुल हुए इन्द्र छिपकर रहते थे ॥ १६-१७ ॥

तत्राश्वमेधः सुमहान् महेन्द्रस्य महात्मनः।
ववृते पावनार्थं वै ब्रह्महत्यापहो नृप ॥ १८ ॥

नरेश्वर! वहाँ महात्मा महेन्द्रकी शुद्धिके लिये एक महान् अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान हुआ, जो ब्रह्महत्याको दूर करनेवाला था ॥ १८ ॥

विभज्य ब्रह्महत्यां तु वृक्षेषु च नदीषु च।
पर्वतेषु पृथिव्यां च स्त्रीषु चैव युधिष्ठिर ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर! इन्द्रने वृक्ष, नदी, पर्वत, पृथ्वी और स्त्री-समुदायमें ब्रह्महत्याको बाँट दिया ॥ १९ ॥

संविभज्य च भूतेषु विसृज्य च सुरेश्वरः।
विज्वरो धूतपाप्मा च वासवोऽभवदात्मवान् ॥ २०

इस प्रकार समस्त भूतोंमें ब्रह्महत्याका विभाजन करके देवेश्वर इन्द्रने उसे त्याग दिया और स्वयं मनको वशमें करके वे निष्पाप तथा निश्चिन्त हो गये ॥ २० ॥

अकम्पन्नहुषं स्थानाद् दृष्ट्वा बलनिषूदनः।
तेजोघ्नं सर्वभूतानां वरदानाच्च दुःसहम् ॥ २१

परंतु बल नामक दानवका नाश करनेवाले इन्द्र अपना स्थान ग्रहण करनेके लिये स्वर्गलोकमें आये, उन्होंने देखा—नहुष देवताओंके वरदानसे अपनी दृष्टिमात्रसे समस्त प्राणियोंके तेजको नष्ट करनेमें समर्थ और दुःसह हो गया है। यह देखकर वे काँप उठे ॥ २१ ॥

ततः शचीपतिर्देवः पुनरेव व्यनश्यत।
अदृश्यः सर्वभूतानां कालाकाङ्क्षी चचार ह ॥ २२

तदनन्तर शचीपति इन्द्रदेव पुनः सबकी आँखोंसे ओझल हो गये तथा अनुकूल समयकी प्रतीक्षा करते हुए समस्त प्राणियोंसे अदृश्य रहकर विचरने लगे ॥ २२ ॥

प्रणष्टे तु ततः शक्रे शची शोकसमन्विता।
हा शक्रेति तदा देवी विललाप सुदुःखिता ॥ २३

इन्द्रके पुनः अदृश्य हो जानेपर शची देवी शोकमें डूब गयीं और अत्यन्त दुखी हो 'हा इन्द्र! हा इन्द्र!' कहती हुई विलाप करने लगीं ॥ २३ ॥

यदि दत्तं यदि हुतं गुरवस्तोषिता यदि।
एकभर्तृत्वमेवास्तु सत्यं यद्यस्ति वा मयि ॥ २४

तत्पश्चात् वे इस प्रकार बोलीं—'यदि मैंने दान दिया हो, होम किया हो, गुरुजनोंको संतुष्ट रक्खा हो तथा मुझमें सत्य विद्यमान हो, तो मेरा पातिव्रत्य सुरक्षित रहे।

पुण्यां चेमामहं दिव्यां प्रवृत्तामुत्तरायणे।
देवीं रात्रिं नमस्यामि सिध्यतां मे मनोरथः ॥ २५

'उत्तरायणके दिन जो यह पुण्य एवं दिव्य रात्रि आयी है, उसकी अधिष्ठात्री देवी रात्रिको मैं नमस्कार करती हूँ। मेरा मनोरथ सफल हो' ॥ २५ ॥

प्रयता च निशां देवीमुपातिष्ठत तत्र सा।
पतिव्रतात्वात् सत्येन सोपश्रुतिमथाकरोत् ॥ २६
यत्रास्ते देवराजोऽसौ तं देशं दर्शयस्व मे।
इत्याहोपश्रुतिं देवीं सत्यं सत्येन दृश्यताम् ॥ २७

ऐसा कहकर शचीने मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर रात्रि देवीकी उपासना की। पतिव्रता तथा सत्य-

यणा होनेके कारण उन्होंने उपश्रुति नामवाली रात्रिदेवीका आवाहन किया और उनसे कहा—'देवि ! जहाँ देवराज इन्द्र हों, वह स्थान मुझे दिखाइये। सत्यका सत्यसे ही दर्शन होता है' ॥ २६-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि उपश्रुतियाचने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें उपश्रुतिसे प्रार्थनाविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

उपश्रुति देवीकी सहायतासे इन्द्राणीकी इन्द्रसे भेंट

शल्य उवाच

अथैनां रूपिणी साध्वीमुपातिष्ठदुपश्रुतिः।
तां वयोरूपसम्पन्नां दृष्ट्वा देवीमुपस्थिताम् ॥ १ ॥
इन्द्राणी सम्प्रहृष्टात्मा सम्पूज्यैनामथाब्रवीत्।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं का त्वं ब्रूहि वरानने ॥ २ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर उपश्रुति देवी मूर्तिमती होकर साध्वी शचीदेवीके पास आयीं। नूतन वय तथा मनोहर रूपसे सुशोभित उपश्रुति देवीको उपस्थित हुई देख इन्द्राणीका मन प्रसन्न हो गया। उन्होंने उनका पूजन करके कहा—'सुमुखि ! मैं आपको जानना चाहती हूँ, बताइये, आप कौन हैं ?'॥ १—२ ॥

उपश्रुतिरुवाच

उपश्रुतिरहं देवि तवान्तिकमुपागता।
दर्शनं चैव सम्प्राप्ता तव सत्येन भाविनि ॥ ३ ॥

उपश्रुति बोलीं—देवि ! मैं उपश्रुति हूँ और तुम्हारे पास आयी हूँ। भामिनि ! तुम्हारे सत्यसे प्रभावित होकर मैंने तुम्हें दर्शन दिया है ॥ ३ ॥

पतिव्रता च युक्ता च यमेन नियमेन च।
दर्शयिष्यामि ते शक्रं देवं वृत्रनिषूदनम् ॥ ४ ॥

तुम पतिव्रता होनेके साथ ही यम और नियमसे संयुक्त हो, अतः मैं तुम्हें वृत्रासुरनिषूदन इन्द्रदेवका दर्शन कराऊँगी ॥ ४ ॥

क्षिप्रमन्वेहि भद्रं ते द्रक्ष्यसे सुरसत्तमम्।
ततस्तां प्रहितां देवीमिन्द्राणी सा समन्वगात् ॥ ५ ॥

तुम्हारा कल्याण हो। तुम शीघ्र मेरे पीछे-पीछे चली आओ। तुम्हें सुरश्रेष्ठ देवराजके दर्शन होंगे। ऐसा कहकर उपश्रुति देवी वहाँसे चल दीं; फिर इन्द्राणी भी उनके पीछे हो लीं ॥ ५ ॥

देवारण्यान्यतिक्रम्य पर्वतांश्च बहूंस्ततः।
हिमवन्तमतिक्रम्य उत्तरं पार्श्वमागमत् ॥ ६ ॥
समुद्रं च समासाद्य बहुयोजनविस्तृतम्।
आससाद महाद्वीपं नानाद्रुमलतावृतम् ॥ ७ ॥

देवताओंके अनेकानेक वन, बहुतसे पर्वत तथा हिमालयको लाँघकर उपश्रुति देवी उसके उत्तर भागमें जा पहुँचीं। तदनन्तर अनेक योजनोंतक फैले हुए समुद्रके पास पहुँचकर उन्होंने एक महाद्वीपमें प्रवेश किया, जो नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे सुशोभित था ॥ ६-७ ॥

तत्रापश्यत् सरो दिव्यं नानाशकुनिभिर्वृतम्।
शतयोजनविस्तीर्णं तावदेवायतं शुभम् ॥ ८ ॥

वहाँ एक दिव्य सरोवर दिखायी दिया, जिसमें अनेक प्रकारके जल-पक्षी निवास करते थे। वह सुन्दर सरोवर सौ योजन लंबा और उतना ही चौड़ा था ॥ ८ ॥

तत्र दिव्यानि पद्मानि पञ्चवर्णानि भारत।
षट्पदैरुपगीतानि प्रफुल्लानि सहस्रशः ॥ ९ ॥

भारत ! उसके भीतर सहस्रों कमल खिले हुए थे, जो पाँच रंगके दिखायी देते थे। उनपर मँडराते हुए भौंरे गुनगुना रहे थे ॥ ९ ॥

सरसस्तस्य मध्ये तु पद्मिनी महती शुभा।
गौरेणोन्नतनालेन पद्मेन महता वृता ॥ १० ॥

उक्त सरोवरके मध्यभागमें एक बहुत बड़ी सुन्दर कमलिनी थी, जिसे एक ऊँची नालवाले गौर वर्णके विशाल कमलने घेर रक्खा था ॥ १० ॥

पद्मस्य भित्त्वा नालं च विवेश सहिता तया।
बिसतन्तुप्रविष्टं च तत्रापश्यच्छतक्रतुम् ॥ ११ ॥

उपश्रुति देवीने उस कमलनालको चीरकर इन्द्राणीसहित उस कमलके भीतर प्रवेश किया और वहीं एक तन्तुमें घुसकर छिपे हुए शतक्रतु इन्द्रको देखा ॥ ११ ॥

तं दृष्ट्वा च सुसूक्ष्मेण रूपेणावस्थितं प्रभुम्।
सूक्ष्मरूपधरा देवी बभूवोपश्रुतिश्च सा ॥ १२ ॥

अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे अवस्थित भगवान् इन्द्रको वहाँ देखकर देवी उपश्रुति तथा इन्द्राणीने भी सूक्ष्म रूप धारण कर लिया ॥ १२ ॥

इन्द्रं तुष्टाव चेन्द्राणी विश्रुतैः पूर्वकर्मभिः।
स्तूयमानस्ततो देवः शचीमाह पुरन्दरः ॥ १३ ॥

इन्द्राणीने पहलेके विख्यात कर्मोंका बखान करके इन्द्रदेवका स्तवन किया । अपनी स्तुति सुनकर इन्द्रदेवने शचीसे कहा—॥ १३ ॥



किमर्थमसि सम्प्राप्ता विज्ञातश्च कथं त्वहम्।
ततः सा कथयामास नहुषस्य विचेष्टितम् ॥ १४ ॥

'देवि ! तुम किसलिये यहाँ आयी हो और तुम्हें कै मेरा पता लगा है ?' तब इन्द्राणीने नहुषकी कुचेष्टा वर्णन किया ॥ १४ ॥

इन्द्रत्वं त्रिषु लोकेषु प्राप्य वीर्यसमन्वितः।
दर्पाविष्टश्च दुष्टात्मा मामुवाच शतक्रतो ॥ १५
उपतिष्ठेति स क्रूरः कालं च कृतवान् मम।
यदि न त्रास्यसि विभो करिष्यति स मां वशे ॥ १६

'शतक्रतो ! तीनों लोकोंके इन्द्रका पद पाकर नहुष ब पराक्रमसे सम्पन्न हो घमंडमें भर गया है। उस दुष्टात्मा मुझसे भी कहा है कि तू मेरी सेवामें उपस्थित हो। क्रूर नरेशने मेरे लिये कुछ समयकी अवधि दी है। प्रभो यदि आप मेरी रक्षा नहीं करेंगे तो वह पापी मुझे अ वशमें कर लेगा ॥ १५-१६ ॥

एतेन चाहं सम्प्राप्ता द्रुतं शक्र तवान्तिकम्।
जहि रौद्रं महाबाहो नहुषं पापनिश्चयम् ॥ १७

'महाबाहु इन्द्र ! इसी कारण मैं शीघ्रतापूर्वक आपके नि आयी हूँ। पापपूर्ण विचार रखनेवाले उस भयानक नहु आप मार डालिये ॥ १७ ॥

प्रकाशयात्मनाऽऽत्मानं दैत्यदानवसूदन।
तेजः समाप्नुहि विभो देवराज्यं प्रशाधि च ॥ १८

'दैत्यदानवसूदन प्रभो ! अब आप अपने आपको प्रक लाइये, तेज प्राप्त कीजिये और देवताओंके रा शासन अपने हाथमें लीजिये' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीन्द्रस्तवे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणीद्वारा इन्द्रकी स्तुतिविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

इन्द्रकी आज्ञासे इन्द्राणीके अनुरोधपर नहुषका ऋषियोंको अपना वाहन बनाना तथा बृहस्पति और अग्निका संवाद

शल्य उवाच

एवमुक्तः स भगवाञ्छच्या तां पुनरब्रवीत्।
विक्रमस्य न कालोऽयं नहुषो बलवत्तरः ॥ १ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! शचीदेवीके ऐसा कहनेपर भगवान् इन्द्रने पुनः उनसे कहा—'देवि ! यह पराक्रम करनेका समय नहीं है। आजकल नहुष बहुत बलवान् हो गया है ॥ १ ॥

विवर्धितश्च ऋषिभिर्हव्यकव्यैश्च भाविनि।
नीतिमत्र विधास्यामि देवि तां कर्तुमर्हसि ॥ २ ॥

'भामिनि ! ऋषियोंने हव्य और कव्य देकर उसकी शक्तिको बहुत बढ़ा दिया है। अतः मैं यहाँ नीतिसे काम लूँगा। देवि ! तुम उसी नीतिका पालन करो ॥ २ ॥

गुह्यं चैतत् त्वया कार्यं नाख्यातव्यं शुभे क्वचित्।
गत्वा नहुषमेकान्ते ब्रवीहि च सुमध्यमे ॥ ३
ऋषियानेन दिव्येन मामुपैहि जगत्पते।
एवं तव वशे प्रीता भविष्यामीति तं वद ॥ ४

'शुभे ! तुम्हें गुप्तरूपसे यह कार्य करना है। कहीं (भी) प्रकट न करना। सुमध्यमे ! तुम एकान्तमें नहुषके पास कहो, 'जगत्पते ! आप दिव्य ऋषियानपर बैठकर आइये। ऐसा होनेपर मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके वश जाऊँगी' ॥ ३-४ ॥

इत्युक्ता देवराजेन पत्नी सा कमलेक्षणा।
एवमस्त्वित्यथोक्त्वा तु जगाम नहुषं प्रति ॥ ५

देवराजके इस प्रकार आदेश देनेपर उनकी कमलनयनी पत्नी शची 'एवमस्तु' कहकर नहुषके पास गयीं ॥ ५ ॥

नहुषस्तां ततो दृष्ट्वा सस्मितो वाक्यमब्रवीत्।
स्वागतं ते वरारोहे किं करोमि शुचिस्मिते ॥ ६ ॥

उन्हें देखकर नहुष मुसकराया और इस प्रकार बोला—'वरारोहे ! तुम्हारा स्वागत है। शुचिस्मिते ! कहो, तुम्हारी क्या सेवा करूँ ? ॥ ६ ॥

भक्तं मां भज कल्याणि किमिच्छसि मनस्विनि।
तव कल्याणि यत् कार्यं तत् करिष्ये सुमध्यमे ॥ ७ ॥

'कल्याणि ! मैं तुम्हारा भक्त हूँ, मुझे स्वीकार करो। मनस्विनि ! तुम क्या चाहती हो ? सुमध्यमे ! तुम्हारा जो भी कार्य होगा, उसे मैं सिद्ध करूँगा ॥ ७ ॥

न च व्रीडा त्वया कार्या सुश्रोणि मयि विश्वसेः।
सत्येन वै शपे देवि करिष्ये वचनं तव ॥ ८ ॥

'सुश्रोणि ! तुम्हें मुझसे लज्जा नहीं करनी चाहिये। मुझपर विश्वास करो। देवि ! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, तुम्हारी प्रत्येक आज्ञाका पालन करूँगा' ॥ ८ ॥

इन्द्राण्युवाच

यो मे कृतस्त्वया कालस्तमाकाङ्क्षे जगत्पते।
ततस्त्वमेव भर्ता मे भविष्यसि सुराधिप ॥ ९ ॥

इन्द्राणी बोलीं—जगत्पते ! आपके साथ जो मेरी शर्त हो चुकी है, उसे मैं पूर्ण करना चाहती हूँ। सुरेश्वर ! फिर तो आप ही मेरे पति होंगे ॥ ९ ॥

कार्यं च हृदि मे यत् तद् देवराजावधारय।
वक्ष्यामि यदि मे राजन् प्रियमेतत् करिष्यसि ॥ १० ॥
वाक्यं प्रणयसंयुक्तं ततः स्यां वशगा तव।

देवराज ! मेरे हृदयमें एक कार्यकी अभिलाषा है, उसे बताती हूँ, सुनिये। राजन् ! यदि आप मेरे इस प्रिय कार्यको पूर्ण कर देंगे, प्रेमपूर्वक कही हुई मेरी यह बात मान लेंगे तो मैं आपके अधीन हो जाऊँगी ॥ १०½ ॥

इन्द्रस्य वाजिनो वाहा हस्तिनोऽथ रथास्तथा ॥ ११ ॥
इच्छाम्यहमथापूर्वं वाहनं ते सुराधिप।
यन्न विष्णोर्न रुद्रस्य नासुराणां न रक्षसाम् ॥ १२ ॥

सुरेश्वर ! पहले जो इन्द्र थे, उनके वाहन हाथी, घोड़े तथा रथ आदि रहे हैं, परंतु आपका वाहन उनसे सर्वथा विलक्षण—अपूर्व हो, ऐसी मेरी इच्छा है। वह वाहन ऐसा होना चाहिये, जो भगवान् विष्णु, रुद्र, असुर तथा राक्षसोंके भी उपयोगमें न आया हो ॥ ११-१२ ॥

वहन्तु त्वां महाभागा ऋषयः संगता विभो।
सर्वे शिबिकया राजन्नेतद्धि मम रोचते ॥ १३ ॥

प्रभो ! महाभाग सप्तर्षि एकत्र होकर शिबिकाद्वारा आपका वहन करें। राजन् ! यही मुझे अच्छा लगता है ॥

नासुरेषु न देवेषु तुल्यो भवितुमर्हसि।
सर्वेषां तेज आदत्से स्वेन वीर्येण दर्शनात्।
न ते प्रमुखतः स्थातुं कश्चिच्छक्नोति वीर्यवान्॥ १४ ॥

आप अपने पराक्रमसे तथा दृष्टिपात करनेमात्रसे सबका तेज हर लेते हैं। देवताओं तथा असुरोंमें कोई भी आपकी समानता करनेवाला नहीं है। कोई कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, आपके सामने ठहर नहीं सकता है ॥ १४ ॥

शल्य उवाच

एवमुक्तस्तु नहुषः प्राहृष्यत तदा किल।
उवाच वचनं चापि सुरेन्द्रस्तामनिन्दिताम् ॥ १५ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्राणीके ऐसा कहनेपर देवराज नहुष बड़े प्रसन्न हुए और उस सती-साध्वी देवीसे इस प्रकार बोले ॥ १५ ॥

नहुष उवाच

अपूर्वं वाहनमिदं त्वयोक्तं वरवर्णिनि।
दृढं मे रुचितं देवि त्वद्वशोऽस्मि वरानने ॥ १६ ॥

नहुषने कहा—सुन्दरि ! तुमने तो यह अपूर्व वाहन बताया। देवि ! मुझे भी वही सवारी अधिक पसंद है। सुमुखि ! मैं तुम्हारे वशमें हूँ ॥ १६ ॥

न ह्यल्पवीर्यो भवति यो वाहान् कुरुते मुनीन्।
अहं तपस्वी बलवान् भूतभव्यभवत्प्रभुः ॥ १७ ॥

जो ऋषियोंको भी अपना वाहन बना सके, उस पुरुषमें थोड़ी शक्ति नहीं होती है। मैं तपस्वी, बलवान् तथा भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंका स्वामी हूँ ॥ १७ ॥

मयि क्रुद्धे जगन्न स्यान्मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
देवदानवगन्धर्वाः किन्नरोरगराक्षसाः ॥ १८ ॥
न मे क्रुद्धस्य पर्याप्ताः सर्वे लोकाः शुचिस्मिते।
चक्षुषा यं प्रपश्यामि तस्य तेजो हराम्यहम् ॥ १९ ॥

मेरे कुपित होनेपर यह संसार मिट जायगा। मुझपर ही सब कुछ टिका हुआ है। शुचिस्मिते ! यदि मैं क्रोधमें भर जाऊँ तो यह देवता, दानव, गन्धर्व, किन्नर, नाग, राक्षस और सम्पूर्ण लोक मेरा सामना नहीं कर सकते हैं। मैं अपनी आँखसे जिसको देख लेता हूँ, उसका तेज हर लेता हूँ ॥

तस्मात् ते वचनं देवि करिष्यामि न संशयः।
सप्तर्षयो मां वक्ष्यन्ति सर्वे ब्रह्मर्षयस्तथा।
पश्य माहात्म्ययोगं मे ऋद्धिं च वरवर्णिनि ॥ २० ॥

अतः देवि ! मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगा, इसमें संशय नहीं है। सम्पूर्ण सप्तर्षि और ब्रह्मर्षि मेरी पालकी

ढोयेंगे। वरवर्णिनि ! मेरे माहात्म्य तथा समृद्धिको तुम प्रत्यक्ष देख लो ॥ २० ॥

शल्य उवाच

एवमुक्त्वा तु तां देवीं विसृज्य च वराननाम्।
विमाने योजयित्वा च ऋषीन् नियममास्थितान्॥ २१॥
अब्रह्मण्यो बलोपेतो मत्तो मदबलेन च।
कामवृत्तः स दुष्टात्मा वाहयामास तानृषीन् ॥ २२॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! सुन्दर मुखवाली शची देवीसे ऐसा कहकर नहुषने उन्हें विदा कर दिया और यम-नियमका पालन करनेवाले बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंका अपमान करके अपनी पालकीमें जोत दिया। वह ब्राह्मणद्रोही नरेश बल पाकर उन्मत्त हो गया था। मद और बलसे गर्वित हो स्वेच्छाचारी दुष्टात्मा नहुषने उन महर्षियोंको अपना वाहन बनाया ॥ २१-२२ ॥

नहुषेण विसृष्टा च बृहस्पतिमथाब्रवीत्।
समयोऽल्पावशेषो मे नहुषेणेह यः कृतः ॥२३॥

उधर नहुषसे विदा लेकर इन्द्राणी बृहस्पतिके यहाँ गयीं और इस प्रकार बोलीं—'देवगुरो ! नहुषने मेरे लिये जो समय निश्चित किया है, उसमें थोड़ा ही शेष रह गया है ॥

शक्रं मृगय शीघ्रं त्वं भक्तायाः कुरु मे दयाम्।
बाढमित्येव भगवान् बृहस्पतिरुवाच ताम् ॥ २४॥

'आप शीघ्र इन्द्रका पता लगाइये। मैं आपकी भक्त हूँ। मुझपर दया कीजिये।' तब भगवान् बृहस्पतिने 'बहुत अच्छा' कहकर उनसे इस प्रकार कहा—॥ २४ ॥

न भेतव्यं त्वया देवि नहुषाद् दुष्टचेतसः।
न ह्येष स्थास्यति चिरं गत एष नराधमः ॥ २५॥

'देवि ! तुम दुष्टात्मा नहुषसे डरो मत। यह नराधम अब अधिक समयतक यहाँ ठहर नहीं सकेगा। इसे गया हुआ ही समझो ॥ २५ ॥

अधर्मज्ञो महर्षीणां वाहनाच्च ततः शुभे।
इष्टिं चाहं करिष्यामि विनाशायास्य दुर्मतेः ॥ २६॥
शक्रं चाधिगमिष्यामि मा भैस्त्वं भद्रमस्तु ते।

'शुभे ! यह पापी धर्मको नहीं जानता। अतः महर्षियोंको अपना वाहन बनानेके कारण शीघ्र नीचे गिरेगा। इसके सिवा मैं भी इस दुर्बुद्धि नहुषके विनाशके लिये एक यज्ञ करूँगा। साथ ही इन्द्रका भी पता लगाऊँगा। तुम डरो मत। तुम्हारा कल्याण होगा' ॥ २६½ ॥

ततः प्रज्वाल्य विधिवज्जुहाव परमं हविः ॥ २७॥
बृहस्पतिर्महातेजा देवराजोपलब्धये।
हुत्वाग्निं सोऽब्रवीद् राजञ्छक्रमन्विष्यतामिति॥ २८॥

तदनन्तर महातेजस्वी बृहस्पतिने देवराजकी प्राप्तिके लिये विधिपूर्वक अग्निको प्रज्वलित करके उसमें उत्तम हविष्यकी आहुति दी। राजन् ! अग्निमें आहुति देकर उन्होंने अग्निदेवसे कहा—'आप इन्द्रदेवका पता लगाइये'।



तस्माच्च भगवान् देवः स्वयमेव हुताशनः।
स्त्रीवेषमद्भुतं कृत्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥ २९॥

उस हवनकुण्डसे साक्षात् भगवान् अग्निदेव प्रकट हो अद्भुत स्त्रीवेष धारण करके वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २९ ॥

स दिशः प्रदिशश्चैव पर्वतानि वनानि च।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च विचिन्त्याथ मनोगतिः।
निमेषान्तरमात्रेण बृहस्पतिमुपागमत् ॥ ३०॥

मनके समान तीव्र गतिवाले अग्निदेव सम्पूर्ण दिशाओं, विदिशाओं, पर्वतों और वनोंमें तथा भूतल और आकाशमें भी इन्द्रकी खोज करके पलभरमें बृहस्पतिके पास लौट आये।

अग्निरुवाच

बृहस्पते न पश्यामि देवराजमिह क्वचित्।
आपः शेषाः सदा चापः प्रवेष्टुं नोत्सहाम्यहम् ॥ ३१॥

अग्निदेव बोले—बृहस्पते ! मैं देवराजको तो संसारमें कहीं नहीं देख रहा हूँ, केवल जल शेष रह गया है, जहाँ उनकी खोज नहीं की है। परंतु मैं कभी भी जलमें प्रवेश करनेका साहस नहीं कर सकता ॥ ३१ ॥

न मे तत्र गतिर्ब्रह्मन् किमन्यत् करवाणि ते।
तमब्रवीद् देवगुरुरपो विश महाद्युते ॥ ३२॥

ब्रह्मन् ! जलमें मेरी गति नहीं है। इसके सिवा तुम्हारा

दूसरा कौन कार्य मैं करूँ ? तब देवगुरुने कहा—'महाद्युते ! आप जलमें भी प्रवेश कीजिये' ॥ ३२ ॥

अग्निरुवाच

नापः प्रवेष्टुं शक्ष्यामि क्षयो मेऽत्र भविष्यति ।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि स्वस्ति तेऽस्तु महाद्युते ॥ ३३ ॥

अग्निदेव बोले—मैं जलमें नहीं प्रवेश कर सकूँगा; क्योंकि उसमें मेरा विनाश हो जायगा। महातेजस्वी बृहस्पते ! मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। (मुझे जलमें जानेके लिये न कहो) ॥ ३३ ॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३४ ॥

जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय तथा पत्थरसे लोहेकी उत्पत्ति हुई है। इनका तेज सर्वत्र काम करता है। परंतु अपने कारणभूत पदार्थोंमें आकर बुझ जाता है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि बृहस्पत्यग्निसंवादे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें बृहस्पति-अग्निसंवादविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

बृहस्पतिद्वारा अग्नि और इन्द्रका स्तवन तथा बृहस्पति एवं लोकपालोंकी इन्द्रसे बातचीत

बृहस्पतिरुवाच

त्वमग्ने सर्वदेवानां मुखं त्वमसि हव्यवाट् ।
त्वमन्तः सर्वभूतानां गूढश्चरसि साक्षिवत् ॥ १ ॥

बृहस्पति बोले—अग्निदेव ! आप सम्पूर्ण देवताओंके मुख हैं। आप ही देवताओंको हविष्य पहुँचानेवाले हैं। आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें साक्षीकी भाँति गूढ़भावसे विचरते हैं ॥ १ ॥

त्वामाहुरेकं कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः ।
त्वया त्यक्तं जगच्चेदं सद्यो नश्येद्धुताशन ॥ २ ॥

विद्वान् पुरुष आपको एक बताते हैं। फिर वे ही आपको तीन प्रकारका कहते हैं। हुताशन ! आपके त्याग देनेपर यह सम्पूर्ण जगत् तत्काल नष्ट हो जायगा ॥ २ ॥

कृत्वा तुभ्यं नमो विप्राः स्वकर्मविजितां गतिम् ।
गच्छन्ति सह पत्नीभिः सुतैरपि च शाश्वतीम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मणलोग आपकी पूजा और वन्दना करके अपनी पत्नियों तथा पुत्रोंके साथ अपने कर्मोंद्वारा प्राप्त चिरस्थायी स्वर्गीय गतिका लाभ करते हैं ॥ ३ ॥

त्वमेवाग्ने हव्यवाहस्त्वमेव परमं हविः ।
यजन्ति सत्रैस्त्वामेव यज्ञैश्च परमाध्वरे ॥ ४ ॥

अग्ने ! आप ही हविष्यको वहन करनेवाले देवता हैं। आप ही उत्कृष्ट हवि हैं। याज्ञिक विद्वान् पुरुष बड़े-बड़े यज्ञोंमें तथा सत्रों और यज्ञोंद्वारा आपकी ही आराधना करते हैं॥

सृष्ट्वा लोकांस्त्रीनिमान् हव्यवाह
प्राप्ते काले पचसि पुनः समिद्धः ।
त्वं सर्वस्य भुवनस्य प्रसूति-
स्त्वमेवाग्ने भवसि पुनः प्रतिष्ठा ॥ ५ ॥

हव्यवाहन ! आप ही सृष्टिके समय इन तीनों लोकोंको उत्पन्न करके प्रलयकाल आनेपर पुनः प्रज्वलित हो इन सबका संहार करते हैं। अग्ने ! आप ही सम्पूर्ण विश्वके उत्पत्तिस्थान हैं और आप ही पुनः इसके प्रलयकालमें आधार होते हैं ॥ ५ ॥

त्वामग्ने जलदानाहुर्विद्युतश्च मनीषिणः ।
दहन्ति सर्वभूतानि त्वत्तो निष्क्रम्य हेतयः ॥ ६ ॥

अग्निदेव ! मनीषी पुरुष आपको ही मेघ और विद्युत् कहते हैं। आपसे ही ज्वालाएँ निकलकर सम्पूर्ण भूतोंको दग्ध करती हैं ॥ ६ ॥

त्वय्यापो निहिताः सर्वास्त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित् त्रिषु लोकेषु पावक ॥ ७ ॥

पावक ! आपमें ही सारा जल संचित है। आपमें ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है। तीनों लोकोंमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो ॥ ७ ॥

स्वयोनिं भजते सर्वो विशस्वापोऽविशङ्कितः ।
अहं त्वां वर्धयिष्यामि ब्राह्मैर्मन्त्रैः सनातनैः ॥ ८ ॥

समस्त पदार्थ अपने-अपने कारणमें प्रवेश करते हैं। अतः आप भी निःशङ्क होकर जलमें प्रवेश कीजिये। मैं सनातन वेदमन्त्रोंद्वारा आपको बढ़ाऊँगा ॥ ८ ॥

एवं स्तुतो हव्यवाट् स भगवान् कविरुत्तमः ।
बृहस्पतिमथोवाच प्रीतिमान् वाक्यमुत्तमम् ।
दर्शयिष्यामि ते शक्रं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ९ ॥

इस प्रकार स्तुति की जानेपर हविष्य वहन करनेवाले श्रेष्ठ एवं सर्वज्ञ भगवान् अग्निदेव प्रसन्न होकर बृहस्पतिसे यह उत्तम वचन बोले—'ब्रह्मन् ! मैं आपको इन्द्रका दर्शन कराऊँगा, यह मैं आपसे सत्य कह रहा हूँ' ॥ ९ ॥

शल्य उवाच

प्रविश्यापस्ततो वह्निः ससमुद्राः सपल्वलाः ।
आससाद सरस्तच्च गूढो यत्र शतक्रतुः ॥ १० ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर अग्निदेवने छोटे गड्ढेसे लेकर बड़े-से-बड़े समुद्रतकके जलमें प्रवेश करके पता लगाते हुए क्रमशः उस सरोवरमें जा पहुँचे, जहाँ इन्द्र छिपे हुए थे ॥ १० ॥

अथ तत्रापि पद्मानि विचिन्वन् भरतर्षभ ।
अपश्यत् स तु देवेन्द्रं बिसमध्यगतं स्थितम् ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उसमें भी कमलोंके भीतर खोज करते हुए अग्निदेवने एक कमलके नालमें बैठे हुए देवेन्द्रको देखा ॥

आगत्य च ततस्तूर्णं तमाचष्ट बृहस्पतेः ।
अणुमात्रेण वपुषा पद्मतन्त्वाश्रितं प्रभुम् ॥ १२ ॥

वहाँसे तुरंत लौटकर अग्निदेवने बृहस्पतिको बताया कि भगवान् इन्द्र सूक्ष्म शरीर धारण करके एक कमलनालका आश्रय लेकर रहते हैं ॥ १२ ॥

गत्वा देवर्षिगन्धर्वैः सहितोऽथ बृहस्पतिः ।
पुराणैः कर्मभिर्देवं तुष्टाव बलसूदनम् ॥ १३ ॥

तब बृहस्पतिजीने देवर्षियों और गन्धर्वोंके साथ वहाँ जाकर बलसूदन इन्द्रके पुरातन कर्मोंका वर्णन करते हुए उनकी स्तुति की—॥ १३ ॥

महासुरो हतः शक्र नमुचिर्दारुणस्त्वया ।
शम्बरश्च बलश्चैव तथोभौ घोरविक्रमौ ॥ १४ ॥

'इन्द्र ! आपने अत्यन्त भयंकर नमुचिनामक महान् असुरको मार गिराया है । शम्बर और बल दोनों भयंकर पराक्रमी दानव थे; परंतु उन्हें भी आपने मार डाला ॥ १४ ॥

शतक्रतो विवर्धस्व सर्वाञ्छत्रून् निषूदय ।
उत्तिष्ठ शक्र सम्पश्य देवर्षींश्च समागतान् ॥ १५ ॥

'शतक्रतो ! आप अपने तेजस्वी स्वरूपसे बढ़िये और समस्त शत्रुओंका संहार कीजिये । इन्द्रदेव ! उठिये और यहाँ पधारे हुए देवर्षियोंका दर्शन कीजिये ॥ १५ ॥

महेन्द्र दानवान् हत्वा लोकास्त्रातास्त्वया विभो ।
अपां फेनं समासाद्य विष्णुतेजोऽतिबृंहितम् ।
त्वया वृत्रो हतः पूर्वं देवराज जगत्पते ॥ १६ ॥

'प्रभो महेन्द्र ! आपने कितने ही दानवोंका वध करके समस्त लोकोंकी रक्षा की है । जगदीश्वर देवराज ! भगवान् विष्णुके तेजसे अत्यन्त शक्तिशाली बने हुए समुद्रफेनको लेकर आपने पूर्वकालमें वृत्रासुरका वध किया ॥ १६ ॥

त्वं सर्वभूतेषु शरण्य ईड्य-
स्त्वया समं विद्यते नेह भूतम् ।
त्वया धार्यन्ते सर्वभूतानि शक्र
त्वं देवानां महिमानं चकर्थ ॥ १७ ॥

'आप सम्पूर्ण भूतोंमें स्तवन करने योग्य और सबके शरणदाता हैं । आपकी समानता करनेवाला जगत्में कोई प्राणी नहीं है । शक्र ! आप ही सम्पूर्ण भूतोंको धारण करते हैं और आपने ही देवताओंकी महिमा बढ़ायी है ॥ १७ ॥

पाहि सर्वांश्च लोकांश्च महेन्द्र बलमाप्नुहि ।
एवं संस्तूयमानश्च सोऽवर्धत शनैः शनैः ॥

'महेन्द्र ! आप शक्ति प्राप्त कीजिये और सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा कीजिये ।' इस प्रकार स्तुति की जानेपर देवराज धीरे-धीरे बढ़ने लगे ॥ १८ ॥

स्वं चैव वपुरास्थाय बभूव स बलान्वितः ।
अब्रवीच्च गुरुं देवो बृहस्पतिमवस्थितम् ॥

अपने पूर्व शरीरको प्राप्त करके वे बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो गये । तत्पश्चात् इन्द्रने वहाँ खड़े हुए अपने गुरु बृहस्पतिसे कहा—॥ १९ ॥

किं कार्यमवशिष्टं वो हतस्त्वाष्ट्रो महासुरः ।
वृत्रश्च सुमहाकायो यो वै लोकाननाशयत् ॥

'ब्रह्मन् ! त्वष्टाका पुत्र विशालकाय महासुर वृत्र, जो सम्पूर्ण लोकोंका विनाश कर रहा था, मेरे द्वारा मारा गया; अब आपलोगोंका कौन-सा बचा हुआ कार्य करूँ ?'

बृहस्पतिरुवाच

मानुषो नहुषो राजा देवर्षिगणतेजसा ।
देवराज्यमनुप्राप्तः सर्वान् नो बाधते भृशम् ॥

बृहस्पति बोले—देवेन्द्र ! मनुष्य-लोकका राजा नहुष देवर्षियोंके प्रभावसे देवताओंका राज्य पाकर जो हम सब लोगोंको बड़ा कष्ट दे रहा है ॥ २१ ॥

इन्द्र उवाच

कथं च नहुषो राज्यं देवानां प्राप दुर्लभम् ।
तपसा केन वा युक्तः किंवीर्यो वा बृहस्पते ।
(तत् सर्वं कथयध्वं मे यथेन्द्रत्वमुपेयिवान् ।

इन्द्र बोले—बृहस्पते ! नहुषने देवताओंका दुर्लभ राज्य कैसे प्राप्त किया ? वह किस तपस्यासे युक्त है अथवा उसमें कितना बल और पराक्रम है ? उसे किस प्रकार इन्द्रपदकी प्राप्ति हुई है ? ये सारी बातें आप मुझे बताइये ॥ २२ ॥

बृहस्पतिरुवाच

देवा भीताः शक्रमकामयन्त
त्वया त्यक्तं महदैन्द्रं पदं तत् ।
तदा देवाः पितरोऽथर्षयश्च
गन्धर्वमुख्याश्च समेत्य सर्वे ।

गत्वाब्रुवन् नहुषं तत्र शक्र
त्वं नो राजा भव भुवनस्य गोप्ता।
तानब्रवीन्नहुषो नास्मि शक्त
आप्यायध्वं तपसा तेजसा माम्॥ २४॥

शक्र ! आपने जब उस महान् इन्द्र-पदका परित्याग कर दिया, तब देवतालोग भयभीत होकर दूसरे किसी इन्द्रकी कामना करने लगे। तब देवता, पितर, ऋषि तथा मुख्य गन्धर्व—सब मिलकर राजा नहुषके पास गये। शक्र ! वहाँ उन्होंने नहुषसे इस प्रकार कहा—'आप हमारे राजा होइये और सम्पूर्ण विश्वकी रक्षा कीजिये।' यह सुनकर नहुषने उनसे कहा—'मुझमें इन्द्र बननेकी शक्ति नहीं है, अतः आपलोग अपने तप और तेजसे मुझे आप्यायित (पुष्ट) कीजिये'॥ २३-२४॥

एवमुक्तैर्वर्धितश्चापि देवै
राजाभवन्नहुषो घोरवीर्यः।
त्रैलोक्ये च प्राप्य राज्यं महर्षीन्
कृत्वा वाहान् याति लोकान् दुरात्मा॥२५॥

उसके ऐसा कहनेपर देवताओंने उसे तप और तेजसे बढ़ाया। फिर भयंकर पराक्रमी राजा नहुष स्वर्गका राजा बन गया। इस प्रकार त्रिलोकीका राज्य पाकर वह दुरात्मा नहुष महर्षियोंको अपना वाहन बनाकर सब लोकोंमें घूमता है॥ २५॥

तेजोहरं दृष्टिविषं सुघोरं
मा त्वं पश्येर्नहुषं वै कदाचित्।
देवाश्च सर्वे नहुषं भयार्ता
न पश्यन्ते गूढरूपाश्चरन्तः॥ २६॥

वह देखनेमात्रसे सबका तेज हर लेता है। उसकी दृष्टिमें भयंकर विष है। वह अत्यन्त घोर स्वभावका हो गया है। तुम नहुषकी ओर कभी देखना नहीं। सब देवता भी अत्यन्त पीडित हो गूढरूपसे विचरते रहते हैं; परंतु नहुषकी ओर कभी देखते नहीं हैं॥ २६॥

शल्य उवाच

एवं वदत्यङ्गिरसां वरिष्ठे
बृहस्पतौ लोकपालः कुबेरः।
वैवस्वतश्चैव यमः पुराणो
देवश्च सोमो वरुणश्चाजगाम॥ २७॥

शल्य कहते हैं—राजन्! अङ्गिराके पुत्रोंमें श्रेष्ठ बृहस्पति जब ऐसा कह रहे थे, उसी समय लोकपाल कुबेर, सूर्यपुत्र यम, पुरातन देवता चन्द्रमा तथा वरुण भी वहाँ आ पहुँचे॥ २७॥

ते वै समागम्य महेन्द्रमूचु-
र्दिष्ट्या त्वाष्ट्रो निहतश्चैव वृत्रः।
दिष्ट्या च त्वां कुशलिनमक्षतं च
पश्यामो वै निहतारिं च शक्र॥ २८॥

वे सब देवराज इन्द्रसे मिलकर बोले—'शक्र ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपने त्वष्टाके पुत्र वृत्रासुरका वध किया। हमलोग आपको शत्रुका वध करनेके पश्चात् सकुशल और अक्षत देखते हैं, यह भी बड़े आनन्दकी बात है'॥ २८॥

स तान् यथावच्च हि लोकपालान्
समेत्य वै प्रीतमना महेन्द्रः।
उवाच चैनान् प्रतिभाष्य शक्रः
संचोदयिष्यन्नहुषस्यान्तरेण॥ २९॥

उन लोकपालोंसे यथायोग्य मिलकर महेन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उन सबको सम्बोधित करके राजा नहुषके भीतर बुद्धिभेद उत्पन्न करनेके लिये प्रेरणा देते हुए कहा—॥ २९॥

राजा देवानां नहुषो घोररूप-
स्तत्र साह्यं दीयतां मे भवद्भिः।
ते चाब्रुवन् नहुषो घोररूपो
दृष्टीविषस्तस्य बिभीम ईश॥ ३०॥

'इन देवताओंका राजा नहुष बड़ा भयंकर हो रहा है। उसे स्वर्गसे हटानेके कार्यमें आपलोग मेरी सहायता करें।' यह सुनकर उन्होंने उत्तर दिया—'देवेश्वर! नहुष तो बड़ा भयंकर रूपवाला है। उसकी दृष्टिमें विष है। अतः हमलोग उससे डरते हैं॥ ३०॥

त्वं चेद् राजानं नहुषं पराजये-
स्ततो वयं भागमर्हाम शक्र।
इन्द्रोऽब्रवीद् भवतु भवानपां पति-
र्यमः कुबेरश्च मयाभिषेकम्॥ ३१॥

सम्प्राप्नुवन्त्वद्य सहैव दैवतै
रिपुं जयाम तं नहुषं घोरदृष्टिम्।
ततः शक्रं ज्वलनोऽप्याह भागं
प्रयच्छ मह्यं तव साह्यं करिष्ये।
तमाह शक्रो भवितान्ने तवापि
चेन्द्राग्न्योर्वै भाग एको महाक्रतौ॥ ३२॥

'शक्र ! यदि आप हमारी सहायतासे राजा नहुषको पराजित करनेके लिये उद्यत हैं तो हम भी यज्ञमें भाग पानेके अधिकारी हों।' इन्द्रने कहा—'वरुणदेव ! आप जलके स्वामी हों, यमराज और कुबेर भी मेरे द्वारा अपने-अपने पदपर अभिषिक्त हों। देवताओंसहित हम सब लोग भयंकर दृष्टिवाले अपने शत्रु नहुषको परास्त करेंगे।' तब अग्निने भी इन्द्रसे कहा—'प्रभो ! मुझे भी भाग दीजिये, मैं आपकी

सहायता करूँगा ।' तब इन्द्रने उनसे कहा—'अग्निदेव ! महायज्ञमें इन्द्र और अग्निका एक सम्मिलित भाग होगा, जिसपर तुम्हारा भी अधिकार रहेगा' ॥ ३१-३२ ॥

शल्य उवाच

एवं संचिन्त्य भगवान् महेन्द्रः पाकशासनः ।
कुबेरं सर्वयक्षाणां धनानां च प्रभुं तथा ॥ ३३ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार सोच-विचारकर पाकशासन भगवान् महेन्द्रने कुबेरको सम्पूर्ण यक्षों तथा धनका अधिपति बना दिया ॥ ३३ ॥

वैवस्वतं पितॄणां च वरुणं चाप्यपां तथा ।
आधिपत्यं ददौ शक्रः संचिन्त्य वरदस्तथा ॥

इसी प्रकार वरदायक इन्द्रने खूब सोच-समझकर वैवस्वत यमको पितरोंका तथा वरुणको जलका अधिपत्य प्रदान किया ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रवरुणादिसंवादे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्रवरुणादिसंवादविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥
(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३४½ श्लोक हैं)



सप्तदशोऽध्यायः

अगस्त्यजीका इन्द्रसे नहुषके पतनका वृत्तान्त बताना

शल्य उवाच

अथ संचिन्तयानस्य देवराजस्य धीमतः ।
नहुषस्य वधोपायं लोकपालैः सदैवतैः ॥ १ ॥
तपस्वी तत्र भगवानगस्त्यः प्रत्यदृश्यत ।
सोऽब्रवीदर्च्य देवेन्द्रं दिष्ट्या वै वर्धते भवान् ॥ २ ॥
विश्वरूपविनाशेन वृत्रासुरवधेन च ।
दिष्ट्या च नहुषो भ्रष्टो देवराज्यात् पुरंदर ।
दिष्ट्या हतारिं पश्यामि भवन्तं बलसूदन ॥ ३ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! जिस समय बुद्धिमान् देवराज इन्द्र देवताओं तथा लोकपालोंके साथ बैठकर नहुषके वधका उपाय सोच रहे थे, उसी समय वहाँ तपस्वी भगवान् अगस्त्य दिखायी दिये । उन्होंने देवेन्द्रकी पूजा करके कहा—'सौभाग्यकी बात है कि आप विश्वरूपके विनाश तथा वृत्रासुरके वधसे निरन्तर अभ्युदयशील हो रहे हैं । बलसूदन पुरंदर ! यह भी सौभाग्यकी ही बात है कि आज नहुष देवताओंके राज्यसे भ्रष्ट हो गये । बलसूदन ! सौभाग्यसे ही मैं आपको शत्रुहीन देख रहा हूँ ॥ १-३ ॥

इन्द्र उवाच

स्वागतं ते महर्षेऽस्तु प्रीतोऽहं दर्शनात् तव ।
पाद्यमाचमनीयं च गामर्घ्यं च प्रतीच्छ मे ॥ ४ ॥

इन्द्र बोले—महर्षे ! आपका स्वागत है, आपके दर्शनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता मिली है, आपकी सेवामें यह पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय तथा गौ समर्पित है । आप मेरी दी हुई ये सब वस्तुएँ ग्रहण कीजिये ॥ ४ ॥

शल्य उवाच

पूजितं चोपविष्टं तमासने मुनिसत्तमम् ।
पर्यपृच्छत देवेशः प्रहृष्टो ब्राह्मणर्षभम् ॥ ५ ॥
एतदिच्छामि भगवन् कथ्यमानं द्विजोत्तम ।
परिभ्रष्टः कथं स्वर्गान्नहुषः पापनिश्चयः ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य पूजा ग्रहण करके आसनपर विराजमान हुए, उस समय देवेश्वर इन्द्रने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन विप्रशिरोमणिसे पूछा—'भगवन् ! द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपके शब्दोंमें यह सुनना चाहता हूँ कि पापपूर्ण विचार रखनेवाला नहुष स्वर्गसे किस प्रकार भ्रष्ट हुआ है ?' ॥ ५-६ ॥

अगस्त्य उवाच

शृणु शक्र प्रियं वाक्यं यथा राजा दुरात्मवान् ।
स्वर्गाद् भ्रष्टो दुराचारो नहुषो बलदर्पितः ॥

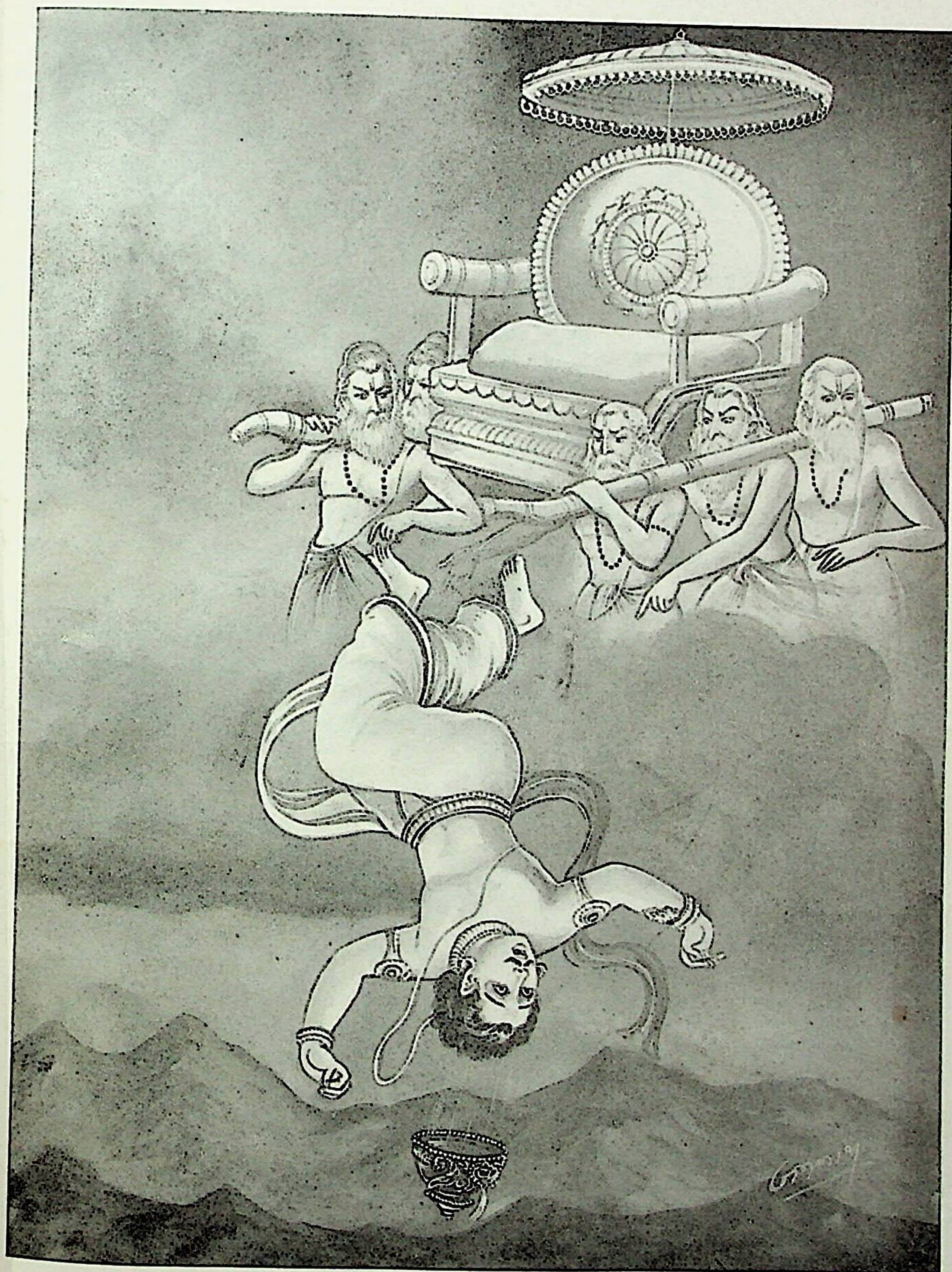
अगस्त्यजीने कहा—इन्द्र ! बलके घमंडमें चूर हुआ दुराचारी और दुरात्मा राजा नहुष जिस प्रकार स्वर्गसे भ्रष्ट हुआ है, वह प्रिय समाचार सुनो ॥ ७ ॥

श्रमार्ताश्च वहन्तस्तं नहुषं पापकारिणम् ।
देवर्षयो महाभागास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ।

महाभाग देवर्षि तथा निर्मल अन्तःकरणवाले ब्रह्मर्षि पापाचारी नहुषका बोझ ढोते-ढोते परिश्रमसे पीड़ित हो गये थे ॥ ८ ॥

पप्रच्छुर्नहुषं देव संशयं जयतां वर ।
य इमे ब्रह्मणा प्रोक्ता मन्त्रा वै प्रोक्षणे गवाम् ।
एते प्रमाणं भवत उताहो नेति वासव ।
नहुषो नेति तानाह तमसा मूढचेतनः ।

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ इन्द्र ! उस समय उन महर्षियोंने नहुषसे एक संदेह पूछा—'देवेन्द्र ! गौओंके प्रोक्षणके विषयमें जो ये मन्त्र वेदमें बताये गये हैं, इन्हें आप प्रामाणिक मानते हैं या नहीं ।' नहुषकी बुद्धि तमोमय अज्ञानसे



नहुषका स्वर्गसे पतन

किंकर्तव्यविमूढ़ हो रही थी। उसने महर्षियोंको उत्तर देते हुए कहा—'मैं इन वेदमन्त्रोंको प्रमाण नहीं मानता'।९-१०।

ऋषय ऊचुः

अधर्मे सम्प्रवृत्तस्त्वं धर्मं न प्रतिपद्यसे।
प्रमाणमेतदस्माकं पूर्वं प्रोक्तं महर्षिभिः ॥ ११ ॥

ऋषिगण बोले—तुम अधर्ममें प्रवृत्त हो रहे हो, इसलिये धर्मका तत्त्व नहीं समझते हो। पूर्वकालमें महर्षियोंने इन सब मन्त्रोंको हमारे लिये प्रमाणभूत बताया है ॥११॥

अगस्त्य उवाच

ततो विवदमानः स मुनिभिः सह वासव।
अथ मामस्पृशन्मूर्ध्नि पादेनाधर्मपीडितः ॥ १२ ॥

अगस्त्यजी कहते हैं—इन्द्र! तब नहुष मुनियोंके साथ विवाद करने लगा और अधर्मसे पीड़ित होकर उस पापीने मेरे मस्तकपर पैरसे प्रहार किया ॥ १२ ॥

तेनाभूद्धततेजाश्च निःश्रीकश्च महीपतिः।
ततस्तं तमसाऽऽविग्नमवोचं भृशपीडितम् ॥ १३ ॥

इससे उसका सारा तेज नष्ट हो गया। वह राजा श्रीहीन हो गया। तब तमोगुणमें डूबकर अत्यन्त पीड़ित हुए नहुषसे मैंने इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

यस्मात् पूर्वैः कृतं राजन् ब्रह्मर्षिभिरनुष्ठितम्।
अदुष्टं दूषयसि मे यच्च मूर्ध्न्यस्पृशः पदा ॥ १४ ॥
यच्चापि त्वमृषीन् मूढ ब्रह्मकल्पान् दुरासदान्॥ १५ ॥
वाहान् कृत्वा वाहयसि तेन स्वर्गाद्धतप्रभः।
ध्वंस पाप परिभ्रष्टः क्षीणपुण्यो महीतले ॥१६॥

'राजन्! पूर्वकालके ब्रह्मर्षियोंने जिसका अनुष्ठान किया है—जिसे प्रमाणभूत माना है, उस निर्दोष वेदमतको जो तुम सदोष बताते हो—उसे अप्रामाणिक मानते हो, इसके सिवा तुमने जो मेरे सिरपर लात मारी है तथा पापात्मा मूढ़! जो तुम ब्रह्माजीके समान दुर्धर्ष तेजस्वी ऋषियोंको वाहन बनाकर उनसे अपनी पालकी ढुलवा रहे हो, इससे तेजोहीन हो गये हो। तुम्हारा पुण्य क्षीण हो गया है। अतः स्वर्गसे भ्रष्ट होकर तुम पृथ्वीपर गिरो ॥ १४–१६ ॥

दशवर्षसहस्राणि सर्परूपधरो महान्।
विचरिष्यसि पूर्णेषु पुनः स्वर्गमवाप्स्यसि ॥१७॥

'वहाँ दस हजार वर्षोंतक तुम महान् सर्पका रूप धारण करके विचरोगे और उतने वर्ष पूर्ण हो जानेपर पुनः स्वर्गलोक प्राप्त कर लोगे' ॥ १७ ॥



एवं भ्रष्टो दुरात्मा स देवराज्यादरिंदम।
दिष्ट्या वर्धामहे शक्र हतो ब्राह्मणकण्टकः ॥ १८ ॥

शत्रुदमन शक्र! इस प्रकार दुरात्मा नहुष देवताओंके राज्यसे भ्रष्ट हो गया। ब्राह्मणोंका कण्टक मारा गया। सौभाग्यकी बात है कि अब हमलोगोंकी वृद्धि हो रही है ॥ १८ ॥

त्रिविष्टपं प्रपद्यस्व पाहि लोकाञ्छचीपते।
जितेन्द्रियो जितामित्रः स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ १९ ॥

शचीपते! अब आप अपनी इन्द्रियों और शत्रुओंपर विजय पा गये हैं। महर्षिगण आपकी स्तुति करते हैं, अतः आप स्वर्गलोकमें चलें और तीनों लोकोंकी रक्षा करें ॥१९॥

शल्य उवाच

ततो देवा भृशं तुष्टा महर्षिगणसंवृताः।
पितरश्चैव यक्षाश्च भुजगा राक्षसास्तथा ॥ २० ॥
गन्धर्वा देवकन्याश्च सर्वे चाप्सरसां गणाः।
सरांसि सरितः शैलाः सागराश्च विशाम्पते ॥ २१ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर महर्षियोंसे घिरे हुए देवता, पितर, यक्ष, नाग, राक्षस, गन्धर्व, देवकन्याएँ तथा समस्त अप्सराएँ बहुत प्रसन्न हुईं। सरिताएँ, सरोवर, शैल और समुद्र भी बहुत संतुष्ट हुए ॥ २०-२१ ॥

उपागम्याब्रुवन् सर्वे दिष्ट्या वर्धसि शत्रुहन्।
हतश्च नहुषः पापो दिष्ट्यागस्त्येन धीमता।
दिष्ट्या पापसमाचारः कृतः सर्पो महीतले ॥ २२ ॥

वे सब लोग इन्द्रके पास आकर बोले—'शत्रुहन्!

आपका अभ्युदय हो रहा है, यह सौभाग्यकी बात है । बुद्धिमान् अगस्त्यजीने पापी नहुषको मार डाला और उस पापाचारीको पृथ्वीपर सर्प बना दिया, यह भी हमारे लिये हर्ष तथा सौभाग्यकी बात है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रागस्त्यसंवादे नहुषभ्रंशे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्र और अगस्त्यके संवादके प्रसङ्गमें नहुषके पतनसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

इन्द्रका स्वर्गमें जाकर अपने राज्यका पालन करना, शल्यका युधिष्ठिरको आश्वासन देना और उनसे विदा लेकर दुर्योधनके यहाँ जाना

शल्य उवाच

ततः शक्रः स्तूयमानो गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।
ऐरावतं समारुह्य द्विपेन्द्रं लक्षणैर्युतम् ॥ १ ॥
पावकः सुमहातेजा महर्षिश्च बृहस्पतिः ।
यमश्च वरुणश्चैव कुबेरश्च धनेश्वरः ॥ २ ॥
सर्वैर्देवैः परिवृतः शक्रो वृत्रनिषूदनः ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च यातस्त्रिभुवनं प्रभुः ॥ ३ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! तत्पश्चात् वृत्रासुरको मारनेवाले भगवान् इन्द्र गन्धर्वों और अप्सराओंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए उत्तम लक्षणोंसे युक्त गजराज ऐरावतपर आरूढ़ हो महान् तेजस्वी अग्निदेव, महर्षि बृहस्पति, यम, वरुण, धनाध्यक्ष कुबेर, सम्पूर्ण देवता, गन्धर्वगण तथा अप्सराओंसे घिरकर स्वर्गलोकको चले ।१-३।

स समेत्य महेन्द्राण्या देवराजः शतक्रतुः ।
मुदा परमया युक्तः पालयामास देवराट् ॥ ४ ॥

सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्र अपनी महारानी शचीसे मिलकर अत्यन्त आनन्दित हो स्वर्गका पालन करने लगे ॥ ४ ॥

ततः स भगवांस्तत्र अङ्गिराः समदृश्यत ।
अथर्ववेदमन्त्रैश्च देवेन्द्रं समपूजयत् ॥ ५ ॥

तदनन्तर वहाँ भगवान् अङ्गिराने दर्शन दिया और अथर्ववेदके मन्त्रोंसे देवेन्द्रका पूजन किया ॥ ५ ॥

ततस्तु भगवानिन्द्रः संहृष्टः समपद्यत ।
वरं च प्रददौ तस्मै अथर्वाङ्गिरसे तदा ॥ ६ ॥

इससे भगवान् इन्द्र उनपर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उस समय अथर्वाङ्गिरसको यह वर दिया—॥ ६ ॥

अथर्वाङ्गिरसो नाम वेदेऽस्मिन् वै भविष्यति ।
उदाहरणमेतद्धि यज्ञभागं च लप्स्यसे ॥ ७ ॥

'ब्रह्मन् ! आप इस अथर्ववेदमें अथर्वाङ्गिरस नामसे विख्यात होंगे और आपको यज्ञभाग भी प्राप्त होगा । इस विषयमें मेरा यह वचन ही उदाहरण (प्रमाण) होगा'

एवं सम्पूज्य भगवानथर्वाङ्गिरसं तदा ।
व्यसर्जयन्महाराज देवराजः शतक्रतुः ॥ ८

महाराज युधिष्ठिर ! इस प्रकार देवराज भगवान् इन्द्रने उस समय अथर्वाङ्गिरसकी पूजा करके उन्हें विदा कर दिया

सम्पूज्य सर्वांस्त्रिदशानृषींश्चापि तपोधनान् ।
इन्द्रः प्रमुदितो राजन् धर्मेणापालयत् प्रजाः ॥ ९

राजन् ! इसके बाद सम्पूर्ण देवताओं तथा तपोधन महर्षियोंकी पूजा करके देवराज इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हो धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करने लगे ॥ ९ ॥

एवं दुःखमनुप्राप्तमिन्द्रेण सह भार्यया ।
अज्ञातवासश्च कृतः शत्रूणां वधकाङ्क्षया ॥ १

युधिष्ठिर ! इस प्रकार पत्नीसहित इन्द्रने बारंबार दुःख उठाया और शत्रुओंके वधकी इच्छासे अज्ञातवास भी किया

नात्र मन्युस्त्वया कार्यो यत् क्लिष्टोऽसि महावने ।
द्रौपद्या सह राजेन्द्र भ्रातृभिश्च महात्मभिः ॥ १

राजेन्द्र ! तुमने अपने महामना भाइयों तथा द्रौपदीके साथ महान् वनमें रहकर जो क्लेश सहन किया है, उसके लिये तुम्हें अनुताप नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

एवं त्वमपि राजेन्द्र राज्यं प्राप्स्यसि भारत ।
वृत्रं हत्वा यथा प्राप्तः शक्रः कौरवनन्दन ॥ १

भरतवंशी कुरुकुलनन्दन महाराज ! जैसे इन्द्रने वृत्रासुरको मारकर अपना राज्य प्राप्त किया था, इसी प्रकार तुम भी अपना राज्य प्राप्त करोगे ॥ १२ ॥

दुराचारश्च नहुषो ब्रह्मद्विट् पापचेतनः ।
अगस्त्यशापाभिहतो विनष्टः शाश्वतीः समाः ॥ १
एवं तव दुरात्मानः शत्रवः शत्रुसूदन ।
क्षिप्रं नाशं गमिष्यन्ति कर्णदुर्योधनादयः ॥ १

शत्रुसूदन ! दुराचारी, ब्राह्मणद्रोही और पापात्मा नहुष जिस प्रकार अगस्त्यके शापसे ग्रस्त होकर अनन्त वर्षों

नष्ट हो गया, इसी प्रकार तुम्हारे दुरात्मा शत्रु कर्ण और दुर्योधन आदि शीघ्र ही विनाशके मुखमें चले जायँगे ॥ १३-१४ ॥

ततः सागरपर्यन्तां भोक्ष्यसे मेदिनीमिमाम्।
भ्रातृभिः सहितो वीर द्रौपद्या च सहानया ॥ १५ ॥

वीर ! तत्पश्चात् तुम अपने भाइयों तथा इस द्रौपदीके साथ समुद्रोंसे घिरे हुए इस समस्त भूमण्डलका राज्य भोगोगे॥

उपाख्यानमिदं शक्रविजयं वेदसम्मितम्।
राज्ञा व्यूढेष्वनीकेषु श्रोतव्यं जयमिच्छता ॥ १६ ॥

शत्रुओंकी सेना जब मोर्चा बाँधकर खड़ी हो, उस समय विजयकी अभिलाषा रखनेवाले राजाको यह 'इन्द्रविजय' नामक वेदतुल्य उपाख्यान अवश्य सुनना चाहिये ॥ १६ ॥

तस्मात् संश्रावयामि त्वां विजयं जयतां वर।
संस्तूयमाना वर्धन्ते महात्मानो युधिष्ठिर ॥ १७ ॥

अतः विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! मैंने तुम्हें यह 'इन्द्र-विजय' नामक उपाख्यान सुनाया है; क्योंकि जब महात्मा देवताओंकी स्तुति-प्रशंसा की जाती है, तब वे मानवकी उन्नति करते हैं ॥ १७ ॥

क्षत्रियाणामभावोऽयं युधिष्ठिर महात्मनाम्।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर ! दुर्योधनके अपराधसे तथा भीमसेन और अर्जुनके बलसे यह महामना क्षत्रियोंके संहारका अवसर उपस्थित हो गया है ॥ १८ ॥

आख्यानमिन्द्रविजयं य इदं नियतः पठेत्।
धूतपाप्मा जितस्वर्गः परत्रेह च मोदते ॥ १९ ॥

जो पुरुष नियमपरायण हो इस इन्द्रविजयनामक उपाख्यानका पाठ करता है, वह पापरहित हो स्वर्गपर विजय पाता तथा इहलोक और परलोकमें भी सुखी होता है ॥ १९ ॥

न चारिजं भयं तस्य नापुत्रो वा भवेन्नरः।
नापदं प्राप्नुयात् कांचिद् दीर्घमायुश्च विन्दति।
सर्वत्र जयमाप्नोति न कदाचित् पराजयम् ॥ २० ॥

वह मनुष्य कभी संतानहीन नहीं होता, उसे शत्रुजनित भय नहीं सताता, उसपर कोई आपत्ति नहीं आती, वह दीर्घायु होता है, उसे सर्वत्र विजय प्राप्त होती है तथा कभी उसकी पराजय नहीं होती है ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितो राजा शल्येन भरतर्षभ।
पूजयामास विधिवच्छल्यं धर्मभृतां वरः ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! शल्यके इस प्रकार आश्वासन देनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने उनका विधिपूर्वक पूजन किया ॥ २१ ॥

श्रुत्वा तु शल्यवचनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
प्रत्युवाच महाबाहुर्मद्रराजमिदं वचः ॥ २२ ॥

शल्यकी बात सुनकर कुन्तीपुत्र महाबाहु युधिष्ठिर मद्रराजसे यह वचन बोले—॥ २२ ॥

भवान् कर्णस्य सारथ्यं करिष्यति न संशयः।
तत्र तेजोवधः कार्यः कर्णस्यार्जुनसंस्तवः ॥ २३ ॥

'मामाजी ! जब अर्जुनके साथ कर्णका युद्ध होगा, उस समय आप कर्णका सारथ्य करेंगे, इसमें संशय नहीं है। उस समय आप अर्जुनकी प्रशंसा करके कर्णके तेज और उत्साहका नाश करें (यही मेरा अनुरोध है)' ॥ २३ ॥

शल्य उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा मां सम्प्रभाषसे।
यच्चान्यदपि शक्ष्यामि तत् करिष्याम्यहं तव ॥ २४ ॥

शल्य बोले—राजन् ! तुम जैसा कह रहे हो, ऐसा ही करूँगा और भी (तुम्हारे हितके लिये) जो कुछ मुझसे हो सकेगा, वह सब तुम्हारे लिये करूँगा ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्त्वामन्त्र्य कौन्तेयाञ्छल्यो मद्राधिपस्तदा।
जगाम सबलः श्रीमान् दुर्योधनमरिंदम ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुदमन जनमेजय ! तदनन्तर समस्त कुन्तीकुमारोंसे विदा लेकर श्रीमान् मद्रराज शल्य अपनी सेनाके साथ दुर्योधनके यहाँ चले गये ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि शल्यगमने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें शल्यगमनविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिर और दुर्योधनके यहाँ सहायताके लिये आयी हुई सेनाओंका संक्षिप्त विवरण

वैशम्पायन उवाच

युयुधानस्ततो वीरः सात्वतानां महारथः।
महता चतुरङ्गेण बलेनागाद् युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥

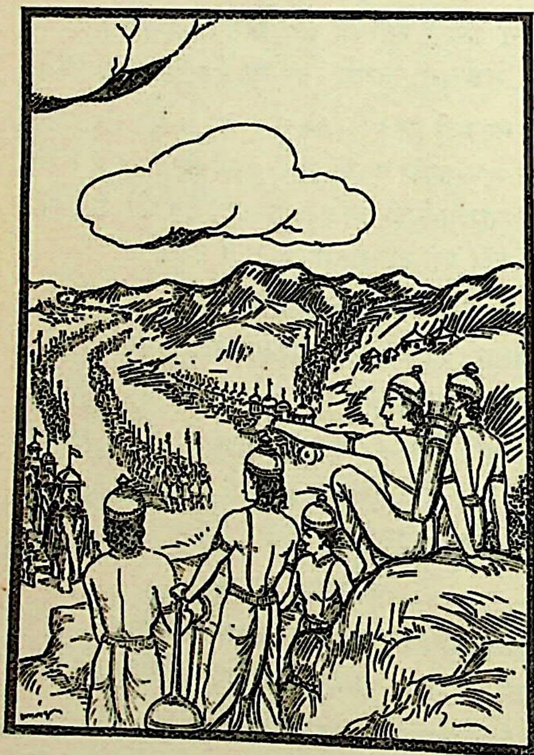
वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर सात्वतवंशके महारथी वीर युयुधान (सात्यकि) विशाल चतुरङ्गिणी सेना साथ लेकर युधिष्ठिरके पास आये ॥ १ ॥

तस्य योधा महावीर्या नानादेशसमागताः ।
नानाप्रहरणा वीराः शोभयाञ्चक्रिरे बलम् ॥ २ ॥

उनके सैनिक बड़े पराक्रमी वीर थे। विभिन्न देशोंसे उनका आगमन हुआ था। वे भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र लिये उस सेनाकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ २ ॥

परश्वधैर्भिन्दिपालैः शूलतोमरमुद्गरैः ।
परिघैर्यष्टिभिः पाशैः करवालैश्च निर्मलैः ॥ ३ ॥
खड्गकार्मुकनिर्व्यूहैः शरैश्च विविधैरपि ।
तैलधौतैः प्रकाशद्भिस्तदशोभत वै बलम् ॥ ४ ॥

फरसे, भिन्दिपाल, शूल, तोमर, मुद्गर, परिघ, यष्टि, पाश, निर्मल तलवार, खड्ग[1], धनुषसमूह तथा भाँति-भाँतिके बाण आदि अस्त्र-शस्त्र तेलमें धुले होनेके कारण चमचमा रहे थे, जिनसे वह सेना सुशोभित हो रही थी ॥ ३-४ ॥



तस्य मेघप्रकाशस्य सौवर्णैः शोभितस्य च ।
बभूव रूपं सैन्यस्य मेघस्येव सविद्युतः ॥ ५ ॥

सात्यकिकी वह सेना (हाथियोंके समूहके कारण तथा काली वर्दी पहननेसे) मेघोंके समान काली दिखायी देती थी। सैनिकोंके सुनहरे आभूषणोंसे सुशोभित हो वह ऐसी जान पड़ती थी, मानो बिजलियोंसहित मेघोंकी घटा छा रही हो ॥ ५ ॥

अक्षौहिणी तु सा सेना तदा यौधिष्ठिरं बलम् ।
प्रविश्यान्तर्दधे राजन् सागरं कुनदी यथा ॥ ६ ॥

राजन्! वह एक अक्षौहिणी सेना युधिष्ठिरकी विशाल वाहिनीमें समाकर उसी प्रकार विलीन हो गयी, जैसे कोई छोटी नदी समुद्रमें मिल गयी हो ॥ ६ ॥

तथैवाक्षौहिणीं गृह्य चेदीनामृषभो बली ।
धृष्टकेतुरुपागच्छत् पाण्डवानमितौजसः ॥ ७ ॥

इसी प्रकार महाबली चेदिराज धृष्टकेतु अपनी एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर अमित तेजस्वी पाण्डवोंके पास आये ॥ ७ ॥

मागधश्च जयत्सेनो जारासन्धिर्महाबलः ।
अक्षौहिण्यैव सैन्यस्य धर्मराजमुपागमत् ॥ ८ ॥

मागध वीर जयत्सेन और जरासंधका महाबली पुत्र सहदेव—ये दोनों एक अक्षौहिणी सेनाके साथ धर्मराज युधिष्ठिरके पास आये थे ॥ ८ ॥

तथैव पाण्ड्यो राजेन्द्र सागरानूपवासिभिः ।
वृतो बहुविधैर्योधैर्युधिष्ठिरमुपागमत् ॥ ९ ॥

राजेन्द्र! इसी प्रकार समुद्रतटवर्ती जलप्राय देशके निवासी अनेक प्रकारके सैनिकोंसे घिरे हुए पाण्ड्यनरेश युधिष्ठिरके पक्षमें पधारे थे ॥ ९ ॥

तस्य सैन्यमतीवासीत् तस्मिन् बलसमागमे ।
प्रेक्षणीयतरं राजन् सुवेषं बलवत् तदा ॥ १० ॥

राजन्! उस सैन्य-समागमके समय युधिष्ठिरकी सुन्दर वेष-भूषासे विभूषित तथा प्रबल सेना, जिसकी संख्या बहुत अधिक थी, देखने ही योग्य जान पड़ती थी ॥ १० ॥

द्रुपदस्याप्यभूत् सेना नानादेशसमागतैः ।
शोभिता पुरुषैः शूरैः पुत्रैश्चास्य महारथैः ॥ ११ ॥

द्रुपदकी सेना तो वहाँ पहलेसे ही उपस्थित थी, जो विभिन्न देशोंसे आये हुए शूरवीर पुरुषों तथा द्रुपदके महारथी पुत्रोंसे सुशोभित थी ॥ ११ ॥

तथैव राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ।
पर्वतीयैर्महीपालैः सहितः पाण्डवानियात् ॥ १२ ॥

इसी प्रकार मत्स्यनरेश सेनापति विराट भी पर्वतीय राजाओंके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये प्रस्तुत थे ॥ १२ ॥

इतश्चेतश्च पाण्डूनां समाजग्मुर्महात्मनाम् ।
अक्षौहिण्यस्तु सप्तैता विविधध्वजसंकुलाः ॥ १३ ॥
युयुत्समानाः कुरुभिः पाण्डवान् समहर्षयन् ।

महात्मा पाण्डवोंके पास इधर-उधरसे सात अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं, जो नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे व्याप्त दिखायी देती थीं। ये सब सेनाएँ कौरवोंसे युद्ध करनेकी इच्छा रखकर पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाती थीं ॥ १३½ ॥

तथैव धार्तराष्ट्रस्य हर्षं समभिवर्धयन् ॥ १४ ॥

१. 'खड्ग' दुधारी तलवारको कहते हैं।

भगदत्तो महीपालः सेनामक्षौहिणीं ददौ।
तस्य चीनैः किरातैश्च काञ्चनैरिव संवृतम् ॥ १५ ॥
बभौ बलमनाधृष्यं कर्णिकारवनं यथा।

इसी प्रकार राजा भगदत्तने दुर्योधनका हर्ष बढ़ाते हुए उसे एक अक्षौहिणी सेना प्रदान की। सुनहरे शरीरवाले चीन और किरात देशके योद्धाओंसे भरी हुई भगदत्तकी दुर्धर्ष सेना (खिले हुए) कनेरके जंगल-सी जान पड़ती थी ॥ १४-१५½ ॥

तथा भूरिश्रवाः शूरः शल्यश्च कुरुनन्दन ॥ १६ ॥
दुर्योधनमुपायातावक्षौहिण्या पृथक् पृथक्।

कुरुनन्दन! इसी प्रकार शूरवीर भूरिश्रवा तथा राजा शल्य पृथक्-पृथक् एक-एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर दुर्योधनके पास आये ॥ १६½ ॥

कृतवर्मा च हार्दिक्यो भोजान्धककुकुरैः सह ॥ १७ ॥
अक्षौहिण्यैव सेनाया दुर्योधनमुपागमत्।

हृदिकपुत्र कृतवर्मा भी भोज, अन्धक तथा कुकुरवंशी वीरोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लेकर दुर्योधनके पास आया ॥ १७½ ॥

तस्य तैः पुरुषव्याघ्रैर्वनमालाधरैर्बलम् ॥ १८ ॥
अशोभत यथा मत्तैर्वनं प्रक्रीडितैर्गजैः।

उन वनमालाधारी पुरुषसिंहोंसे कृतवर्माकी सेना उसी प्रकार सुशोभित हुई, जैसे क्रीडापरायण मतवाले हाथियोंसे कोई (विशाल) वन शोभा पा रहा हो ॥ १८½ ॥

जयद्रथमुखाश्चान्ये सिन्धुसौवीरवासिनः ॥ १९ ॥
आजग्मुः पृथिवीपालाः कम्पयन्त इवाचलान्।

जयद्रथ आदि अन्य राजा, जो सिन्धु और सौवीरदेशके निवासी थे, पर्वतोंको कँपाते हुए-से दुर्योधनके पास आये ॥

तेषामक्षौहिणी सेना बहुला विबभौ तदा ॥ २० ॥
विधूयमानो वातेन बहुरूप इवाम्बुदः।

उनकी वह एक अक्षौहिणी विशाल सेना उस समय हवासे उड़ाये जाते हुए अनेक रूपवाले मेघके समान प्रतीत होती थी ॥ २०½ ॥

सुदक्षिणश्च काम्बोजो यवनैश्च शकैस्तथा ॥ २१ ॥
उपाजगाम कौरव्यमक्षौहिण्या विशाम्पते।
तस्य सेनासमावायः शलभानामिवाबभौ ॥ २२ ॥
स च सम्प्राप्य कौरव्यं तत्रैवान्तर्दधे तदा।

राजन्! कम्बोजनरेश सुदक्षिण भी यवनों और शकोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लिये दुर्योधनके पास आया। उसका सैन्य-समूह टिड्डियोंके दल-सा जान पड़ता था॥ वह सारा सैन्य-समुदाय कौरव-सेनामें आकर विलीन हो गया॥

तथा माहिष्मतीवासी नीलो नीलायुधैः सह ॥ २३ ॥
महीपालो महावीर्यैर्दक्षिणापथवासिभिः।

इसी प्रकार माहिष्मती पुरीके निवासी राजा नील भी दक्षिण देशके रहनेवाले श्यामवर्णके शस्त्रधारी महापराक्रमी सैनिकोंके साथ दुर्योधनके पक्षमें आये ॥ २३½ ॥

आवन्त्यौ च महीपालौ महाबलसुसंवृतौ ॥ २४ ॥
अक्षौहिण्या च कौरव्यं दुर्योधनमुपागतौ।

अवन्तीदेशके दोनों राजा विन्द और अनुविन्द भी पृथक्-पृथक् एक अक्षौहिणी सेनासे घिरे हुए दुर्योधनके पास आये ॥ २४½ ॥

केकयाश्च नरव्याघ्राः सोदर्याः पञ्च पार्थिवाः ॥ २५ ॥
संहर्षयन्तः कौरव्यमक्षौहिण्या समाद्रवन्।

केकयदेशके पुरुषसिंह पाँच नरेश, जो परस्पर सगे भाई थे, दुर्योधनका हर्ष बढ़ाते हुए एक अक्षौहिणी सेनाके साथ आ पहुँचे ॥ २५½ ॥

ततस्ततस्तु सर्वेषां भूमिपानां महात्मनाम् ॥ २६ ॥
तिस्रोऽन्याः समवर्तन्त वाहिन्यो भरतर्षभ।

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर इधर-उधरसे समस्त महामना नरेशोंकी तीन अक्षौहिणी सेनाएँ और आ पहुँचीं ॥ २६½ ॥

एवमेकादशावृत्ताः सेना दुर्योधनस्य ताः ॥ २७ ॥
युयुत्समानाः कौन्तेयान् नानाध्वजसमाकुलाः।

इस प्रकार दुर्योधनके पास सब मिलाकर ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गयीं, जो भाँति-भाँतिकी ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित थीं और कुन्तीकुमारोंसे युद्ध करनेका उत्साह रखती थीं ॥ २७½ ॥

न हास्तिनपुरे राजन्नवकाशोऽभवत् तदा ॥ २८ ॥
राज्ञां स्वबलमुख्यानां प्राधान्येनापि भारत।

राजन्! दुर्योधनकी अपनी सेनाके जो प्रधान-प्रधान राजा थे, उनके भी ठहरनेके लिये हस्तिनापुरमें स्थान नहीं रह गया था ॥ २८½ ॥

ततः पञ्चनदं चैव कृत्स्नं च कुरुजाङ्गलम् ॥ २९ ॥
तथा रोहितकारण्यं मरुभूमिश्च केवला।
अहिच्छत्रं कालकूटं गङ्गाकूलं च भारत ॥ ३० ॥
वारणं वाटधानं च यामुनश्चैव पर्वतः।
एष देशः सुविस्तीर्णः प्रभूतधनधान्यवान् ॥ ३१ ॥

इसलिये भारत! पञ्चनद प्रदेश, सम्पूर्ण कुरुजाङ्गल देश, रोहितकवन (रोहतक), समस्त मरुभूमि, अहिच्छत्र, कालकूट, गङ्गातट, वारण, वाटधान तथा यामुनपर्वत—यह प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न सुविस्तृत प्रदेश कौरवोंकी सेनासे भलीभाँति घिर गया ॥

बभूव कौरवेयाणां बलेनातीव संवृतः।

तत्र सैन्यं तथा युक्तं ददर्श स पुरोहितः ॥ ३२ ॥
यः स पाञ्चालराजेन प्रेषितः कौरवान् प्रति ॥ ३३ ॥

पाञ्चालराज द्रुपदने अपने जिन पुरोहित ब्राह्मणको कौरवोंके पास भेजा था, उन्होंने वहाँ पहुँचकर उस विशाल सैन्य-जमावको देखा ॥ ३२-३३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितसैन्यदर्शने एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहितके द्वारा सैन्यदर्शनविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(संजययानपर्व)

विंशोऽध्यायः

द्रुपदके पुरोहितका कौरवसभामें भाषण

वैशम्पायन उवाच

स च कौरव्यमासाद्य द्रुपदस्य पुरोहितः ।
सत्कृतो धृतराष्ट्रेण भीष्मेण विदुरेण च ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर द्रुपदके पुरोहित कौरवनरेशके पास पहुँचकर राजा धृतराष्ट्र, भीष्म तथा विदुरजीद्वारा सम्मानित हुए ॥ १ ॥

सर्वं कौशल्यमुक्त्वाऽऽदौ पृष्ट्वा चैवमनामयम् ।
सर्वसेनाप्रणेतॄणां मध्ये वाक्यमुवाच ह ॥ २ ॥

उन्होंने पहले (अपने पक्षके लोगोंका) सारा कुशल-समाचार बताकर धृतराष्ट्र आदिके स्वास्थ्यका समाचार पूछा, फिर सम्पूर्ण सेनानायकोंके समक्ष इस प्रकार कहा— ॥ २ ॥

सर्वैर्भवद्भिर्विदितो राजधर्मः सनातनः ।
वाक्योपादानहेतोस्तु वक्ष्यामि विदिते सति ॥ ३ ॥

'आप सब लोग सनातन राजधर्मको अच्छी तरह जानते हैं । जाननेपर भी स्वयं इसलिये कुछ कह रहा हूँ कि अन्तमें कुछ आपलोगोंके मुखसे भी सुननेका अवसर मिले ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च सुतावेकस्य विश्रुतौ ।
तयोः समानं द्रविणं पैतृकं नात्र संशयः ॥ ४ ॥
धृतराष्ट्रस्य ये पुत्राः प्राप्तं तैः पैतृकं वसु ।
पाण्डुपुत्राः कथं नाम न प्राप्ताः पैतृकं वसु ॥ ५ ॥

'राजा धृतराष्ट्र तथा पाण्डु दोनों एक ही पिताके सुविख्यात पुत्र हैं । पैतृक सम्पत्तिमें दोनोंका समान अधिकार है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है । धृतराष्ट्रके जो पुत्र हैं, उन्होंने तो पैतृक धन प्राप्त कर लिया, परंतु पाण्डवोंको वह पैतृक सम्पत्ति क्यों न प्राप्त हो ? ॥ ४-५ ॥

एवंगते पाण्डवेयैर्विदितं वः पुरा यथा ।
न प्राप्तं पैतृकं द्रव्यं धृतराष्ट्रेण संवृतम् ॥ ६ ॥

'धृतराष्ट्रने सारा धन अपने अधिकारमें कर लिया; इसलिये पाण्डुपुत्रोंको पैतृक धन नहीं मिला है, यह बात आपलोग पहलेसे ही जानते हैं ॥ ६ ॥

प्राणान्तिकैरप्युपायैः प्रयतद्भिरनेकशः ।
शेषवन्तो न शकिता नेतुं वै यमसादनम् ॥

'उसके बाद दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र-पुत्रोंने प्राणनाशक उपायोंद्वारा अनेक बार पाण्डवोंको नष्ट करनेका प्रयत्न किया, परंतु इनकी आयु शेष थी, इसलिये वे इन्हें यमलोक नहीं पहुँचा सके ॥ ७ ॥

पुनश्च वर्धितं राज्यं स्वबलेन महात्मभिः ।
छद्मनापहृतं क्षुद्रैर्धार्तराष्ट्रैः ससौबलैः ॥

'फिर महात्मा पाण्डवोंने अपने बाहुबलसे नूतन राज्यकी प्रतिष्ठा करके उसे बढ़ा लिया; परंतु शकुनिसहित क्षुद्र धृतराष्ट्रपुत्रोंने जूएमें छल-कपटका आश्रय ले उसका अपहरण कर लिया ॥ ८ ॥

तदप्यनुमतं कर्म यथायुक्तमनेन वै ।
वासिताश्च महारण्ये वर्षाणीह त्रयोदश ॥

'तत्पश्चात् धृतराष्ट्रने भी उस द्यूतकर्मका अनुमोदन किया और उन्होंने जैसा आदेश दिया, उसके अनुसार पाण्डव महान् वनमें तेरह वर्षोंतक*निवास करनेके लिये विवश हुए ॥ ९ ॥

सभायां क्लेशितैर्वीरैः सहभार्यैस्तथा भृशम् ।
अरण्ये विविधाः क्लेशाः सम्प्राप्तास्तैः सुदारुणाः ॥

'पत्नीसहित वीर पाण्डवोंको कौरव-सभामें भारी क्लेश पहुँचाया गया तथा वनमें भी उन्हें नाना प्रकारके भयंकर कष्ट भोगने पड़े ॥ १० ॥

तथा विराटनगरे योन्यन्तरगतैरिव ।
प्राप्तः परमसंक्लेशो यथा पापैर्महात्मभिः ॥

'इतना ही नहीं, दूसरी योनिमें पड़े हुए जीवोंकी तरह विराटनगरमें भी इन महात्माओंको महान् कष्ट सहन करना पड़ा है ॥ ११ ॥

* बारह वर्षका वनवास एवं एक वर्षका अज्ञातवास मिलाकर तेरह वर्ष समझने चाहिये ।

ते सर्वं पृष्ठतः कृत्वा तत् सर्वं पूर्वकिल्बिषम् ।
सामैव कुरुभिः सार्धमिच्छन्ति कुरुपुङ्गवाः ॥ १२ ॥

'पहलेके किये हुए इन सब अत्याचारोंको भुलाकर वे कुरुश्रेष्ठ पाण्डव अब भी इन कौरवोंके साथ मेल-जोल ही रखना चाहते हैं ॥ १२ ॥

तेषां च वृत्तमाज्ञाय वृत्तं दुर्योधनस्य च ।
अनुनेतुमिहार्हन्ति धार्तराष्ट्रं सुहृज्जनाः ॥ १३ ॥

'पाण्डवोंके आचार-व्यवहारको तथा दुर्योधनके बर्तावको जानकर (उभयपक्षका हित चाहनेवाले) सुहृदोंका यह कर्तव्य है कि वे दुर्योधनको समझावें ॥ १३ ॥

न हि ते विग्रहं वीराः कुर्वन्ति कुरुभिः सह ।
अविनाशेन लोकस्य काङ्क्षन्ते पाण्डवाः स्वकम् ॥ १४ ॥

'वीर पाण्डव कौरवोंके साथ युद्ध नहीं कर रहे हैं, वे जनसंहार किये बिना ही अपना राज्य पाना चाहते हैं ॥ १४॥

यश्चापि धार्तराष्ट्रस्य हेतुः स्याद् विग्रहं प्रति ।
स च हेतुर्न मन्तव्यो बलीयांसस्तथा हि ते ॥ १५ ॥

'दुर्योधन जिस हेतुको सामने रखकर युद्धके लिये उत्सुक है, उसे यथार्थ नहीं मानना चाहिये; क्योंकि पाण्डव इन कौरवोंसे अधिक बलिष्ठ हैं ॥ १५ ॥

अक्षौहिण्यश्च सप्तैव धर्मपुत्रस्य संगताः ।
युयुत्समानाः कुरुभिः प्रतीक्षन्तेऽस्य शासनम् ॥ १६ ॥

'धर्मपुत्र युधिष्ठिरके पास सात अक्षौहिणी सेनाएँ भी एकत्र हो गयी हैं, जो कौरवोंके साथ युद्धकी अभिलाषा रखकर उनके आदेशभरकी प्रतीक्षा कर रही हैं ॥ १६ ॥

अपरे पुरुषव्याघ्राः सहस्राक्षौहिणीसमाः ।
सात्यकिर्भीमसेनश्च यमौ च सुमहाबलौ ॥ १७ ॥

'इसके सिवा सात्यकि, भीमसेन तथा महाबली नकुल-सहदेव आदि जो दूसरे पुरुषसिंह वीर हैं, वे अकेले हजार अक्षौहिणी सेनाओंके समान हैं ॥ १७ ॥

एकादशैताः पृतना एकतश्च समागताः ।
एकतश्च महाबाहुर्बहुरूपी धनंजयः ॥ १८ ॥

'ये कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एक ओरसे आवें और दूसरी ओर केवल अनेक रूपधारी[1] महाबाहु अर्जुन हों, तो वे अकेले ही इन सबके लिये पर्याप्त हैं ॥ १८ ॥

यथा किरीटी सर्वाभ्यः सेनाभ्यो व्यतिरिच्यते ।
एवमेव महाबाहुर्वासुदेवो महाद्युतिः ॥ १९ ॥

'जैसे किरीटधारी अर्जुन अकेले ही इन सब सेनाओंसे बढ़कर हैं, उसी प्रकार महातेजस्वी महाबाहु श्रीकृष्ण भी हैं ॥ १९ ॥

बहुलत्वं च सेनानां विक्रमं च किरीटिनः ।
बुद्धिमत्त्वं च कृष्णस्य बुद्ध्वा युध्येत को नरः ॥ २० ॥

'युधिष्ठिरकी सेनाओंके बाहुल्य, किरीटधारी अर्जुनके पराक्रम तथा भगवान् श्रीकृष्णकी बुद्धिमत्ताको जान लेनेपर कौन मनुष्य पाण्डवोंके साथ युद्ध कर सकता है ? ॥ २० ॥

ते भवन्तो यथाधर्मं यथासमयमेव च ।
प्रयच्छन्तु प्रदातव्यं मा वः कालोऽत्यगादयम् ॥ २१ ॥

'अतः आपलोग अपने धर्म और पहले की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार पाण्डवोंको उनका आधा राज्य, जो उन्हें मिलना ही चाहिये, दे दीजिये । कहीं ऐसा न हो कि यह सुन्दर अवसर आपलोगोंके हाथसे निकल जाय' ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि पुरोहितयाने विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें पुरोहितकी यात्राविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

भीष्मके द्वारा द्रुपदके पुरोहितकी बातका समर्थन करते हुए अर्जुनकी प्रशंसा करना, इसके विरुद्ध कर्णके आक्षेपपूर्ण वचन तथा धृतराष्ट्रद्वारा भीष्मकी बातका समर्थन करते हुए दूतको सम्मानित करके विदा करना

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा प्रज्ञावृद्धो महाद्युतिः ।
सम्पूज्यैनं यथाकालं भीष्मो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पुरोहितकी

१. यहाँ अनेक रूपधारी शब्दका यह तात्पर्य है कि अर्जुन इतने वेगसे युद्ध करते थे कि वे रणभूमिमें अनेक-से दिखायी देते थे। द्रोणपर्वके ८९वें अध्यायमें युद्धके प्रसंगमें ऐसा वर्णन भी मिलता है—

अयं पार्थः कुतः पार्थ एष पार्थ इति भ्रमो । तव सैन्येषु योधानां पार्थभूतमिवाभवत् ॥
अन्योन्यमपि चाजघ्नुरात्मानमपि चापरे । पार्थभूतममन्यन्त जगत् कालेन मोहिताः ॥

महाराज ! आपके सैनिकोंको सब ओर अर्जुन-ही-अर्जुन दिखायी देते थे । वे बार-बार 'अर्जुन यह है, अर्जुन कहाँ है ? अर्जुन वह खड़ा है' इस प्रकार चिल्ला उठते थे। इस भ्रममें पड़कर उनमेंसे कोई-कोई तो आपसमें और कोई अपनेपर ही प्रहार कर बैठते थे । उस समय कालके वशीभूत हो वे सारे संसारको अर्जुनमय ही देखने लगे थे ।

यह बात सुनकर बुद्धिमें बढ़े-चढ़े महातेजस्वी भीष्मने समय-के अनुरूप उनकी पूजा करके इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

दिष्ट्या कुशलिनः सर्वे सह दामोदरेण ते ।
दिष्ट्या सहायवन्तश्च दिष्ट्या धर्मे च ते रताः ॥ २ ॥

'ब्रह्मन् ! सब पाण्डव भगवान् श्रीकृष्णके साथ सकुशल हैं, यह सौभाग्यकी बात है। उनके बहुतसे सहायक हैं और वे धर्ममें भी तत्पर हैं; यह और भी सौभाग्य तथा हर्षका विषय है ॥ २ ॥

दिष्ट्या च संधिकामास्ते भ्रातरः कुरुनन्दनाः ।
दिष्ट्या न युद्धमनसः पाण्डवाः सह बान्धवैः ॥ ३ ॥

'कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले पाँचों भाई पाण्डव सन्धिकी इच्छा रखते हैं, यह सौभाग्यका विषय है। वे अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ युद्धमें मन नहीं लगा रहे हैं, यह भी सौभाग्यकी बात है ॥ ३ ॥

भवता सत्यमुक्तं तु सर्वमेतन्न संशयः ।
अतितीक्ष्णं तु ते वाक्यं ब्राह्मण्यादिति मे मतिः ॥ ४ ॥

'आपने जितनी बातें कही हैं, वे सब सत्य हैं; इसमें संशय नहीं है। परंतु आपकी बातें बड़ी तीखी हैं। यह तीक्ष्णता ब्राह्मण-स्वभावके कारण ही है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

असंशयं क्लेशितास्ते वने चेह च पाण्डवाः ।
प्राप्ताश्च धर्मतः सर्वं पितुर्धनमसंशयम् ॥ ५ ॥

'निःसंदेह पाण्डवोंको वनमें और यहाँ भी कष्ट उठाना पड़ा है। उन्हें धर्मतः अपनी सारी पैतृक सम्पत्ति पानेका अधिकार प्राप्त हो चुका है; इसमें भी कोई संशय नहीं है।५।

किरीटी बलवान् पार्थः कृतास्त्रश्च महारथः ।
को हि पाण्डुसुतं युद्धे विषहेत धनंजयम् ॥ ६ ॥

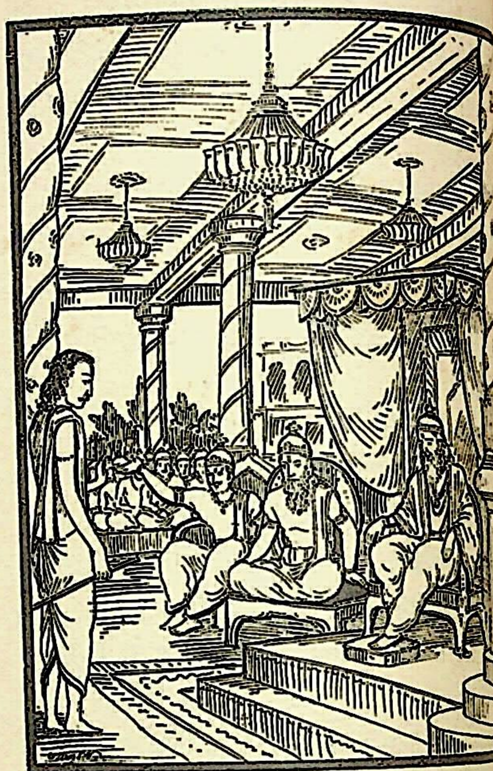
'कुन्तीपुत्र किरीटधारी महारथी अर्जुन बलवान् तथा अस्त्रविद्यामें निपुण हैं। कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें पाण्डुपुत्र अर्जुनका वेग सह सके ? ॥ ६ ॥

अपि वज्रधरः साक्षात् किमुतान्ये धनुर्भृतः ।
त्रयाणामपि लोकानां समर्थ इति मे मतिः ॥ ७ ॥

'साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी युद्धमें उनका सामना नहीं कर सकते; फिर दूसरे धनुर्धरोंकी बात ही क्या है ? मेरा तो ऐसा विश्वास है कि अर्जुन तीनों लोकोंका सामना करनेमें समर्थ हैं' ॥ ७ ॥

भीष्मे ब्रुवति तद् वाक्यं धृष्टमाक्षिप्य मन्युना ।
दुर्योधनं समालोक्य कर्णो वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

भीष्मजी इस प्रकार कह ही रहे थे कि कर्णने दुर्योधन-की ओर देखकर क्रोधसे धृष्टतापूर्वक आक्षेप करते हुए (भीष्मजीके कथनकी अवहेलना करके) यह बात कही—



न तत्राविदितं ब्रह्मँल्लोके भूतेन केनचित् ।
पुनरुक्तेन किं तेन भाषितेन पुनः पुनः ॥

'ब्रह्मन् ! इस लोकमें जो घटना बीत चुकी है, किसीको अज्ञात नहीं है, उसको दोहरानेसे या बारंबार भाषण देनेसे क्या लाभ है ? ॥ ९ ॥

दुर्योधनार्थे शकुनिर्द्यूते निर्जितवान् पुरा ।
समयेन गतोऽरण्यं पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ॥

'पहलेकी बात है, शकुनिने दुर्योधनके लिये द्यूत युधिष्ठिरको द्यूत-क्रीडामें परास्त किया था और वे जूएकी शर्तके अनुसार वनमें गये थे ॥ १० ॥

स तं समयमाश्रित्य राज्यं नेच्छति पैतृकम् ।
बलमाश्रित्य मत्स्यानां पञ्चालानां च मूर्खवत् ॥

'युधिष्ठिर उस शर्तका पालन करके अपना पैतृक राज्य चाहते हों, ऐसी बात नहीं है। वे तो मूर्खोंकी भाँति मत्स्य और पाञ्चाल देशकी सेनाके भरोसे राज्य चाहते हैं ॥ ११ ॥

दुर्योधनो भयाद् विद्वन् न दद्यात् पादमन्ततः ।
धर्मतस्तु महीं कृत्स्नां प्रदद्याच्छत्रवेऽपि च ॥

'विद्वन् ! दुर्योधन किसीके भयसे अपने राज्यका कौन कहे चौथाई भाग भी नहीं देंगे; परंतु धर्मसे तो वे शत्रुको भी समूची पृथ्वीतक दे सकते हैं।

यदि काङ्क्षन्ति ते राज्यं पितृपैतामहं पुनः।
यथाप्रतिज्ञं कालं तं चरन्तु वनमाश्रिताः ॥ १३ ॥

'यदि पाण्डव अपने बाप-दादोंका राज्य लेना चाहते हैं तो पूर्व-प्रतिज्ञाके अनुसार उतने समयतक पुनः वनमें निवास करें ॥ १३ ॥

ततो दुर्योधनस्याङ्के वर्तन्तामकुतोभयाः।
अधार्मिकीं तु मा बुद्धिं मौर्ख्यात् कुर्वन्तु केवलात् ॥ १४॥

'तत्पश्चात् वे दुर्योधनके आश्रयमें निर्भय होकर रह सकते हैं। केवल मूर्खतावश वे अपनी बुद्धिको अधर्मपरायण न बनावें। १४।

अथ ते धर्ममुत्सृज्य युद्धमिच्छन्ति पाण्डवाः।
आसाद्येमान् कुरुश्रेष्ठान् स्मरिष्यन्ति वचो मम ॥ १५ ॥

'यदि पाण्डव धर्मको त्यागकर युद्ध ही करना चाहते हैं तो इन कुरुश्रेष्ठ वीरोंसे भिड़नेपर मेरी बात याद करेंगे' ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच

किं नु राधेय वाचा ते कर्म तत् स्मर्तुमर्हसि।
एक एव यदा पार्थः षड्रथाञ्जितवान् युधि ॥ १६ ॥

भीष्मजी बोले—राधानन्दन ! तू जो इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें बनाता है, इससे क्या होगा ? तुझे पार्थका वह पराक्रम याद करना चाहिये, जब कि विराटनगरके युद्धमें उन्होंने अकेले ही सम्पूर्ण सेनासहित छः अतिरथियोंको जीत लिया था ॥ १६ ॥

बहुशो जीयमानस्य कर्म दृष्टं तदैव ते।
न चेदेवं करिष्यामो यदयं ब्राह्मणोऽब्रवीत्।
ध्रुवं युधि हतास्तेन भक्षयिष्याम पांसुकान् ॥ १७ ॥

तेरा पराक्रम तो उसी समय देखा गया था, जब कि अनेक बार उनके सामने जाकर तुझे परास्त होना पड़ा। इन ब्राह्मणदेवताने जो कुछ कहा है, यदि हमलोग तदनुसार कार्य नहीं करेंगे तो यह निश्चय है कि युद्धमें पाण्डुनन्दन अर्जुनके हाथसे आहत होकर हमें धूल खानी पड़ेगी ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्ततो भीष्ममनुमान्य प्रसाद्य च।
अवभर्त्स्य च राधेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रने कर्णको डाँटकर भीष्मजीका सम्मान किया और उन्हें राजी करके इस प्रकार कहा— ॥ १८ ॥

अस्मद्धितं वाक्यमिदं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत्।
पाण्डवानां हितं चैव सर्वस्य जगतस्तथा ॥ १९ ॥

'शान्तनुनन्दन भीष्मने हमारे लिये यह हितकर बात कही है। इसमें पाण्डवोंका तथा सम्पूर्ण जगत्का भी हित है ॥ १९ ॥

चिन्तयित्वा तु पार्थेभ्यः प्रेषयिष्यामि संजयम्।
स भवान् प्रति यात्वद्य पाण्डवानेव मा चिरम् ॥ २० ॥

'ब्रह्मन् ! अब मैं कुछ सोच-विचारकर पाण्डवोंके पास संजयको भेजूँगा। आप पुनः पाण्डवोंके पास ही पधारें, विलम्ब न करें' ॥ २० ॥

स तं सत्कृत्य कौरव्यः प्रेषयामास पाण्डवान्।
सभामध्ये समाहूय संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २१ ॥

तदनन्तर राजा धृतराष्ट्रने उन ब्राह्मणका सत्कार करके उन्हें पाण्डवोंके पास वापस भेजा और सभामें संजयको बुलाकर यह बात कही ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि पुरोहितयाने एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें पुरोहितकी यात्राविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका संजयसे पाण्डवोंके प्रभाव और प्रतिभाका वर्णन करते हुए उसे संदेश देकर पाण्डवोंके पास भेजना

धृतराष्ट्र उवाच

प्राप्तानाहुः संजय पाण्डुपुत्रा-
नुपप्लव्ये तान् विजानीहि गत्वा।
अजातशत्रुं च सभाजयेथा
दिष्ट्याऽऽनद्य स्थानमुपस्थितस्त्वम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! लोग कहते हैं कि पाण्डव उपप्लव्य नामक स्थानमें आ गये हैं। तुम वहाँ जाकर उनका समाचार जानो। अजातशत्रु युधिष्ठिरसे आदरपूर्वक मिलकर कहना, सौभाग्यकी बात है कि आप सन्नद्ध होकर अपने योग्य स्थानपर आ पहुँचे हैं ॥ १ ॥

सर्वान् वदेः संजय स्वस्तिमन्तः
कृच्छ्रं वासमतदर्हान् निरुष्य।
तेषां शान्तिर्विद्यतेऽस्माशु शीघ्रं
मिथ्यापेतानामुपकारिणां सताम् ॥ २ ॥

संजय ! सब पाण्डवोंसे कहना कि हमलोग सकुशल हैं। पाण्डवलोग मिथ्यासे दूर रहनेवाले, परोपकारी तथा साधुपुरुष हैं। वे वनवासका कष्ट भोगनेयोग्य नहीं थे, तो भी उन्होंने वनवासका नियम पूरा कर लिया है। इतनेपर भी हमारे ऊपर उनका क्रोध शीघ्र ही शान्त हो गया है ॥ २ ॥

नाहं क्वचित् संजय पाण्डवानां
मिथ्यावृत्तिं कांचन जात्वपश्यम्।
सर्वां श्रियं ह्यात्मवीर्येण लब्धां
पर्याकार्षुः पाण्डवा मह्यमेव ॥ ३ ॥

संजय ! मैंने कभी कहीं पाण्डवोंमें थोड़ी-सी भी मिथ्या वृत्ति नहीं देखी है। पाण्डवोंने अपने पराक्रमसे प्राप्त हुई सारी सम्पत्ति मेरे ही अधीन कर दी थी ॥ ३ ॥

दोषं ह्येषां नाध्यगच्छं परीच्छन्
नित्यं कंचिद् येन गर्हेय पार्थान्।
धर्मार्थाभ्यां कर्म कुर्वन्ति नित्यं
सुखप्रिये नानुरुध्यन्ति कामात् ॥ ४ ॥

मैंने सदा ढूँढ़ते रहनेपर भी कुन्तीपुत्रोंका कोई ऐसा दोष नहीं देखा है, जिससे उनकी निन्दा करूँ। वे सदा धर्म और अर्थके लिये ही कर्म करते हैं, कामनावश मानसिक प्रीति और स्त्री-पुत्रादि प्रिय वस्तुओंमें नहीं फँसते हैं—काम-भोगमें आसक्त होकर धर्मका परित्याग नहीं करते हैं ॥ ४ ॥

धर्मं शीतं क्षुत्पिपासे तथैव
निद्रां तन्द्रीं क्रोधहर्षौ प्रमादम्।
धृत्या चैव प्रज्ञया चाभिभूय
धर्मार्थयोगात् प्रयतन्ति पार्थाः ॥ ५ ॥

पाण्डव घाम-शीत, भूख-प्यास, निद्रा-तन्द्रा, क्रोध-हर्ष तथा प्रमादको धैर्य एवं विवेकपूर्ण बुद्धिके द्वारा जीतकर धर्म और अर्थके लिये ही प्रयत्नशील बने रहते हैं ॥ ५ ॥

त्यजन्ति मित्रेषु धनानि काले
न संवासाज्जीर्यति तेषु मैत्री।
यथार्हमानार्थकरा हि पार्था-
स्तेषां द्वेष्टा नास्त्याजमीढस्य पक्षे॥ ६ ॥
अन्यत्र पापाद् विषमान्मन्दबुद्धे-
र्दुर्योधनात् क्षुद्रतराच्च कर्णात्।
(पुत्रो मह्यं मृत्युवशं जगाम
दुर्योधनः संजय रागबुद्धिः।
भागं हर्तुं घटते मन्दबुद्धि-
र्महात्मनां संजय दीप्ततेजसाम्॥)
तेषां हीमौ हीनसुखप्रियाणां
महात्मनां संजनयतो हि तेजः ॥ ७ ॥

वे समय पड़नेपर मित्रोंको उनकी सहायताके लिये धन देते हैं। दीर्घकालिक प्रवाससे भी उनकी मैत्री क्षीण नहीं होती है। कुन्तीके पुत्र सबका यथायोग्य सत्कार करनेवाले हैं। अजमीढवंशी हम कौरवोंके पक्षमें पापी, बेईमान तथा मन्दबुद्धि दुर्योधन एवं अत्यन्त क्षुद्र स्वभाववाले कर्णको छोड़कर दूसरा कोई भी उनसे द्वेष रखनेवाला नहीं है। संजय! मेरा पुत्र दुर्योधन कालके अधीन हो गया है; क्योंकि उसकी बुद्धि रागसे दूषित है। वह मूर्ख अत्यन्त तेजस्वी महात्मा पाण्डवोंके स्वत्वको दबा लेनेकी चेष्टा कर रहा है। केवल दुर्योधन और कर्ण ही सुख और प्रियजनोंसे बिछुड़े हुए महात्मा पाण्डवोंके मनमें क्रोध उत्पन्न करते रहते हैं ॥ ६-७ ॥

उत्थानवीर्यः सुखमेधमानो
दुर्योधनः सुकृतं मन्यते तत्।
तेषां भागं यच्च मन्येत बालः
शक्यं हर्तुं जीवतां पाण्डवानाम्॥ ८ ॥

दुर्योधन आरम्भमें ही पराक्रम दिखानेवाला है, (अन्ततक उसे निभा नहीं सकता;) क्योंकि वह सुखमें ही पला-पोसा हुआ है। वह इतना मूर्ख है कि पाण्डवोंके जीते-जी उनका भाग हर लेना सरल समझता है। इतना ही नहीं, वह इस कुकर्मको उत्तम कर्म भी मानने लगा है ॥ ८ ॥

यस्यार्जुनः पदवीं केशवश्च
वृकोदरः सात्यकोऽजातशत्रोः।
माद्रीपुत्रौ सृंजयाश्चापि यान्ति
पुरा युद्धात् साधु तस्य प्रदानम्॥ ९ ॥

अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन, सात्यकि, नकुल, सहदेव और सम्पूर्ण सृञ्जयवंशी वीर जिनके पीछे चलते हैं, उन युधिष्ठिरको युद्धके पहले ही उनका राज्यभाग दे देना भलाई है ॥ ९ ॥

स ह्येवैकः पृथिवीं सव्यसाची
गाण्डीवधन्वा प्रणुदेद् रथस्थः।
तथा जिष्णुः केशवोऽप्यप्रधृष्यो
लोकत्रयस्याधिपतिर्महात्मा ॥ १० ॥
तिष्ठेत कस्तस्य मर्त्यः पुरस्ताद्
यः सर्वलोकेषु वरेण्य एकः।
पर्जन्यघोषान् प्रवपञ्छरौघान्
पतङ्गसङ्घानिव शीघ्रवेगान् ॥ ११ ॥

गाण्डीवधारी सव्यसाची अर्जुन रथमें बैठकर अकेले ही सारी पृथ्वीको जीत सकते हैं। इसी प्रकार विजयशील एवं दुर्धर्ष महात्मा श्रीकृष्ण भी तीनों लोकोंको जीतकर उनके अधिपति हो सकते हैं। जो समस्त लोकोंमें एकमात्र श्रेष्ठ वीर हैं, जो मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर शब्द करनेवाले तथा टिड्डियोंके दलकी भाँति तीव्र वेगसे चलनेवाले बाण-समूहोंकी वर्षा करते हैं, उन वीरवर अर्जुनके सामने कौन मनुष्य ठहर सकता है ? ॥ १०-११ ॥

दिशं ह्युदीचीमपि चोत्तरान् कुरून्
गाण्डीवधन्वैकरथो जिगाय ।
धनं चैषामाहरत् सव्यसाची
सेनानुगान् द्रविडांश्चैव चक्रे ॥ १२ ॥

गाण्डीव धनुष धारण करके एकमात्र रथपर आरूढ़ हो सव्यसाची अर्जुनने न केवल उत्तर दिशापर विजय पायी थी, अपितु उत्तर कुरुदेशको भी जीत लिया था और उन सबकी धन-सम्पत्ति जीतकर ले आये थे। उन्होंने द्रविडोंको भी जीतकर अपनी सेनाका अनुगामी बनाया था ॥ १२ ॥

यश्चैव देवान् खाण्डवे सव्यसाची
गाण्डीवधन्वा प्रजिगाय सेन्द्रान् ।
उपाहरत् पाण्डवो जातवेदसे
यशो मानं वर्धयन् पाण्डवानाम् ॥ १३ ॥

गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले पाण्डुपुत्र सव्यसाची अर्जुन वे ही हैं, जिन्होंने खाण्डववनमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंपर विजय पायी थी और पाण्डवोंके यश तथा सम्मानकी वृद्धि करते हुए अग्निदेवको वह वन उपहारके रूपमें अर्पित किया था॥

गदाभृतां नास्ति समोऽत्र भीमा-
द्धस्त्यारोहो नास्ति समश्च तस्य ।
रथेऽर्जुनादाहुरहीनमेनं
बाह्वोर्बलेनायुतनागवीर्यम् ॥ १४ ॥

गदाधारियोंमें इस भूतलपर भीमसेनके समान दूसरा कोई नहीं है और न उनके-जैसा कोई हाथीसवार ही है। रथमें बैठकर युद्ध करनेकी कलामें भी वे अर्जुनसे कम नहीं बताये जाते हैं और बाहुबलमें तो वे दस हजार हाथियोंके समान शक्तिशाली हैं ॥ १४ ॥

सुशिक्षितः कृतवैरस्तरस्वी
दहेत् क्षुद्रांस्तरसा धार्तराष्ट्रान् ।
सदात्यमर्षी न बलात् स शक्यो
युद्धे जेतुं वासवेनापि साक्षात् ॥ १५ ॥

अस्त्र-विद्यामें उन्हें अच्छी शिक्षा मिली है। वे बड़े वेगशाली वीर हैं। उनके साथ मेरे पुत्रोंने वैर ठान रक्खा है और वे सदा अत्यन्त अमर्षमें भरे रहते हैं; अतः यदि युद्ध हुआ तो भीमसेन मेरे क्षुद्र स्वभाववाले पुत्रोंको वेगपूर्वक (अपनी कोपाग्निसे) जलाकर भस्म कर देंगे। साक्षात् इन्द्र भी उन्हें युद्धमें बलपूर्वक परास्त नहीं कर सकते ॥ १५ ॥

सुचेतसौ बलिनौ शीघ्रहस्तौ
सुशिक्षितौ भ्रातरौ फाल्गुनेन ।
श्येनौ यथा पक्षिपूगान् रुजन्तौ
माद्रीपुत्रौ शेषयेतां न शत्रून् ॥ १६ ॥

माद्रीनन्दन नकुल और सहदेव भी शुद्धचित्त और बलवान् हैं। अस्त्र-संचालनमें उनके हाथोंकी फुर्ती देखने ही योग्य है। स्वयं अर्जुनने अपने उन दोनों भाइयोंको युद्धकी अच्छी शिक्षा दी है। जैसे दो बाज पक्षियोंके समुदायको (सर्वथा) नष्ट कर देते हैं। उसी प्रकार वे दोनों भाई शत्रुओंसे भिड़कर उन्हें जीवित नहीं छोड़ सकते ॥ १६ ॥

एतद् बलं पूर्णमस्माकमेवं
यत् सत्यं तान् प्राप्य नास्तीति मन्ये ।
तेषां मध्ये वर्तमानस्तरस्वी
धृष्टद्युम्नः पाण्डवानामिहैकः ॥ १७ ॥
सहामात्यः सोमकानां प्रवर्हः
संत्यक्तात्मा पाण्डवार्थे श्रुतो मे ।
अजातशत्रुं प्रसहेत कोऽन्यो
येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः ॥ १८ ॥

यह ठीक है कि हमारी सेना सब प्रकारसे परिपूर्ण है तथापि मेरा यह विश्वास है कि यह पाण्डवोंका सामना पड़नेपर नहींके बराबर है। पाण्डवोंके पक्षमें धृष्टद्युम्न नामसे प्रसिद्ध एक बलवान् योद्धा है, जो सोमकवंशका श्रेष्ठ राजकुमार है। मैंने सुना है, उसने पाण्डवोंके लिये मन्त्रियोंसहित अपने शरीरको निछावर कर दिया है। जिन अजातशत्रु युधिष्ठिरके अगुआ अथवा नेता वृष्णिवंशके सिंह भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उनका वेग दूसरा कौन सह सकता है ? ॥ १७-१८ ॥

सहोषितश्चरितार्थो वयःस्थो
मात्स्येयानामधिपो वै विराटः ।
स वै सपुत्रः पाण्डवार्थे च शश्वद्
युधिष्ठिरं भक्त इति श्रुतं मे ॥ १९ ॥

मत्स्यदेशके राजा विराट भी अपने पुत्रोंके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये सदा उद्यत रहते हैं। मैंने सुना है कि वे युधिष्ठिरके बड़े भक्त हैं। कारण यह है कि अज्ञातवासके समय वे युधिष्ठिरके साथ एक वर्ष रहे हैं और युधिष्ठिरके द्वारा उनके गोधनकी रक्षा हुई है। अवस्थामें वृद्ध होनेपर भी वे युद्धमें नौजवान-से जान पड़ते हैं ॥ १९ ॥

अवरुद्धा रथिनः केकयेभ्यो
महेष्वासा भ्रातरः पञ्च सन्ति ।
केकयेभ्यो राज्यमाकाङ्क्षमाणा
युद्धार्थिनश्चानुवसन्ति पार्थान् ॥ २० ॥

केकयदेशसे बाहर निकाले हुए पाँच भाई केकयराजकुमार महान् धनुर्धर एवं रथी वीर हैं। वे पाण्डवोंके सहयोगसे केकयदेशके राजाओंसे पुनः अपना राज्य लेना चाहते हैं, इसलिये उनकी ओरसे युद्ध करनेकी इच्छा रखकर उन्हींके साथ रह रहे हैं ॥ २० ॥

सर्वांश्च वीरान् पृथिवीपतीनां
समागतान् पाण्डवार्थे निविष्टान् ।

शूरानहं भक्तिमतः शृणोमि
प्रीत्या युक्तान् संस्थितान् धर्मराजम् ॥ २१ ॥

मैं यह भी सुनता हूँ कि राजाओंमें जितने वीर हैं, वे सब पाण्डवोंकी सहायताके लिये आकर उनकी छावनीमें रहते हैं। वे सबके सब शौर्यसम्पन्न, युधिष्ठिरके प्रति भक्ति रखनेवाले, प्रसन्नचित्त एवं धर्मराजके आश्रित हैं ॥ २१ ॥

गिर्याश्रया दुर्गनिवासिनश्च
योधाः पृथिव्यां कुलजातिशुद्धाः ।
म्लेच्छाश्च नानायुधवीर्यवन्तः
समागताः पाण्डवार्थे निविष्टाः ॥ २२ ॥

पर्वतोंपर रहनेवाले, दुर्गम भूमिमें निवास करनेवाले एवं समतल भूमिके निवासी योद्धा, जो कुल और जातिकी दृष्टिसे बहुत शुद्ध हैं, वे तथा म्लेच्छ भी नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र एवं बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हैं और उनके शिविरमें निवास करते हैं ॥ २२ ॥

पाण्ड्यश्च राजा समितीन्द्रकल्पो
योधप्रवीरैर्बहुभिः समेतः ।
समागतः पाण्डवार्थे महात्मा
लोकप्रवीरोऽप्रतिवीर्यतेजाः ॥ २३ ॥

पाण्ड्यदेशके महामना राजा, जो संसारके सुविख्यात वीर, अनुपम पराक्रम और तेजसे सम्पन्न तथा युद्धमें देवराज इन्द्रके समान हैं, पाण्डवोंकी सहायताके लिये बहुत-से प्रमुख योद्धाओंके साथ पधारे हैं ॥ २३ ॥

अस्त्रं द्रोणादर्जुनाद् वासुदेवात्
कृपाद् भीष्माद् येन वृतं शृणोमि ।
यं तं कार्ष्णिप्रतिममाहुरेकं
स सात्यकिः पाण्डवार्थे निविष्टः ॥ २४ ॥

जिसने द्रोणाचार्य, अर्जुन, श्रीकृष्ण, कृपाचार्य तथा भीष्मसे भी अस्त्रविद्या सीखी है तथा जिस एकमात्र वीरको श्रीकृष्णपुत्र प्रद्युम्नके समान पराक्रमी बताया जाता है, वह सात्यकि भी, सुनता हूँ, पाण्डवोंकी सहायताके लिये आकर टिका हुआ है ॥ २४ ॥

उपाश्रिताश्चेदिकरूषकाश्च
सर्वोद्योगैर्भूमिपालाः समेताः ।
तेषां मध्ये सूर्यमिवातपन्तं
श्रिया वृतं चेदिपतिं ज्वलन्तम् ॥ २५ ॥
अस्तम्भनीयं युधि मन्यमानो
ज्यां कर्षतां श्रेष्ठतमं पृथिव्याम् ।
सर्वोत्साहं क्षत्रियाणां निहत्य
प्रसह्य कृष्णस्तरसा सम्ममर्द ॥ २६ ॥

(युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें चेदि और करूषदेशके भूपाल सब प्रकारकी तैयारीसे संगठित होकर आये थे। उन सबके बीचमें चेदिराज शिशुपाल अपनी दिव्य शोभासे तपते हुए सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहा था। युद्धमें उसके वेगको रोकना असम्भव था। धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचनेवाले भूमण्डलके सभी योद्धाओंमें शिशुपाल एक श्रेष्ठतम वीर था। यह समझकर भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ चेदिदेशीय क्षत्रियोंके उत्साहको नष्ट करके हठपूर्वक बड़े वेगसे शिशुपालको मार डाला ॥ २५-२६ ॥

यशोमानौ वर्धयन् पाण्डवानां
पुराभिनच्छिशुपालं समीक्ष्य ।
यस्य सर्वे वर्धयन्ति स्म मानं
करूषराजप्रमुखा नरेन्द्राः ॥ २७ ॥

करूषराज आदि सब नरेश जिसका सम्मान बढ़ाते थे, उस शिशुपालकी ओर दृष्टिपात करके पाण्डवोंके यश और मानकी वृद्धिके उद्देश्यसे श्रीकृष्णने उसे पहले ही मार डाला ॥ २७ ॥

तमसह्यं केशवं तत्र मत्वा
सुग्रीवयुक्तेन रथेन कृष्णम् ।
सम्प्राद्रवंश्चेदिपतिं विहाय
सिंहं दृष्ट्वा क्षुद्रमृगा इवान्ये ॥ २८ ॥

सुग्रीव आदि घोड़ोंसे जुते हुए रथपर आरूढ़ होनेवाले श्रीकृष्णको असह्य मानकर चेदिराज शिशुपालके सिवा दूसरे राजा उसी प्रकार पलायन कर गये, जैसे सिंहको देखते ही अन्य क्षुद्र पशु भाग जाते हैं ॥ २८ ॥

यस्तं प्रतीपस्तरसा प्रत्युदीया-
शांसमानो द्वैरथे वासुदेवम् ।
सोऽशेत कृष्णेन हतः परासु-
र्वातेनेवोन्मथितः कर्णिकारः ॥ २९ ॥

जिसने द्वैरथ-युद्धमें विजयकी आशा रखकर भगवान् श्रीकृष्णका विरोधी हो बड़े वेगसे उनपर धावा किया था, वह शिशुपाल श्रीकृष्णके हाथसे मारा जाकर प्राणशून्य हो सदाके लिये इस प्रकार धरतीपर सो गया, मानो कनेरका वृक्ष आँधीके वेगसे उखड़कर धराशायी हो गया हो ॥ २९ ॥

पराक्रमं मे यदवेदयन्त
तेषामर्थे संजय केशवस्य ।
अनुस्मरंस्तस्य कर्माणि विष्णो-
र्गावल्गणे नाधिगच्छामि शान्तिम् ॥ ३० ॥

संजय ! पाण्डवोंके लिये किये हुए श्रीकृष्णके पराक्रमका वृत्तान्त मेरे गुप्तचरोंने मुझे बताया था। गावल्गणे! श्रीहरिके उन वीरोचित कर्मोंको बारंबार याद करके मुझे शान्ति नहीं मिल रही है ॥ ३० ॥

न जातु ताञ्छत्रुरन्यः सहेत
येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः ।
प्रवेपते मे हृदयं भयेन
श्रुत्वा कृष्णावेकरथे समेतौ ॥ ३१ ॥

जिनके अग्रगामी वृष्णिसिंह भगवान् वासुदेव हैं, उन पाण्डवोंका आक्रमण कभी भी दूसरा कोई शत्रु नहीं सह सकता । श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों एक रथपर एकत्र हो गये हैं, यह सुनकर तो मेरा हृदय भयसे काँप उठता है॥

न चेद् गच्छेत् संगरं मन्दबुद्धि-
स्ताभ्यां लभेच्छर्म तदा सुतो मे ।
नो चेत् कुरून् संजय निर्दहेता-
मिन्द्राविष्णू दैत्यसेनां यथैव ॥ ३२ ॥

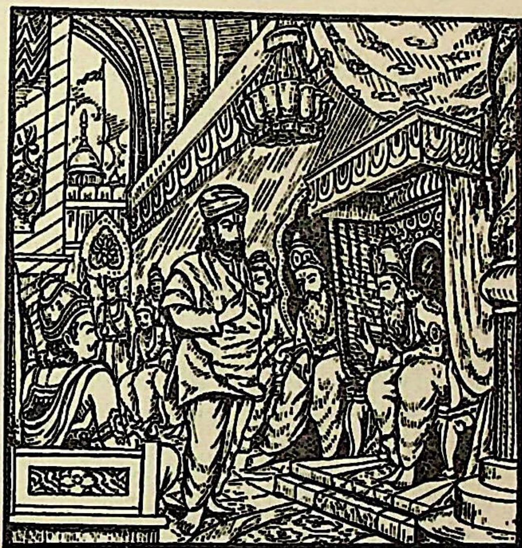
संजय ! यदि मेरा मन्दबुद्धि पुत्र उन दोनोंसे युद्ध करनेके लिये न जाय, तभी वह कल्याणका भागी हो सकता है। अन्यथा वे दोनों वीर कौरवोंको उसी प्रकार भस्म कर देंगे, जैसे इन्द्र और विष्णु दैत्यसेनाका संहार कर डालते हैं ॥

मतो हि मे शक्रसमो धनंजयः
सनातनो वृष्णिवीरश्च विष्णुः ।
धर्मारामो ह्रीनिषेवस्तरस्वी
कुन्तीपुत्रः पाण्डवोऽजातशत्रुः ॥ ३३ ॥
दुर्योधनेन निकृतो मनस्वी
नो चेत् क्रुद्धः प्रदहेद् धार्तराष्ट्रान् ।
नाहं तथा ह्यर्जुनाद् वासुदेवाद्
भीमाद् वाहं यमयोर्वा बिभेमि ॥३४॥
यथा राज्ञः क्रोधदीप्तस्य सूत
मन्योरहं भीततरः सदैव ।
महातपा ब्रह्मचर्येण युक्तः
संकल्पोऽयं मानसस्तस्य सिद्ध्येत् ॥ ३५ ॥

मुझे तो अर्जुन इन्द्रके समान प्रतीत होते हैं और वृष्णि-वीर श्रीकृष्ण सनातन विष्णु जान पड़ते हैं। कुन्तीनन्दन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर धर्माचरणमें ही सुख मानते हैं। वे लज्जाशील और बलशाली हैं। उनके मनमें किसीके प्रति कभी शत्रुभाव नहीं पैदा हुआ है। नहीं तो वे मनस्वी युधिष्ठिर दुर्योधनके द्वारा छल-कपटके शिकार होनेपर क्रोध करके मेरे सभी पुत्रों-को जलाकर भस्म कर देते। संजय ! मैं अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन तथा नकुल-सहदेवसे भी उतना नहीं डरता, जितना कि क्रोधसे तमतमाये हुए राजा युधिष्ठिरके कोपसे । उनके रोषसे मैं सदा ही अत्यन्त भयभीत रहता हूँ; क्योंकि वे महान् तपस्वी और ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न हैं; इसलिये उनके मनमें जो संकल्प होगा, वह सिद्ध होकर ही रहेगा ॥ ३३–३५ ॥

तस्य क्रोधं संजयाहं समीक्ष्य
स्थाने जानन् भृशमस्म्यद्य भीतः ।
स गच्छ शीघ्रं प्रहितो रथेन
पाञ्चालराजस्य चमूनिवेशनम् ॥ ३६ ॥
अजातशत्रुं कुशलं स्म पृच्छेः
पुनः पुनः प्रीतियुक्तं वदेस्त्वम् ।
जनार्दनं चापि समेत्य तात
महामात्रं वीर्यवतामुदारम् ॥ ३७ ॥
अनामयं मद्वचनेन पृच्छे-
र्धृतराष्ट्रः पाण्डवैः शान्तिमीप्सुः ।
न तस्य किंचिद् वचनं न कुर्यात्
कुन्तीपुत्रो वासुदेवस्य सूत ॥ ३८ ॥

संजय ! मैं उनके क्रोधको देखकर और उसे उचित जानकर आज बहुत डरा हुआ हूँ। मेरेद्वारा भेजे हुए तुम



रथपर बैठकर शीघ्र ही पाञ्चालराज द्रुपदकी छावनीमें जाकर वहाँ अत्यन्त प्रेमपूर्वक अजातशत्रु युधिष्ठिरसे वार्तालाप करना और बारंबार उनका कुशल-मङ्गल पूछना। तात ! तुम बलवानोंमें श्रेष्ठ महाभाग भगवान् श्रीकृष्णसे भी मिलकर मेरी ओरसे उनका कुशल-समाचार पूछना और यह बताना कि धृतराष्ट्र पाण्डवोंके साथ शान्तिपूर्ण बर्ताव चाहते हैं। सूत ! कुन्तीकुमार युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णकी कोई भी बात टाल नहीं सकते ॥

प्रियश्चैषामात्मसमश्च कृष्णो
विद्वांश्चैषां कर्मणि नित्ययुक्तः ।
समानीतान् पाण्डवान् सृंजयांश्च
जनार्दनं युयुधानं विराटम् ॥ ३९ ॥
अनामयं मद्वचनेन पृच्छेः
सर्वांस्तथा द्रौपदेयांश्च पञ्च ।
यद् यत् तत्र प्राप्तकालं परेभ्य-
स्त्वं मन्येथा भारतानां हितं च ।
तद् भाषेथाः संजय राजमध्ये
न मूर्च्छयेद् यन्न च युद्धहेतुः ॥ ४० ॥

क्योंकि श्रीकृष्ण इनको आत्माके समान प्रिय हैं। श्रीकृष्ण विद्वान् हैं और सदा पाण्डवोंके हितके कार्यमें लगे रहते हैं। संजय! तुम वहाँ एकत्र हुए पाण्डवों तथा सृञ्जयवंशी क्षत्रियों-से और श्रीकृष्ण, सात्यकि, राजा विराट एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंसे भी मेरी ओरसे स्वास्थ्यका समाचार पूछना। इसके सिवा जैसा अवसर हो और जिसमें तुम्हें भरतवंशियोंका हित प्रतीत हो, वैसी बातें पाण्डवपक्षके लोगोंसे कहना। राजाओंके बीचमें ऐसा कोई वचन न कहना, जो उनके क्रोधको बढ़ावे तथा युद्धका कारण बने ॥ ३९-४० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि धृतराष्ट्रसंदेशे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें धृतराष्ट्रसंदेशविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४१ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरसे मिलकर उनकी कुशल पूछना एवं युधिष्ठिरका संजयसे कौरवपक्षका कुशल-समाचार पूछते हुए उससे सारगर्भित प्रश्न करना

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रस्य संजयः।
उपप्लव्यं ययौ द्रष्टुं पाण्डवानमितौजसः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्रकी बात सुनकर संजय अमित तेजस्वी पाण्डवोंसे मिलनेके लिये उपप्लव्य गया ॥ १ ॥

स तु राजानमासाद्य कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
अभिवाद्य ततः पूर्वं सूतपुत्रोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥

वहाँ पहले कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरके पास जाकर सूतपुत्र संजयने उन्हें प्रणाम किया और उनसे बातचीत प्रारम्भ की।२।

गावल्गणिः संजयः सूतसूनु-
रजातशत्रुमवदत् प्रतीतः।
दिष्ट्या राजंस्त्वामरोगं प्रपद्ये
सहायवन्तं च महेन्द्रकल्पम् ॥ ३ ॥

गवल्गणनन्दन सूतपुत्र संजयने प्रसन्न होकर अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरसे कहा—'राजन्! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज मैं देवराज इन्द्रके समान आपको अपने सहायकों-के साथ स्वस्थ एवं सकुशल देख रहा हूँ ॥ ३ ॥

अनामयं पृच्छति त्वाऽऽम्बिकेयो
वृद्धो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी।
कच्चिद् भीमः कुशली पाण्डवाग्र्यो
धनंजयस्तौ च माद्रीतनूजौ ॥ ४ ॥

'वृद्ध एवं बुद्धिमान् अम्बिकानन्दन महाराज धृतराष्ट्रने आपका कुशल-समाचार पूछा है। भीमसेन, पाण्डवप्रवर अर्जुन तथा वे दोनों माद्रीकुमार नकुल-सहदेव कुशलसे तो हैं न? ॥४॥

कच्चित् कृष्णा द्रौपदी राजपुत्री
सत्यव्रता वीरपत्नी सपुत्रा।
मनस्विनी यत्र च वाञ्छसि त्व-
मिष्टान् कामान् भारत स्वस्तिकामः ॥ ५ ॥

'सत्यव्रतका पालन करनेवाली वीरपत्नी द्रुपदराजपुत्री मनस्विनी कृष्णा अपने पुत्रोंसहित कुशलसे तो है न? भारत! इनके सिवा आप जिन-जिनके कल्याणकी इच्छा रखते हैं तथा जिन अभीष्ट भोगोंको बनाये रखना चाहते हैं, वे आत्मीय जन तथा धन-वैभव-वाहन आदि भोगोपकरण सकुशल हैं न?' ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

गावल्गणे संजय स्वागतं ते
प्रीयामहे ते वयं दर्शनेन।
अनामयं प्रतिजाने तवाहं
सहानुजैः कुशली चास्मि विद्वन् ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले—गवल्गणकुमार संजय! तुम्हारा स्वागत है। तुम्हें देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है। विद्वन्! मैं अपने भाइयोंसहित कुशलसे हूँ तथा अपने आरोग्यकी सूचना दे रहा हूँ ॥ ६ ॥

चिरादिदं कुशलं भारतस्य
श्रुत्वा राज्ञः कुरुवृद्धस्य सूत।
मन्ये साक्षाद् दृष्टमहं नरेन्द्रं
दृष्ट्वैव त्वां संजय प्रीतियोगात् ॥ ७ ॥

सूत! कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भरतनन्दन महाराज धृतराष्ट्रका यह कुशल-समाचार दीर्घकालके बाद सुनकर तथा प्रेमपूर्वक तुम्हें भी देखकर मैं यह अनुभव करता हूँ कि आज मुझे साक्षात् महाराज धृतराष्ट्रका ही दर्शन हुआ है ॥ ७ ॥

पितामहो नः स्थविरो मनस्वी
महाप्राज्ञः सर्वधर्मोपपन्नः।
स कौरव्यः कुशली तात भीष्मो
यथापूर्वं वृत्तिरस्त्यस्य कच्चित् ॥ ८ ॥

तात! मनस्वी, परम ज्ञानी तथा समस्त धर्मोंसे सम्पन्न हमारे बूढ़े पितामह कुरुवंशी भीष्मजी तो

हैं न ? हमलोगोंपर उनका स्नेहभाव तो पूर्ववत् बना हुआ है न ? ॥ ८ ॥

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
वैचित्रवीर्यः कुशली महात्मा ।
महाराजो बाह्लिकः प्रातिपेयः
कच्चिद् विद्वान् कुशली सूतपुत्र॥ ९ ॥

संजय ! क्या अपने पुत्रोंसहित विचित्रवीर्यनन्दन महामना राजा धृतराष्ट्र सकुशल हैं ? प्रतीपके विद्वान् पुत्र महाराज बाह्लीक तो कुशलपूर्वक हैं न ? ॥ ९ ॥

स सोमदत्तः कुशली तात कच्चिद्
भूरिश्रवाः सत्यसंधः शलश्च ।
द्रोणः सपुत्रश्च कृपश्च विप्रो
महेष्वासाः कच्चिदेतेऽप्यरोगाः ॥१०॥

तात ! सोमदत्त, भूरिश्रवा, सत्यप्रतिज्ञ शल, पुत्रसहित द्रोणाचार्य और विप्रश्रेष्ठ कृपाचार्य—ये महाधनुर्धर वीर स्वस्थ तो हैं न ? ॥ १० ॥

सर्वे कुरुभ्यः स्पृहयन्ति संजय
धनुर्धरा ये पृथिव्यां प्रधानाः ।
महाप्राज्ञाः सर्वशास्त्रावदाता
धनुर्भृतां मुख्यतमाः पृथिव्याम् ॥ ११ ॥

संजय ! क्या पृथ्वीके ये महान् धनुर्धर, जो परम बुद्धिमान्, समस्त शास्त्रोंके ज्ञानसे उज्ज्वल तथा भूमण्डलके धनुर्धरोंमें प्रधान हैं, कौरवोंसे स्नेह-भाव रखते हैं ? ॥ ११ ॥

कच्चिन्मानं तात लभन्त एते
धनुर्भृतः कच्चिदेतेऽप्यरोगाः ।
येषां राष्ट्रे निवसति दर्शनीयो
महेष्वासः शीलवान् द्रोणपुत्रः ॥ १२ ॥

तात ! जिनके राष्ट्रमें दर्शनीय, शीलवान् तथा महाधनुर्धर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा निवास करता है, उन कौरवोंके बीच क्या पूर्वोक्त धनुर्धर विद्वान् आदर पाते हैं ? क्या ये कौरव भी नीरोग हैं ? ॥ १२ ॥

वैश्यापुत्रः कुशली तात कच्चि-
न्महाप्राज्ञो राजपुत्रो युयुत्सुः ।
कर्णोऽमात्यः कुशली तात कच्चित्
सुयोधनो यस्य मन्दो विधेयः ॥ १३ ॥

तात ! क्या राजा धृतराष्ट्रकी वैश्यजातीय पत्नीके पुत्र महाज्ञानी राजकुमार युयुत्सु सकुशल हैं ? संजय ! मूढ दुर्योधन सदा जिसकी आज्ञाके अधीन रहता है, वह मन्त्री कर्ण भी कुशलपूर्वक है न ? ॥ १३ ॥

स्त्रियो वृद्धा भारतानां जनन्यो
महानस्यो दासभार्याश्च सूत ।
वध्वः पुत्रा भागिनेया भगिन्यो
दौहित्रा वा कच्चिदप्यव्यलीकाः ॥ १४ ॥

सूत ! भरतवंशियोंकी माताएँ, बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ, रसोई बनानेवाली सेविकाएँ, दासियाँ, बहुएँ, पुत्र, भानजे, बहिनें और पुत्रियोंके पुत्र—ये सभी निष्कपटभावसे रहते हैं न ? ॥ १४ ॥

कच्चिद् राजा ब्राह्मणानां यथावत्
प्रवर्तते पूर्ववत् तात वृत्तिम् ।
कच्चिद् दायान् मामकान् धार्तराष्ट्रो
द्विजातीनां संजय नोपहन्ति ॥ १५ ॥

तात ! क्या राजा दुर्योधन पहलेकी भाँति ब्राह्मणोंको जीविका देनेमें यथोचित रीतिसे तत्पर रहता है ? संजय ! मैंने ब्राह्मणोंको वृत्तिके रूपमें जो गाँव आदि दिये थे, उन्हें वह छीनता तो नहीं है ? ॥ १५ ॥

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्र
उपेक्षते ब्राह्मणातिक्रमान् वै ।
स्वर्गस्य कच्चिन्न तथा वर्त्मभूता-
मुपेक्षते तेषु सदैव वृत्तिम् ॥ १६ ॥

पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र ब्राह्मणोंके प्रति किये गये अपराधोंकी उपेक्षा तो नहीं करते ? ब्राह्मणोंको जो सदा वृत्ति दी जाती है, वह स्वर्गलोकमें पहुँचनेका मार्ग है; अतः राजा उस वृत्तिकी उपेक्षा या अवहेलना तो नहीं करते हैं ? ॥ १६ ॥

एतज्ज्योतिश्चोत्तमं जीवलोके
शुक्लं प्रजानां विहितं विधात्रा ।
ते चेद् दोषं न नियच्छन्ति मन्दाः
कृत्स्नो नाशो भविता कौरवाणाम्॥ १७ ॥

ब्राह्मणोंको दी हुई जीविकावृत्तिकी रक्षा परलोकको प्रकाशित करनेवाली उत्तम ज्योति है और इस जीव-जगत्में वह उज्ज्वल यशका विस्तार करनेवाली है । यह नियम विधाताने ही प्रजाके हितके लिये रच रक्खा है । यदि मन्द-बुद्धि कौरव लोभवश ब्राह्मणोंकी जीविकावृत्तिके अपहरण-रूप दोषको काबूमें नहीं रक्खेंगे तो कौरवकुलका सर्वथा विनाश हो जायगा ॥ १७ ॥

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
बुभूषते वृत्तिममात्यवर्गे ।
कच्चिन्न भेदेन जिजीविषन्ति
सुहृद्रूपा दुर्हृदश्चैकमत्यात् ॥ १८ ॥

क्या पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र मन्त्रिवर्गको भी जीवन-निर्वाह-के योग्य वृत्ति देनेकी इच्छा रखते हैं ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि वे भेदसे जीविका चलाना चाहते हों (शत्रुओंने उन्हें फोड़ लिया हो और वे उन्हींके दिये हुए धनसे जीवन-

निर्वाह करना चाहते हों) । वे सुहृद्‌के रूपमें रहते हुए भी एकमत होकर शत्रु तो नहीं बन गये हैं ? ॥ १८ ॥

कच्चिन्न पापं कथयन्ति तात
ते पाण्डवानां कुरवः सर्व एव ।
द्रोणः सपुत्रश्च कृपश्च वीरो
नास्मासु पापानि वदन्ति कच्चित् ॥ १९ ॥

तात संजय ! कहीं सब कौरव मिलकर पाण्डवोंके किसी दोषकी चर्चा तो नहीं करते हैं ? पुत्रसहित द्रोणाचार्य और वीर कृपाचार्य हमलोगोंपर किन्हीं दोषोंका आरोप तो नहीं करते हैं ? ॥ १९ ॥

कच्चिद् राज्ये धृतराष्ट्रं सपुत्रं
समेत्याहुः कुरवः सर्व एव ।
कच्चिद् दृष्ट्वा दस्युसङ्घान् समेतान्
स्मरन्ति पार्थस्य युधां प्रणेतुः ॥ २० ॥

क्या कभी सब कौरव एकत्र हो पुत्रसहित धृतराष्ट्रके पास जाकर हमें राज्य देनेके विषयमें कुछ कहते हैं ? क्या राज्यमें लुटेरोंके दलोंको देखकर वे कभी संग्रामविजयी अर्जुनको भी याद करते हैं ? ॥ २० ॥

मौर्वीभुजाग्रप्रहितान् स तात
दोधूयमानेन धनुर्गुणेन ।
गाण्डीवनुन्नान् स्तनयित्नुघोषा-
नजिह्मगान् कच्चिदनुस्मरन्ति ॥ २१ ॥

संजय ! प्रत्यञ्चाको बारंबार हिलाकर और कानोंतक खींचकर अँगुलियोंके अग्रभागसे जिनका संधान किया जाता है तथा जो गाण्डीव धनुषसे छूटकर मेघकी गर्जनाके समान सनसनाते हुए सीधे लक्ष्यतक पहुँच जाते हैं, अर्जुनके उन बाणोंको कौरवलोग बराबर याद करते हैं न ? ॥ २१ ॥

न चापश्यं कंचिदहं पृथिव्यां
योधं समं वाधिकमर्जुनेन ।
यस्यैकषष्टिर्निशितास्तीक्ष्णधाराः
सुवाससः सम्मतो हस्तवापः ॥ २२ ॥

मैंने इस पृथ्वीपर अर्जुनसे बढ़कर या उनके समान दूसरे किसी योद्धाको नहीं देखा है; क्योंकि जब वे एक बार अपने हाथोंसे धनुषपर शर-संधान करते हैं, तब उससे सुन्दर पंख और पैनी धारवाले इकसठ तीखे बाण प्रकट होते हैं ॥ २२ ॥

गदापाणिर्भीमसेनस्तरस्वी
प्रवेपयञ्छत्रुसङ्घाननीके ।
नागः प्रभिन्न इव नड्वलेषु
चंक्रम्यते कच्चिदेनं स्मरन्ति ॥ २३ ॥

जैसे मस्तकसे मदकी धारा बहानेवाला गजराज सरकंडों-

से भरे हुए स्थानोंमें निर्भय विचरता है, उसी प्रकार वे शाली वीर भीमसेन हाथमें गदा लिये रणभूमिमें शत्रुसमूह को कम्पित करते हुए विचरण करते हैं । क्या कौरव उन्हें भी कभी याद करते हैं ? ॥ २३ ॥

माद्रीपुत्रः सहदेवः कलिङ्गान्
समागतानजयद् दन्तकूरे ।
वामेनास्यन् दक्षिणेनैव यो वै
महाबलं कच्चिदेनं स्मरन्ति ॥ २४ ॥

जिसमें दाँत पीसकर अस्त्र-शस्त्र चलाये जाते हैं, भयंकर युद्धमें माद्रीनन्दन सहदेवने दाहिने और हाथसे बाणोंकी वर्षा करके अपना सामना करनेके लिये हुए कलिङ्गदेशीय योद्धाओंको परास्त किया था । इस महाबली वीरको भी कौरव कभी याद करते हैं ? ॥

पुरा जेतुं नकुलः प्रेषितोऽयं
शिबींस्त्रिगर्तान् संजय पश्यतस्ते ।
दिशं प्रतीचीं वशमानयन्मे
माद्रीसुतं कच्चिदेनं स्मरन्ति ॥ २५ ॥

संजय ! पहले राजसूययज्ञमें तुम्हारे सामने ही और त्रिगर्त देशके वीरोंको जीतनेके लिये इस नकुल भेजा गया था; परंतु इसने सारी पश्चिम दिशाको मेरे अधीन कर दिया । क्या कौरव इस वीर माद्री का भी स्मरण करते हैं ? ॥ २५ ॥

पराभवो द्वैतवने य आसीद्
दुर्मन्त्रिते घोषयात्रागतानाम् ।
यत्र मन्दाञ्छत्रुवशं प्रयाता-
नमोचयद् भीमसेनो जयश्च ॥ २६ ॥

कर्णकी खोटी सलाहके अनुसार घोषयात्रामें गये धृतराष्ट्रपुत्रोंकी द्वैतवनमें जो पराजय हुई थी, उसमें वे मन्दबुद्धि कौरव शत्रुओंके अधीन हो गये थे । उस भीमसेन और अर्जुनने ही उन्हें बन्धनसे मुक्त किया था ।

अहं पश्चादर्जुनमभ्यरक्षं
माद्रीपुत्रौ भीमसेनोऽप्यरक्षत् ।
गाण्डीवधन्वा शत्रुसङ्घानुदस्य
स्वस्त्यागमत् कच्चिदेनं स्मरन्ति ॥ २७ ॥

उस युद्धमें मैंने पीछे रहकर यज्ञके द्वारा अर्जुनकी रक्षा की थी और भीमसेनने नकुल तथा सहदेवका संरक्षण किया था । गाण्डीवधारी अर्जुनने शत्रुओंके समुदायको मार था और स्वयं सकुशल लौट आये थे । क्या कौरव उनकी याद करते हैं ? ॥ २७ ॥

न कर्मणा साधुनैकेन नूनं
सुखं शक्यं वै भवतीह संजय।
सर्वात्मना परिजेतुं वयं चे-
न्न शक्नुमो धृतराष्ट्रस्य पुत्रम् ॥ २८ ॥

संजय! यदि हम धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको सभी उपायोंसे नहीं जीत सकते तो केवल एक अच्छे व्यवहारसे ही उसे सुखपूर्वक जीतना हमारे लिये निश्चय ही सम्भव नहीं है ॥२८॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरप्रश्ने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरप्रश्नविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको उनके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए उन्हें राजा धृतराष्ट्रका संदेश सुनानेकी प्रतिज्ञा करना

संजय उवाच

यथाऽऽत्थ मे पाण्डव तत् तथैव
कुरून् कुरुश्रेष्ठ जनं च पृच्छसि।
अनामयास्तात मनस्विनस्ते
कुरुश्रेष्ठान् पृच्छसि पार्थ यांस्त्वम्॥ १ ॥

संजय बोला—कुरुश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन! आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वह बिल्कुल ठीक है। कौरवों तथा अन्य लोगोंके विषयमें आप जो कुछ पूछ रहे हैं, वह बताता हूँ, सुनिये। तात! कुन्तीनन्दन! आपने जिन श्रेष्ठ कुरुवंशियोंके कुशल-समाचार पूछे हैं, वे सभी मनस्वी पुरुष स्वस्थ और सानन्द हैं ॥ १ ॥

सन्त्येव वृद्धाः साधवो धार्तराष्ट्रे
सन्त्येव पापाः पाण्डव तस्य विद्धि।
दद्याद् रिपुभ्योऽपि हि धार्तराष्ट्रः
कुतो दायाँल्लोपयेद् ब्राह्मणानाम्॥ २ ॥

पाण्डव! धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनके पास जैसे बहुत-से पापी रहते हैं, उसी प्रकार उसके यहाँ साधुस्वभाववाले वृद्ध पुरुष भी रहते ही हैं। आप इस बातको सत्य समझें। दुर्योधन तो शत्रुओंको भी धन देता है, फिर वह ब्राह्मणोंकी जीविकाका लोप तो कर ही कैसे सकता है? ॥ २ ॥

यद् युष्माकं वर्तते सौनधर्म्य-
मद्रुग्धेषु द्रुग्धवत् तन्न साधु।
मित्रध्रुक् स्याद् धृतराष्ट्रः सपुत्रो
युष्मान् द्विषन् साधुवृत्तानसाधुः॥ ३ ॥

आपलोगोंने दुर्योधनके प्रति कभी द्रोहका भाव नहीं रक्खा है, तो भी वह आपके प्रति जो क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता है—द्रोही पुरुषोंके समान ही आचरण करता है, (दुर्योधनके लिये) यह उचित नहीं है। आप-जैसे साधुस्वभाव लोगोंसे द्वेष करनेपर तो पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र असाधु और मित्रद्रोही ही समझे जायँगे ॥ ३ ॥

न चानुजानाति भृशं च तप्यते
शोचत्यन्तः स्थविरोऽजातशत्रो।
शृणोति हि ब्राह्मणानां समेत्य
मित्रद्रोहः पातकेभ्यो गरीयान् ॥ ४ ॥

अजातशत्रो! राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंको आपसे द्वेष करनेकी आज्ञा नहीं देते; बल्कि आपके प्रति उनके द्रोहकी बात सुनकर वे मन-ही-मन अत्यन्त संतप्त होते तथा शोक किया करते हैं? क्योंकि वे अपने यहाँ पधारे हुए ब्राह्मणोंसे मिलकर सदा उनसे यही सुना करते हैं कि मित्रद्रोह सब पापोंसे बढ़कर है ॥ ४ ॥

स्मरन्ति तुभ्यं नरदेव संयुगे
युद्धे च जिष्णोश्च युधां प्रणेतुः।
समुत्क्रुष्टे दुन्दुभिशङ्खशब्दे
गदापाणिं भीमसेनं स्मरन्ति ॥ ५ ॥

नरदेव! कौरवगण युद्धकी चर्चा चलनेपर आपको तथा वीराग्रणी अर्जुनको भी स्मरण करते हैं। युद्धकालमें जब दुन्दुभि और शङ्खकी ध्वनि गूँज उठती है, उस समय उन्हें गदापाणि भीमसेनकी बहुत याद आती है ॥ ५ ॥

माद्रीसुतौ चापि रणाजिमध्ये
सर्वा दिशः सम्पतन्तौ स्मरन्ति।
सेनां वर्षन्तौ शरवर्षैरजस्रं
महारथौ समरे दुष्प्रकम्पौ ॥ ६ ॥

समराङ्गणमें जिन्हें हराना तो दूरकी बात है, विचलित या कम्पित करना भी अत्यन्त कठिन है, जो शत्रुसेनापर निरन्तर बाणोंकी वर्षा करते हैं और संग्राममें सम्पूर्ण दिशाओंमें आक्रमण करते हैं, उन महारथी माद्रीकुमार नकुल-सहदेवको भी कौरव सदा याद करते हैं ॥ ६ ॥

न त्वेव मन्ये पुरुषस्य राज-
न्ननागतं ज्ञायते यद् भविष्यम्।
त्वं चेत् तथा सर्वधर्मोपपन्नः
प्राप्तः क्लेशं पाण्डव कृच्छ्ररूपम्।

त्वमेवैतत् कृच्छ्रगतश्च भूयः
समीकुर्याः प्रज्ञयाजातशत्रो ॥ ७ ॥

पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर ! मेरा यह विश्वास है कि मनुष्यका भविष्य जबतक वह सामने नहीं आता, किसीको ज्ञात नहीं होता; क्योंकि आप-जैसे सर्वधर्मसम्पन्न पुरुष भी अत्यन्त भयंकर क्लेशमें पड़ गये। अजातशत्रो ! संकटमें पड़नेपर भी आप ही अपनी बुद्धिसे विचारकर इस झगड़ेकी शान्तिके लिये पुनः कोई सरल उपाय ढूँढ़ निकालिये ॥

न कामार्थं संत्यजेयुर्हि धर्मं
पाण्डोः सुताः सर्व एवेन्द्रकल्पाः।
त्वमेवैतत् प्रज्ञयाजातशत्रो
समीकुर्या येन शर्माप्नुयुस्ते ॥ ८ ॥

धार्तराष्ट्राः पाण्डवाः सृंजयाश्च
ये चाप्यन्ये संनिविष्टा नरेन्द्राः।

पाण्डुके सभी पुत्र इन्द्रके समान पराक्रमी हैं। वे कि भी स्वार्थके लिये कभी धर्मका त्याग नहीं करते। अतः अज शत्रो ! आप ही इस समस्याको हल कीजिये, जिससे धृत के सभी पुत्र, पाण्डव, सृंजयवंशी क्षत्रिय तथा अन्य नरे जो आकर सेनाकी छावनीमें टिके हुए हैं, कल्याणके भागी हैं

यन्माब्रवीद् धृतराष्ट्रो निशाया-
मजातशत्रो वचनं पिता ते ॥ ९
सहामात्यः सहपुत्रश्च राजन्
समेत्य तां वाचमिमां निबोध ॥ १०

महाराज युधिष्ठिर ! आपके ताऊ धृतराष्ट्रने रातके स मुझसे आपलोगोंके लिये जो संदेश कहा था, उसे म मन्त्रियों और पुत्रोंसहित मेरे इन शब्दोंमें सुनिये ॥ ९-१

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको धृतराष्ट्रका संदेश सुनाना एवं अपनी ओरसे भी शान्तिके लिये प्रार्थना करना

युधिष्ठिर उवाच

समागताः पाण्डवाः सृंजयाश्च
जनार्दनो युयुधानो विराटः।
यत् ते वाक्यं धृतराष्ट्रानुशिष्टं
गावल्गणे ब्रूहि तत् सूतपुत्र ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—गवल्गणकुमार सूतपुत्र संजय ! यहाँ पाण्डव, संजय, भगवान् श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा राजा विराट—सब एकत्र हुए हैं। राजा धृतराष्ट्रने तुम्हारे द्वारा जो संदेश भेजा है, उसे कहो ॥ १ ॥

संजय उवाच

अजातशत्रुं च वृकोदरं च
धनंजयं माद्रवतीसुतौ च।
आमन्त्रये वासुदेवं च शौरिं
युयुधानं चेकितानं विराटम् ॥ २ ॥
पञ्चालानामधिपं चैव वृद्धं
धृष्टद्युम्नं पार्षतं याज्ञसेनिम्।
सर्वे वाचं शृणुतेमां मदीयां
वक्ष्यामि यां भूतिमिच्छन् कुरूणाम् ॥ ३ ॥

संजय बोला—मैं अजातशत्रु युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, भगवान् श्रीकृष्ण, सात्यकि, चेकितान, विराट, पाञ्चालदेशके बूढ़े नरेश द्रुपद तथा उनके पुत्र पृषतवंशी धृष्टद्युम्नको भी आमन्त्रित करता हूँ। कौरवोंकी भलाई चाहता हुआ जो कुछ कह रहा हूँ, उस वाणीको आप सब लोग सुनें ॥ २-३ ॥



शमं राजा धृतराष्ट्रोऽभिनन्द-
न्नयोजयत् त्वरमाणो रथं मे।
सभ्रातृपुत्रस्वजनस्य राज्ञ-
स्तद् रोचतां पाण्डवानां शमोऽस्तु ॥



संजयकी श्रीकृष्ण एवं पाण्डवोंसे भेंट

राजा धृतराष्ट्र शान्तिका आदर करते हैं (युद्ध नहीं चाहते)। उन्होंने बड़ी उतावलीके साथ मेरे लिये शीघ्रतापूर्वक रथ तैयार कराया और मुझे यहाँ भेजा। मैं चाहता हूँ कि भाई, पुत्र तथा स्वजनोंसहित राजा धृतराष्ट्रका यह शान्तिसंदेश पाण्डवोंको रुचिकर प्रतीत हो और दोनों पक्षोंमें सन्धि स्थापित हो जाय ॥४॥

सर्वैर्धर्मैः समुपेतास्तु पार्थाः
संस्थानेन मार्दवेनार्जवेन।
जाताः कुले ह्यनृशंसा वदान्या
ह्रीनिषेवाः कर्मणां निश्चयज्ञाः ॥ ५ ॥

कुन्तीके पुत्रो! आपलोग अपने दिव्य शरीर, दयालु एवं कोमल स्वभाव और सरलता आदि गुणों तथा सम्पूर्ण धर्मोंसे युक्त हैं। आपलोगोंका उत्तम कुलमें जन्म हुआ है। आपलोगोंमें क्रूरताका सर्वथा अभाव है। आपलोग उदार, लज्जाशील और कर्मोंके परिणामको जाननेवाले हैं ॥ ५ ॥

न युज्यते कर्म युष्मासु हीनं
सत्त्वं हि वस्तादृशं भीमसेनाः।
उद्भासते ह्यञ्जनबिन्दुवत् त-
च्छुभ्रे वस्त्रे यद् भवेत् किल्बिषं वः ॥ ६ ॥

भयंकर सैन्यसंग्रह करनेवाले पाण्डवो! आपलोगोंमें ऐसा सत्त्वगुण भरा है कि आपके द्वारा कोई नीच कर्म बन ही नहीं सकता। यदि आपलोगोंमें कोई दोष होता तो वह सफेद वस्त्रमें काले दागकी भाँति चमक उठता (छिप नहीं सकता) ॥ ६ ॥

सर्वक्षयो दृश्यते यत्र कृत्स्नः
पापोदयो निरयोऽभावसंस्थः।
कस्तत् कुर्याज्जातु कर्म प्रजानन्
पराजयो यत्र समो जयश्च ॥ ७ ॥

जिसमें सबका विनाश दिखायी देता है, जिससे पूर्णतः पापका उदय होता है, जो नरकका हेतु है, जिसके अन्तमें अभाव ही हाथ लगता है और जिसमें जय तथा पराजय दोनों समान हैं; उस युद्ध-जैसे कठोर कर्मके लिये कौन समझदार मनुष्य कभी उद्योग करेगा? ॥ ७ ॥

ते वै धन्या यैः कृतं ज्ञातिकार्यं
ते वै पुत्राः सुहृदो बान्धवाश्च।
उपक्रुष्टं जीवितं संत्यजेयु-
र्यतः कुरूणां नियतो वै भवः स्यात् ॥ ८ ॥

जिन्होंने जाति और कुटुम्बके हितकर कार्योंका साधन किया है, वे धन्य हैं। वे ही पुत्र, मित्र तथा बान्धव कहलाने योग्य हैं। कौरवोंको चाहिये कि वे निन्दित जीवनका परित्याग कर दें, जिससे कौरवकुलका अभ्युदय अवश्यम्भावी हो ॥ ८ ॥

ते चेत् कुरूननुशिष्याथ पार्था
निर्णीय सर्वान् द्विषतो निगृह्य।
समं वस्तज्जीवितं मृत्युना स्याद्
यज्जीवध्वं ज्ञातिवधे न साधु ॥ ९ ॥

कुन्तीकुमारो! यदि आपलोग समस्त कौरवोंको निश्चित रूपसे अपना शत्रु मानकर उन्हें दण्ड देंगे, कैद करेंगे अथवा उनका वध कर डालेंगे तो उस दशामें आपका जो जीवन होगा, वह आपके द्वारा कुटुम्बीजनोंका वध होनेके कारण अच्छा नहीं समझा जायगा। वह निन्दित जीवन तो मृत्युके समान ही होगा ॥ ९ ॥

को ह्येव युष्मान् सह केशवेन
सचेकितानान् पार्षतबाहुगुप्तान्।
ससात्यकीन् विषहेत प्रजेतुं
लब्ध्वापि देवान् सचिवान् सहेन्द्रान् ॥ १० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण, चेकितान और सात्यकि आपलोगोंके सहायक हैं। आपलोग महाराज द्रुपदके बाहुबलसे सुरक्षित हैं। ऐसी दशामें इन्द्रसहित समस्त देवताओंको अपने सहायकके रूपमें पाकर भी कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो आपलोगोंको जीतनेका साहस करेगा? ॥ १० ॥

को वा कुरून् द्रोणभीष्माभिगुप्ता-
नश्वत्थाम्ना शल्यकृपादिभिश्च।
रणे विजेतुं विषहेत राजन्
राधेयगुप्तान् सह भूमिपालैः ॥ ११ ॥

राजन्! इसी प्रकार द्रोणाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा, शल्य, कृपाचार्य आदि वीरों तथा अन्य राजाओंसहित कर्णके द्वारा सुरक्षित कौरवोंको युद्धमें जीतनेका साहस कौन कर सकता है? ॥ ११ ॥

महद् बलं धार्तराष्ट्रस्य राज्ञः
को वै शक्तो हन्तुमक्षीयमाणः।
सोऽहं जये चैव पराजये च
निःश्रेयसं नाधिगच्छामि किंचित् ॥ १२ ॥

राजा दुर्योधनके पास विशाल वाहिनी एकत्र हो गयी है। कौन ऐसा वीर है, जो स्वयं क्षीण न होकर उस सेनाका विनाश कर सके? मैं तो इस युद्धमें किसी भी पक्षकी जय हो या पराजय, कोई कल्याणकी बात नहीं देखता हूँ ॥१२॥

कथं हि नीचा इव दौष्कुलेया
निर्धर्मार्थं कर्म कुर्युश्च पार्थाः।
सोऽहं प्रसाद्य प्रणतो वासुदेवं
पञ्चालानामधिपं चैव वृद्धम् ॥ १३ ॥

कृताञ्जलिः शरणं वः प्रपद्ये
कथं स्वस्ति स्यात् कुरुसंजयानाम्।

न ह्येवमेवं वचनं वासुदेवो
धनंजयो वा जातु किंचिन्न कुर्यात् ॥ १४ ॥

भला ! कुन्तीके पुत्र नीच कुलमें उत्पन्न हुए दूसरे अधम मनुष्योंके समान ऐसा (निन्दित) कर्म कैसे कर सकते हैं ? जिससे न तो धर्मकी सिद्धि होनेवाली है और न अर्थकी ही। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं तथा वृद्ध पाञ्चालराज द्रुपद भी उपस्थित हैं। मैं इन सबको प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ, हाथ जोड़कर आपलोगोंकी शरणमें आया हूँ। आप स्वयं विचार करें कि कुरु तथा संजय वंशका कल्याण कैसे हो ? मुझे विश्वास है कि भगवान् श्रीकृष्ण अथवा अर्जुन इस प्रकार प्रार्थनापूर्वक कही हुई मेरी किसी भी बातको ठुकरा नहीं सकते ॥ १३-१४ ॥

प्राणान् दद्याद् याचमानः कुतोऽन्य-
देतद् विद्वन् साधनार्थं ब्रवीमि।
एतद् राज्ञो भीष्मपुरोगमस्य
मतं यद् वः शान्तिरिहोत्तमा स्यात् ॥ १५ ॥

इतना ही नहीं, मेरे माँगनेपर अर्जुन अपने प्राणतक दे सकते हैं, फिर दूसरी किसी वस्तुके लिये तो कहना ही क्या है ? विद्वान् राजा युधिष्ठिर ! मैं संधि-कार्यकी सिद्धिके लिये ही यह सब कह रहा हूँ। भीष्म तथा राजा धृतराष्ट्रको यही अभिमत है और इसीसे आप सब लोगोंको उत्तम शान्ति प्राप्त हो सकती है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका संजयको इन्द्रप्रस्थ लौटानेसे ही शान्ति होना सम्भव बतलाना

युधिष्ठिर उवाच

कां नु वाचं संजय मे शृणोषि
युद्धैषिणीं येन युद्धाद् बिभेषि।
अयुद्धं वै तात युद्धाद् गरीयः
कस्तल्लब्ध्वा जातु युद्ध्येत सूत ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! तुमने मेरी कौन-सी ऐसी बात सुनी है, जिससे मेरी युद्धकी इच्छा व्यक्त हुई है, जिसके कारण तुम युद्धसे भयभीत हो रहे हो ? तात ! युद्ध करनेकी अपेक्षा युद्ध न करना ही श्रेष्ठ है। सूत ! युद्ध न करनेका अवसर पाकर भी कौन मनुष्य कभी युद्धमें प्रवृत्त होगा ? ॥ १ ॥

अकुर्वतश्चेत् पुरुषस्य संजय
सिद्ध्येत् संकल्पो मनसा यं यमिच्छेत्।
न कर्म कुर्याद् विदितं ममैत-
दन्यत्र युद्धाद् बहु यल्लघीयः ॥ २ ॥

संजय ! यदि कर्म न करनेपर भी पुरुषका संकल्प सिद्ध हो जाता—वह मनसे जिस-जिस वस्तुको चाहता, वह-वह उसे मिल जाती तो कोई भी मनुष्य कर्म नहीं करता, यह बात मुझे अच्छी तरह मालूम है। युद्ध किये विना यदि थोड़ा भी लाभ प्राप्त होता हो तो उसे बहुत समझना चाहिये ॥ २ ॥

कुतो युद्धं जातु नरोऽवगच्छेत्
को देवशप्तो हि वृणीत युद्धम्।
सुखैषिणः कर्म कुर्वन्ति पार्था
धर्मादहीनं यच्च लोकस्य पथ्यम् ॥ ३ ॥

मनुष्य कभी भी किसलिये युद्धका विचार करेगा ? किसे देवताओंने शाप दे रक्खा है, जो जान-बूझकर युद्धका वरण करेगा ? कुन्तीके पुत्र सुखकी इच्छा रखकर वही कर्म करते हैं, जो धर्मके विपरीत न हो तथा जिससे लोगोंका भला होता हो ॥ ३ ॥

धर्मोदयं सुखमाशंसमानाः
कृच्छ्रोपायं तत्त्वतः कर्म दुःखम्।
सुखं प्रेप्सुर्विजिघांसुश्च दुःखं
य इन्द्रियाणां प्रीतिरसानुगामी ॥ ४ ॥

हमलोग वही सुख चाहते हैं, जो धर्मकी प्राप्ति कराने वाला हो। जो इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले विषय-रसका अनुगामी होता है, वह सुखको पाने और दुःखको नष्ट करनेकी इच्छासे कर्म करता है; परंतु वास्तवमें उसका वह कर्म दुःखरूप ही है; क्योंकि वह कष्टदायक उपायोंसे साध्य है ॥ ४ ॥

कामाभिध्या स्वशरीरं दुनोति
यया प्रमुक्तो न करोति दुःखम्।
यथेध्यमानस्य समिद्धतेजसो
भूयो बलं वर्धते पावकस्य ॥ ५
कामार्थलाभेन तथैव भूयो
न तृप्यते सर्पिषेवाग्निरिद्धः।

विषयोंका चिन्तन अपने शरीरको पीड़ा देता है। जो विषय-चिन्तनसे सर्वथा मुक्त है, वह कभी दुःखका अनुभव नहीं करता। जैसे प्रज्वलित अग्निमें ईंधन डालनेसे उसका बल बहुत अधिक बढ़ जाता है, उसी प्रकार विषयभोग और धनका लाभ होनेसे मनुष्यकी तृष्णा और अधिक बढ़ जाती है। घीसे शान्त न होनेवाली प्रज्वलित अग्निकी भाँति मानव कभी विषयभोग और धनसे तृप्त नहीं होता है॥ ५½ ॥

सम्पश्येमं भोगचयं महान्तं
सहास्माभिर्धृतराष्ट्रस्य राज्ञः॥ ६ ॥

हमलोगोंसहित राजा धृतराष्ट्रके पास यह भोगोंकी विशाल राशि संचित हो गयी है। परंतु देखो (इतनेपर भी उनकी तृप्ति नहीं होती)॥ ६ ॥

नाश्रेयानीश्वरो विग्रहाणां
नाश्रेयान् वै गीतशब्दं शृणोति।
नाश्रेयान् वै सेवते माल्यगन्धान्
न चाप्यश्रेयाननुलेपनानि॥ ७ ॥
नाश्रेयान् वै प्रावारान् संविवस्ते
कथं त्वस्मान् सम्प्रणुदेत् कुरुभ्यः।
अत्रैव स्यादबुधस्यैव कामः
प्रायः शरीरे हृदयं दुनोति॥ ८ ॥

जो पुण्यात्मा नहीं है, वह संग्रामोंमें विजयी नहीं होता। जो पुण्यात्मा नहीं है, वह अपना यशोगान नहीं सुनता। जिसने पुण्य नहीं किया है, वह मालाएँ और गन्ध नहीं धारण कर सकता। जो पुण्यात्मा नहीं है, वह चन्दन आदि अवलेपनका भी उपयोग नहीं कर सकता। जिसने पुण्य नहीं किया है, वह अच्छे कपड़े नहीं धारण करता। यदि राजा धृतराष्ट्र पुण्यवान् न होते, तो हम लोगोंको कुरुदेशसे दूर कैसे कर देते? तथापि यह भोगतृष्णा अज्ञानी दुर्योधन आदिके ही योग्य है, जो प्रायः (सभीके) शरीरोंके भीतर अन्तःकरण-को पीड़ा देती रहती है॥ ७-८ ॥

स्वयं राजा विषमस्थः परेषु
सामस्थ्यमन्विच्छति तन्न साधु।
यथाऽऽत्मनः पश्यति वृत्तमेव
तथा परेषामपि सोऽभ्युपैतु॥ ९ ॥

राजा धृतराष्ट्र स्वयं तो विषम-बर्तावमें लगे हुए हैं; परंतु दूसरोंमें समतापूर्ण बर्ताव देखना चाहते हैं, यह अच्छी बात नहीं है। वे जैसा अपना बर्ताव देखते हैं, वैसा ही दूसरोंका भी देखें॥ ९ ॥

आसन्नमग्निं तु निदाघकाले
गम्भीरकक्षे गहने विसृज्य।
यथा विवृद्धं वायुवशेन शोचेत्
क्षेमं मुमुक्षुः शिशिरव्यपाये॥ १० ॥

प्राप्तैश्वर्यो धृतराष्ट्रोऽद्य राजा
लालप्यते संजय कस्य हेतोः।
प्रगृह्य दुर्बुद्धिमनार्जवे रतं
पुत्रं मन्दं मूढममन्त्रिणं तु॥ ११ ॥

संजय! जैसे कोई मनुष्य शिशिर ऋतु बीतनेपर ग्रीष्म-ऋतुकी दोपहरीमें बहुत घास-फूससे भरे हुए गहन वनमें आग लगा दे और जब हवा चलनेसे वह आग सब ओर फैलकर अपने निकट आ जाय, तब उसकी ज्वालासे अपने आपको बचानेके लिये वह कुशल-क्षेमकी इच्छा रखकर बार-बार शोक करने लगे, उसी प्रकार आज राजा धृतराष्ट्र सारा ऐश्वर्य अपने अधिकारमें करके खोटी बुद्धिवाले, उद्दण्ड, भाग्यहीन, मूर्ख और किसी अच्छे मन्त्रीकी सलाहके अनुसार न चलनेवाले अपने पुत्र दुर्योधनका पक्ष लेकर अब किस लिये (दीनकी भाँति) विलाप करते हैं?॥ १०-११ ॥

अनाप्तवच्चाप्ततमस्य वाचः
सुयोधनो विदुरस्यावमत्य।
सुतस्य राजा धृतराष्ट्रः प्रियैषी
सम्बुध्यमानो विशतेऽधर्ममेव॥ १२ ॥

अपने पुत्र दुर्योधनका प्रिय चाहनेवाले राजा धृतराष्ट्र अपने सबसे अधिक विश्वासपात्र विदुरजीके वचनोंको अविश्वस-नीय-से समझकर उनकी अवहेलना करके जान-बूझकर अधर्मके ही पथका आश्रय ले रहे हैं॥ १२ ॥

मेधाविनं ह्यर्थकामं कुरूणां
बहुश्रुतं वाग्मिनं शीलवन्तम्।
स तं राजा धृतराष्ट्रः कुरुभ्यो
न सस्मार विदुरं पुत्रकाम्यात्॥ १३ ॥

बुद्धिमान्, कौरवोंके अभीष्टकी सिद्धि चाहनेवाले, बहुश्रुत विद्वान्, उत्तम वक्ता तथा शीलवान् विदुरजीका भी राजा धृतराष्ट्रने कौरवोंके हितके लिये पुत्रस्नेहकी लालसासे आदर नहीं किया॥ १३ ॥

मानघ्नस्यासौ मानकामस्य चेर्षोः
संरम्भिणश्चार्थधर्मातिगस्य।
दुर्भाषिणो मन्युवशानुगस्य
कामात्मनो दौर्हृदैर्भावितस्य॥ १४ ॥
अनेयस्याश्रेयसो दीर्घमन्यो-
र्मित्रद्रुहः संजय पापबुद्धेः।
सुतस्य राजा धृतराष्ट्रः प्रियैषी
प्रपश्यमानःप्राजहाद् धर्मकामौ॥ १५ ॥

संजय! दूसरोंका मान मिटाकर अपना मान चाहनेवाले, ईर्ष्यालु, क्रोधी, अर्थ और धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले, कटुवचन बोलनेवाले, क्रोध और दीनताके वशवर्ती, कामात्मा (भोगासक्त), पापियोंसे प्रशंसित, शिक्षा देनेके अयोग्य, भाग्यहीन, अधिक क्रोधी, मित्रद्रोही तथा पापबुद्धि पुत्र दुर्योधनका प्रिय चाहनेवाले

राजा धृतराष्ट्रने समझते हुए भी धर्म और कामका परित्याग किया है ॥ १४-१५ ॥

तदैव मे संजय दीव्यतोऽभू-
न्मतिः कुरूणामागतः स्यादभावः।
काव्यां वाचं विदुरो भाषमाणो
न विन्दते यद् धार्तराष्ट्रात् प्रशंसाम् ॥ १६ ॥

संजय ! जिस समय मैं जूआ खेल रहा था, उसी समयकी बात है, विदुरजी शुक्रनीतिके अनुसार युक्तियुक्त वचन कह रहे थे, तो भी दुर्योधनकी ओरसे उन्हें प्रशंसा नहीं प्राप्त हुई। तभी मेरे मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ था कि सम्भवतः कौरवोंका विनाशकाल समीप आ गया है ॥ १६ ॥

क्षत्तुर्यदा नान्ववर्तन्त बुद्धिं
कृच्छ्रं कुरून् सूत तदाभ्याजगाम।
यावत् प्रज्ञामन्ववर्तन्त तस्य
तावत् तेषां राष्ट्रवृद्धिर्बभूव ॥ १७ ॥

सूत ! जबतक कौरव विदुरजीकी बुद्धिके अनुसार बर्ताव करते और चलते थे, तबतक सदा उनके राष्ट्रकी वृद्धि ही होती रही। जबसे उन्होंने विदुरजीसे सलाह लेना छोड़ दिया, तभीसे उनपर विपत्ति आ पड़ी है ॥ १७ ॥

तदर्थलुब्धस्य निबोध मेऽद्य
ये मन्त्रिणो धार्तराष्ट्रस्य सूत।
दुःशासनः शकुनिः सूतपुत्रो
गावल्गणे पश्य सम्मोहमस्य ॥ १८ ॥

गवल्गणपुत्र संजय ! धनके लोभी दुर्योधनके जो-जो मन्त्री हैं, उनके नाम आज तुम मुझसे सुन लो। दुःशासन, शकुनि तथा सूतपुत्र कर्ण—ये ही उसके मन्त्री हैं। उसका मोह तो देखो ॥ १८ ॥

सोऽहं न पश्यामि परीक्षमाणः
कथं स्वस्ति स्यात् कुरुसृंजयानाम्।
आत्तैश्वर्यो धृतराष्ट्रः परेभ्यः
प्रव्राजिते विदुरे दीर्घदृष्टौ ॥ १९ ॥
आशंसते वै धृतराष्ट्रः सपुत्रो
महाराज्यमसपत्नं पृथिव्याम्।
तस्मिञ्छमः केवलं नोपलभ्यः
सर्वं स्वकं मद्गते मन्यतेऽर्थम् ॥ २० ॥

मैं बहुत सोचने-विचारनेपर भी कोई ऐसा उपाय नहीं देखता, जिससे कुरु तथा सृंजयवंश दोनोंका कल्याण हो। धृतराष्ट्र हम शत्रुओंसे ऐश्वर्य छीनकर दूरदर्शी विदुरको देशसे निर्वासित करके अपने पुत्रोंसहित भूमण्डलका निष्कण्टक साम्राज्य प्राप्त करनेकी आशा लगाये बैठे हैं। ऐसे लोभी नरेशके साथ केवल संधि ही बनी रहेगी, (युद्ध आदिका अवसर नहीं आयेगा) यह सम्भव नहीं जान पड़ता; वे हमलोगोंके वन चले जानेपर वे हमारे सारे धनको अपना ही मानने लगे हैं ॥ १९-२० ॥

यत् तत् कर्णो मन्यते पारणीयं
युद्धे गृहीतायुधमर्जुनं वै।
आसंश्च युद्धानि पुरा महान्ति
कथं कर्णो नाभवद् द्वीप एषाम् ॥ २१ ॥

कर्ण जो ऐसा समझता है कि युद्धमें धनुष उठाये अर्जुनको जीत लेना सहज है, वह उसकी भूल है। पहले तो बड़े-बड़े युद्ध हो चुके हैं। उनमें कर्ण इन कौरवोंका आश्रयदाता क्यों न हो सका ? ॥ २१ ॥

कर्णश्च जानाति सुयोधनश्च
द्रोणश्च जानाति पितामहश्च।
अन्ये च ये कुरवस्तत्र सन्ति
यथार्जुनान्नास्त्यपरो धनुर्धरः ॥ २२ ॥

अर्जुनसे बढ़कर दूसरा कोई धनुर्धर नहीं है—इस बातको कर्ण जानता है, दुर्योधन जानता है, आचार्य द्रोण और पितामह भीष्म जानते हैं तथा अन्य जो-जो कौरव वहाँ रहते हैं, वे सब भी जानते हैं ॥ २२ ॥

जानन्त्येतत् कुरवः सर्व एव
ये चाप्यन्ये भूमिपालाः समेताः।
दुर्योधने राज्यमिहाभवद् यथा
अरिंदमे फाल्गुने विद्यमाने ॥ २३ ॥

समस्त कौरव तथा वहाँ एकत्र हुए अन्य भूपाल भी इस बातको जानते हैं कि शत्रुदमन अर्जुनके उपस्थित रहते हुए दुर्योधनने किस उपायसे पाण्डवोंका राज्य प्राप्त किया (अर्थात् उन्होंने अपनी वीरतासे नहीं, छलपूर्वक जूएके द्वारा ही हमारा राज्य लिया) ॥ २३ ॥

तेनानुबन्धं मन्यते धार्तराष्ट्रः
शक्यं हर्तुं पाण्डवानां ममत्वम्।
किरीटिना तालमात्रायुधेन
तद्वेदिना संयुगं तत्र गत्वा ॥ २४ ॥

राज्य आदिपर जो पाण्डवोंका ममत्व है, उसे हर लेना क्या दुर्योधन सरल समझता है ? इसके लिये उसे किरीटधारी अर्जुनके साथ युद्धभूमिमें उतरना पड़ेगा, जो चार हाथ लंबा धनुष धारण करते हैं और धनुर्वेदके श्रेष्ठ विद्वान् हैं ॥ २४ ॥

गाण्डीवविस्फारितशब्दमाजा-
वशृण्वाना धार्तराष्ट्रा ध्रियन्ते।
क्रुद्धं न चेदीक्षते भीमसेनं
सुयोधनो मन्यते सिद्धमर्थम् ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्र तभीतक जीवित हैं, जबतक कि वे युद्धमें गाण्डीव धनुषका टंकारघोष नहीं सुन रहे हैं। दुर्योधन जबतक क्रोधमें भरे हुए भीमसेनको नहीं देख रहा है, तभीतक अपने राज्यप्राप्तिसम्बन्धी मनोरथको सिद्ध हुआ समझे॥

इन्द्रोऽप्येतन्नोत्सहेत् तात हर्तु-
मैश्वर्यं नो जीवति भीमसेने।
धनंजये नकुले चैव सूत
तथा वीरे सहदेवे सहिष्णौ॥ २६॥

तात संजय! जबतक भीमसेन, अर्जुन, नकुल तथा सहनशील वीर सहदेव जीवित हैं, तबतक इन्द्र भी हमारे ऐश्वर्यका अपहरण नहीं कर सकता॥ २६॥

स चेदेतां प्रतिपद्येत बुद्धिं
वृद्धो राजा सह पुत्रेण सूत।
एवं रणे पाण्डवकोपदग्धा
न नश्येयुः संजय धार्तराष्ट्राः॥ २७॥

सूत! यदि राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके साथ यह अच्छी तरह समझ लेंगे कि पाण्डवोंको राज्य न देनेमें कुशल नहीं है तो धृतराष्ट्रके सभी पुत्र समराङ्गणमें पाण्डवोंकी क्रोधाग्निसे दग्ध होकर नष्ट होनेसे बच जायँगे॥ २७॥

जानासि त्वं क्लेशमस्मासु वृत्तं
त्वां पूजयन् संजयाहं क्षमेयम्।
यच्चास्माकं कौरवैर्भूतपूर्वं
या नो वृत्तिर्धार्तराष्ट्रे तदाऽऽसीत्॥ २८॥

संजय! हमलोगोंको कौरवोंके कारण पहले कितना क्लेश उठाना पड़ा है, यह तुम भलीभाँति जानते हो तथापि मैं तुम्हारा आदर करते हुए उनके सब अपराधोंको क्षमा कर सकता हूँ। दुर्योधन आदि कौरवोंने पहले हमारे साथ कैसा बर्ताव किया है और उस समय हमलोगोंका उनके साथ कैसा बर्ताव रहा है, यह भी तुमसे छिपा नहीं है॥ २८॥

अद्यापि तत् तत्र तथैव वर्ततां
शान्तिं गमिष्यामि यथा त्वमात्थ।
इन्द्रप्रस्थे भवतु ममैव राज्यं
सुयोधनो यच्छतु भारताग्र्यः॥ २९॥

अब भी वह सब कुछ पहलेके ही समान हो सकता है। जैसा तुम कह रहे हो, उसके अनुसार मैं शान्ति धारण कर लूँगा। परंतु इन्द्रप्रस्थमें पूर्ववत् मेरा ही राज्य रहे और भरतवंशशिरोमणि सुयोधन मेरा वह राज्य मुझे लौटा दे॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरवाक्यविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २६॥

सप्तविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको युद्धमें दोषकी सम्भावना बतलाकर उन्हें युद्धसे उपरत करनेका प्रयत्न करना

संजय उवाच

धर्मनित्या पाण्डव ते विचेष्टा
लोके श्रुता दृश्यते चापि पार्थ।
महास्रावं जीवितं चाप्यनित्यं
सम्पश्य त्वं पाण्डव मा व्यनीनशः॥ १॥

संजय बोला—पाण्डुनन्दन! आपकी प्रत्येक चेष्टा सदा धर्मके अनुसार ही होती है। कुन्तीकुमार! आपकी वह धर्मयुक्त चेष्टा लोकमें तो विख्यात है ही, देखनेमें भी आ रही है। यद्यपि यह जीवन अनित्य है तथापि इससे महान् सुयशकी प्राप्ति हो सकती है। पाण्डव! आप जीवनकी उस अनित्यतापर दृष्टिपात करें और अपनी कीर्तिको नष्ट न होने दें॥ १॥

न चेद् भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात्
प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो।
भैक्षचर्यामन्धकवृष्णिराज्ये
श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम्॥ २॥

अजातशत्रो! यदि कौरव युद्ध किये बिना आपको राज्यका भाग न दें, तो भी अन्धक और वृष्णिवंशी क्षत्रियोंके राज्यमें भीख माँगकर जीवन-निर्वाह कर लेना मैं आपके लिये श्रेष्ठ समझता हूँ; परंतु युद्ध करके राज्य लेना अच्छा नहीं समझता॥

अल्पकालं जीवितं यन्मनुष्ये
महास्रावं नित्यदुःखं चलं च।
भूयश्च तद् यशसो नानुरूपं
तस्मात् पापं पाण्डव मा कृथास्त्वम्॥ ३॥

मनुष्यका जो यह जीवन है, वह बहुत थोड़े समयतक रहनेवाला है। इसको क्षीण करनेवाले महान् दोष इसे प्राप्त होते रहते हैं। यह सदा दुःखमय और चञ्चल है। अतः पाण्डुनन्दन! आप युद्धरूपी पाप न कीजिये। वह आपके सुयशके अनुरूप नहीं है॥ ३॥

कामा मनुष्यं प्रसृजन्त एते
धर्मस्य ये विघ्नमूलं नरेन्द्र।
पूर्वं नरस्तान् मतिमान् प्रणिघ्नँ-
ल्लोके प्रशंसां लभतेऽनवद्याम्॥ ४॥

नरेन्द्र ! जो धर्माचरणमें विघ्न डालनेकी मूल कारण हैं, वे कामनाएँ प्रत्येक मनुष्यको अपनी ओर खींचती हैं। अतः बुद्धिमान् मनुष्य पहले उन कामनाओंको नष्ट करता है, तदनन्तर जगत्में निर्मल प्रशंसाका भागी होता है ॥ ४ ॥

निबन्धनी ह्यर्थतृष्णेह पार्थ
तामिच्छतां बाध्यते धर्म एव।
धर्मं तु यः प्रवृणीते स बुद्धः
कामे गृध्नो हीयतेऽर्थानुरोधात् ॥ ५ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस संसारमें धनकी तृष्णा ही बन्धनमें डालनेवाली है। जो धनकी तृष्णामें फँसता है, उसका धर्म भी नष्ट हो जाता है। जो धर्मका वरण करता है, वही ज्ञानी है। भोगोंकी इच्छा करनेवाला मनुष्य तो धनमें आसक्त होनेके कारण धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं
महाप्रतापः सवितेव भाति।
हीनो हि धर्मेण महीमपीमां
लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः ॥ ६ ॥

तात ! धर्म, अर्थ और काम तीनोंमें धर्मको प्रधान मानकर तदनुसार चलनेवाला पुरुष महाप्रतापी होकर सूर्यकी भाँति चमक उठता है; परंतु जो धर्मसे हीन है और जिसकी बुद्धि पापमें ही लगी हुई है, वह मनुष्य इस सारी पृथ्वीको पाकर भी कष्ट ही भोगता रहता है ॥ ६ ॥

वेदोऽधीतश्चरितं ब्रह्मचर्यं
यज्ञैरिष्टं ब्राह्मणेभ्यश्च दत्तम्।
परं स्थानं मन्यमानेन भूय
आत्मा दत्तो वर्षपूगं सुखेभ्यः ॥ ७ ॥

आपने परलोकपर विश्वास करके वेदोंका अध्ययन, ब्रह्मचर्यका पालन एवं यज्ञोंका अनुष्ठान किया है तथा ब्राह्मणोंको दान दिया है और अनन्त वर्षोंतक वहाँके सुख भोगनेके लिये अपने-आपको भी समर्पित कर दिया है ॥ ७ ॥

सुखप्रिये सेवमानोऽतिवेलं
योगाभ्यासे यो न करोति कर्म।
वित्तक्षये हीनसुखोऽतिवेलं
दुःखं शेते कामवेगप्रणुन्नः ॥ ८ ॥

जो मनुष्य भोग तथा प्रिय (पुत्रादि) का निरन्तर सेवन करते हुए योगाभ्यासोपयोगी कर्मका सेवन नहीं करता, वह धनका क्षय हो जानेपर सुखसे वञ्चित हो कामवेगसे अत्यन्त विक्षुब्ध होकर सदा दुःखशय्यापर शयन करता रहता है ॥

एवं पुनर्ब्रह्मचर्याप्रसक्तो
हित्वा धर्मं यः प्रकरोत्यधर्मम्।
अश्रद्दधत् परलोकाय मूढो
हित्वा देहं तप्यते प्रेत्य मन्दः ॥ ९ ॥

जो ब्रह्मचर्यपालनमें प्रवृत्त न हो धर्मका त्याग करके अधर्मका आचरण करता है तथा जो मूढ़ परलोकपर विश्वास नहीं रखता है, वह मन्दभाग्य मानव शरीर त्यागनेके पश्चात् परलोकमें बड़ा कष्ट पाता है ॥ ९ ॥

न कर्मणां विप्रणाशोऽस्त्यमुत्र
पुण्यानां वाप्यथवा पापकानाम्।
पूर्वं कर्तुर्गच्छति पुण्यपापं
पश्चात् त्वेनमनुयात्येव कर्ता ॥ १० ॥

पुण्य अथवा पाप किन्हीं भी कर्मोंका परलोकमें नाश नहीं होता है। पहले कर्ताके पुण्य और पाप परलोकमें जाते हैं, फिर उन्हींके पीछे-पीछे कर्ता जाता है ॥ १० ॥

न्यायोपेतं ब्राह्मणेभ्योऽथ दत्तं
श्रद्धापूतं गन्धरसोपपन्नम्।
अन्वाहार्येषूत्तमदक्षिणेषु
तथारूपं कर्म विख्यायते ते ॥ ११ ॥

लोकमें आपके कर्म इस रूपमें विख्यात हैं कि आपने उत्तम दक्षिणायुक्त वृद्धिश्राद्ध आदिके अवसरोंपर ब्राह्मणोंको न्यायोपार्जित प्रचुर धन एवं श्रद्धासहित उत्तम गन्धयुक्त सुस्वादु एवं पवित्र अन्नका दान किया है ॥ ११ ॥

इह क्षेत्रे क्रियते पार्थ कार्यं
न वै किञ्चित् क्रियते प्रेत्य कार्यम्।
कृतं त्वया पारलौक्यं च कर्म
पुण्यं महत् सद्भिरतिप्रशस्तम् ॥ १२ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस शरीरके रहते हुए ही कोई सत्कर्म किया जा सकता है। मरनेके बाद कोई कार्य नहीं किया जा सकता। आपने तो परलोकमें सुख देनेवाला महान् पुण्यकर्म किया है, जिसकी साधु पुरुषोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है ॥ १२ ॥

जहाति मृत्युं च जरां भयं च
न क्षुत्पिपासे मनसोऽप्रियाणि।
न कर्तव्यं विद्यते तत्र किञ्चि-
दन्यत्र वै चेन्द्रियप्रीणनाद्धि ॥ १३ ॥

(पुण्यात्मा) मनुष्य (स्वर्गलोकमें जाकर) मृत्यु, जरा तथा भय त्याग देता है। वहाँ उसे मनके प्रतिकूल भूख-प्यासका कष्ट भी नहीं सहन करना पड़ता है। परलोकमें इन्द्रियोंको सुख पहुँचानेके सिवा दूसरा कोई कर्तव्य नहीं रह जाता*॥ १३ ॥

एवंरूपं कर्मफलं नरेन्द्र
मात्रावहं हृदयस्य प्रियेण।

* देवयोनि भोगयोनि है, कर्मयोनि नहीं। उसमें नया कर्म करनेके लिये देवता बाध्य नहीं हैं।

स क्रोधजं पाण्डव हर्षजं च
लोकावुभौ मा प्रहासीश्चिराय ॥ १४ ॥

नरेन्द्र ! इस प्रकार हृदयको प्रिय लगनेवाले विषयसे कर्मफलकी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये । पाण्डुनन्दन ! आप क्रोधजनित नरक और हर्षजनित स्वर्ग—इन दोनों लोकोंमें कभी न जायँ (; अपितु सनातन मोक्ष-सुखके लिये निष्काम कर्म अथवा ज्ञानयोगका ही साधन करें) ॥ १४ ॥

अन्तं गत्वा कर्मणां मा प्रजह्याः
सत्यं दमं चार्जवमानृशंस्यम् ।
अश्वमेधं राजसूयं तथेज्याः
पापस्यान्तं कर्मणो मा पुनर्गाः ॥ १५ ॥

इस तरह (ज्ञानाग्निके द्वारा) कर्मोंको दग्ध करके सत्य, दम, आर्जव (सरलता) तथा अनृशंसता (दया) इन सद्गुणोंका कभी त्याग न करें । अश्वमेध, राजसूय और अन्य यज्ञोंको भी न छोड़ें; परंतु युद्ध-जैसे पापकर्मके निकट फिर कभी न जायँ ॥ १५ ॥

तच्चेदेवं द्वेषरूपेण पार्थाः
करिष्यध्वं कर्म पापं चिराय ।
निवसध्वं वर्षपूगान् वनेषु
दुःखं वासं पाण्डवा धर्म एव ॥ १६ ॥

कुन्तीकुमारो ! यदि आपलोगोंको राज्यके लिये चिरस्थायी विद्वेषके रूपमें युद्धरूप पापकर्म ही करना है, तब तो मैं यही कहूँगा कि आप बहुत वर्षोंतक दुःखमय वनवासका ही कष्ट भोगते रहें । पाण्डवो ! यह वनवास ही आपके लिये धर्मरूप होगा ॥ १६ ॥

अप्रव्रज्येमा स्म हित्वाऽऽपुरस्ता-
दात्माधीनं यद् बलं ह्येतदासीत् ।
नित्यं च वश्याः सचिवास्तवेमे
जनार्दनो युयुधानश्च वीरः ॥ १७ ॥

पहले (द्यूतक्रीडाके समय ही) हमलोग बलपूर्वक इन्हें अपने वशमें रखकर वनमें गये बिना ही यहाँ रह सकते थे; क्योंकि आज जो सेना एकत्र हुई है, यह पहले भी अपने ही लोगोंके अधीन थी और ये भगवान् श्रीकृष्ण तथा वीरवर सात्यकि सदासे ही आपलोगोंके (प्रेमके कारण) वशीभूत एवं आपके सहायक रहे हैं ॥ १७ ॥

मत्स्यो राजा रुक्मरथः सपुत्रः
प्रहारिभिः सह वीरैर्विराटः ।
राजानश्च ये विजिताः पुरस्तात्
त्वामेव ते संश्रयेयुः समस्ताः ॥ १८ ॥

प्रहार करनेमें कुशल वीर सैनिकों तथा पुत्रोंके साथ सुवर्णमय रथसे सुशोभित मत्स्यदेशके राजा विराट तथा दूसरे भी बहुत से नरेश, जिन्हें पहले आपलोगोंने युद्धमें जीता था, वे सबके सब संग्राममें आपका ही पक्ष लेते ॥ १८ ॥

महासहायः प्रतपन् बलस्थः
पुरस्कृतो वासुदेवार्जुनाभ्याम् ।
वरान् हनिष्यन् द्विषतो रङ्गमध्ये
व्यनेष्यथा धार्तराष्ट्रस्य दर्पम् ॥ १९ ॥

उस समय आप महान् सहायकोंसे सम्पन्न और बलशाली थे, आप श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके आगे-आगे चलकर शत्रुओंपर आक्रमण कर सकते थे । समराङ्गणमें अपने महान् शत्रुओंका संहार करते हुए आप दुर्योधनके घमंडको चूर-चूर कर सकते थे ॥ १९ ॥

बलं कस्माद् वर्धयित्वा परस्य
निजान् कस्मात् कर्शयित्वा सहायान् ।
निरुष्य कस्माद् वर्षपूगान् वनेषु
युयुत्ससे पाण्डव हीनकालम् ॥ २० ॥

पाण्डुनन्दन ! फिर क्या कारण है कि आपने शत्रुकी शक्तिको बढ़नेका अवसर दिया ? किसलिये अपने सहायकोंको दुर्बल बनाया और क्यों बारह वर्षोंतक वनमें निवास किया ? फिर आज जब वह अनुकूल अवसर बीत चुका है, आपको युद्ध करनेकी इच्छा क्यों हुई है ? ॥ २० ॥

अप्राज्ञो वा पाण्डव युध्यमानो-
ऽधर्मज्ञो वा भूतिमथोऽभ्युपैति ।
प्रज्ञावान् वा बुध्यमानोऽपि धर्मं
संस्तम्भाद् वा सोऽपि भूतेरपैति॥ २१ ॥

पाण्डुकुमार ! अज्ञानी अथवा पापी मनुष्य भी युद्ध करके सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है और बुद्धिमान् अथवा धर्मज्ञ पुरुष भी दैवी बाधाके कारण पराजित होकर ऐश्वर्यसे हाथ धो बैठता है ॥ २१ ॥

नाधर्मे ते धीयते पार्थ बुद्धि-
र्न संरम्भात् कर्म चकर्थ पापम् ।
आत्थ किं तत् कारणं यस्य हेतोः
प्रज्ञाविरुद्धं कर्म चिकीर्षसीदम् ॥ २२ ॥

कुन्तीनन्दन ! आपकी बुद्धि कभी अधर्ममें नहीं लगती तथा आपने क्रोधमें आकर भी कभी पाप कर्म नहीं किया है, तो बताइये, कौन-सा ऐसा (प्रबल) कारण है, जिसके लिये अब आप अपनी बुद्धिके विरुद्ध यह युद्ध-जैसा पापकर्म करना चाहते हैं ?

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि
यशोमुषं पापफलोदयं वा ।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ २३ ॥

महाराज ! जो बिना व्याधिके ही उत्पन्न होता है, स्वादमें कड़ुआ है, जिसके कारण सिरमें दर्द होने लगता है, जो यशका नाशक और पापरूप फलको प्रकट करनेवाला है, जो सज्जन पुरुषोंके ही पीने योग्य है, जिसे असाधु पुरुष नहीं पीते हैं, उस क्रोधको आप पी लीजिये और शान्त हो जाइये ॥ २३ ॥

पापानुबन्धं को नु तं कामयेत
क्षमैव ते ज्यायसी नोत भोगाः।
यत्र भीष्मः शान्तनवो हतः स्याद्
यत्र द्रोणः सहपुत्रो हतः स्यात् ॥ २४ ॥

जो पापकी जड़ है, उस क्रोधकी इच्छा कौन करेगा ? आपकी दृष्टिमें तो क्षमा ही सबसे श्रेष्ठ वस्तु है, वे भोग नहीं, जिनके लिये शान्तनुनन्दन भीष्म तथा पुत्रसहित आचार्य द्रोणकी हत्या की जाय ॥ २४ ॥

कृपः शल्यः सौमदत्तिर्विकर्णो
विविंशतिः कर्णदुर्योधनौ च।
एतान् हत्वा कीदृशं तत् सुखं स्याद्
यद् विन्देथास्तदनु ब्रूहि पार्थ ॥ २५ ॥

कुन्तीनन्दन ! ऐसा कौन-सा सुख हो सकता है, जिसे आप कृपाचार्य, शल्य, भूरिश्रवा, विकर्ण, विविंशति, कर्ण तथा दुर्योधन—इन सबका वध करके पाना चाहते हैं, कृपया बताइये ॥ २५ ॥

लब्ध्वापीमां पृथिवीं सागरान्तां
जरामृत्यू नैव हि त्वं प्रजह्याः।
प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राज-
न्नेवं विद्वान् नैव युद्धं कुरु त्वम् ॥ २६ ॥

राजन् ! समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वीको पाकर भी आप जरा-मृत्यु, प्रिय-अप्रिय तथा सुख-दुःखसे पिण्ड नहीं छुड़ा सकते। आप इन सब बातोंको अच्छी तरह जानते हैं; अतः मेरी प्रार्थना है कि आप युद्ध न करें ॥ २६ ॥

अमात्यानां यदि कामस्य हेतो-
रेवं युक्तं कर्म चिकीर्षसि त्वम्।
अपक्रामेः स्वं प्रदायैव तेषां
मा गास्त्वं वै देवयानात् पथोऽद्य ॥ २७ ॥

यदि आप अपने मन्त्रियोंकी इच्छासे ही ऐसा पापमय युद्ध करना चाहते हैं तो अपना सर्वस्व उन मन्त्रियोंको ही देकर वानप्रस्थ ग्रहण कर लीजिये; परंतु अपने कुटुम्बका वध करके देवयानमार्गसे भ्रष्ट न होइये ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२७॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

संजयको युधिष्ठिरका उत्तर

युधिष्ठिर उवाच

असंशयं संजय सत्यमेतद्
धर्मो वरः कर्मणां यत् त्वमात्थ।
ज्ञात्वा तु मां संजय गर्हयेस्त्वं
यदि धर्मं यद्यधर्मं चरेयम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! सब प्रकारके कर्मोंमें धर्म ही श्रेष्ठ है। यह जो तुमने कहा है, वह बिल्कुल ठीक है। इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं है; परंतु मैं धर्म कर रहा हूँ या अधर्म, इस बातको पहले अच्छी तरह जान लो; फिर मेरी निन्दा करना ॥ १ ॥

यत्राधर्मो धर्मरूपाणि धत्ते
धर्मः कृत्स्नो दृश्यतेऽधर्मरूपः।
बिभ्रद् धर्मो धर्मरूपं तथा च
विद्वांसस्तं सम्प्रपश्यन्ति बुद्ध्या ॥ २ ॥

कहीं तो अधर्म ही धर्मका रूप धारण कर लेता है, कहीं पूर्णतया धर्म ही अधर्म दिखायी देता है तथा कहीं धर्म अपने वास्तविक स्वरूपको ही धारण किये रहता है। विद्वान् पुरुष अपनी बुद्धिसे विचार करके उसके असली रूपको देख और समझ लेते हैं ॥ २ ॥

एवं तथैवापदि लिङ्गमेतद्
धर्माधर्मौ नित्यवृत्ती भजेताम्।
आद्यं लिङ्गं यस्य तस्य प्रमाण-
मापद्धर्मं संजय तं निबोध ॥ ३ ॥

इस प्रकार जो यह विभिन्न वर्णोंका अपना-अपना लक्षण (लिङ्ग) (जैसे ब्राह्मणके लिये अध्ययनाध्यापन आदि, क्षत्रियके लिये शौर्य आदि तथा वैश्यके लिये कृषि आदि) है, वह ठीक उसी प्रकार उस-उस वर्णके लिये धर्मरूप है और वही दूसरे वर्णके लिये अधर्मरूप है। इस प्रकार यद्यपि धर्म और अधर्म

सदा सुनिश्चितरूपसे रहते हैं तथापि आपत्तिकालमें वे दूसरे वर्णके लक्षणको भी अपना लेते हैं । प्रथम वर्ण ब्राह्मणका जो विशेष लक्षण (याजन और अध्यापन आदि) है, वह उसीके लिये प्रमाणभूत है (क्षत्रिय आदिको आपत्तिकालमें भी याजन और अध्यापन आदिका आश्रय नहीं लेना चाहिये) । संजय ! आपद्धर्मका क्या स्वरूप है, उसे तुम (शास्त्रके वचनोंद्वारा) जानो ॥ ३ ॥

लुप्तायां तु प्रकृतौ येन कर्म
निष्पादयेत् तत् परीप्सेद् विहीनः ।
प्रकृतिस्थश्चापदि वर्तमान
उभौ गर्ह्यौ भवतः संजयैतौ ॥ ४ ॥

प्रकृति (जीविकाके साधन) का सर्वथा लोप हो जानेपर जिस वृत्तिका आश्रय लेनेसे (जीवनकी रक्षा एवं) सत्कर्मोंका अनुष्ठान हो सके, जीविकाहीन पुरुष उसे अवश्य अपनानेकी इच्छा करे । संजय ! जो प्रकृतिस्थ (स्वाभाविक स्थितिमें स्थित) होकर भी आपद्धर्मका आश्रय लेता है, वह (अपनी लोभवृत्तिके कारण) निन्दनीय होता है तथा जो आपत्तिग्रस्त होनेपर भी (उस समयके अनुरूप शास्त्रोक्त साधनको अपनाकर) जीविका नहीं चलाता है, वह (जीवन और कुटुम्बकी रक्षा न करनेके कारण) गर्हणीय होता है । इस प्रकार ये दोनों तरहके लोग निन्दाके पात्र होते हैं ॥ ४ ॥

अविनाशमिच्छतां ब्राह्मणानां
प्रायश्चित्तं विहितं यद् विधात्रा ।
सम्पश्येथाः कर्मसु वर्तमानान्
विकर्मस्थान् संजय गर्हयेस्त्वम् ॥ ५ ॥

सूत ! (जीविकाका मुख्य साधन न होनेपर) ब्राह्मणोंका नाश न हो जाय, ऐसी इच्छा रखनेवाले विधाताने जो (उनके लिये अन्य वर्णोंकी वृत्तिसे जीविका चलाकर अन्तमें) प्रायश्चित्त करनेका विधान किया है, उसपर दृष्टिपात करो । फिर यदि हम आपत्तिकालमें भी (स्वाभाविक) कर्मोंमें ही लगे हों और आपत्तिकाल न होनेपर भी अपने वर्णके विपरीत कर्मोंमें स्थित हो रहे हों तो उस दशामें हमें देखकर तुम (अवश्य) हमारी निन्दा करो ॥ ५ ॥

मनीषिणां सत्त्वविच्छेदनाय
विधीयते सत्सु वृत्तिः सदैव ।
अब्राह्मणाः सन्ति तु ये न वैद्याः
सर्वोत्सङ्गं साधु मन्येत तेभ्यः ॥ ६ ॥

मनीषी पुरुषोंको सत्त्व आदिके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये सदा ही सत्पुरुषोंका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करना चाहिये, यह उनके लिये शास्त्रीय विधान है । परंतु जो ब्राह्मण नहीं हैं तथा जिनकी ब्रह्मविद्यामें निष्ठा नहीं है, उन सबके लिये सबके समीप अपने धर्मके अनुसार ही जीविका चलानी चाहिये ॥ ६ ॥

तदध्वानः पितरो ये च पूर्वे
पितामहा ये च तेभ्यः परेऽन्ये ।
यज्ञैषिणो ये च हि कर्म कुर्यु-
र्नान्यं ततो नास्तिकोऽस्मीति मन्ये ॥ ७ ॥

यज्ञकी इच्छा रखनेवाले मेरे पूर्व पिता-पितामह आदि तथा उनके भी पूर्वज उसी मार्गपर चलते रहे (जिसकी मैंने ऊपर चर्चा की है) तथा जो कर्म करते हैं, वे भी उसी मार्गसे चलते आये हैं । मैं भी नास्तिक नहीं हूँ, इसलिये उसी मार्गपर चलता हूँ; उसके सिवा दूसरे मार्गपर विश्वास नहीं रखता हूँ ॥ ७ ॥

यत् किंचनेदं वित्तमस्यां पृथिव्यां
यद् देवानां त्रिदशानां परं यत् ।
प्राजापत्यं त्रिदिवं ब्रह्मलोकं
नाधर्मतः संजय कामयेयम् ॥ ८ ॥

संजय ! इस धरातलपर जो कुछ भी धन-वैभव विद्यमान है, नित्य यौवनसे युक्त रहनेवाले देवताओंके यहाँ जो धनराशि है, उससे भी उत्कृष्ट जो प्रजापतिका धन है तथा जो स्वर्गलोक एवं ब्रह्मलोकका सम्पूर्ण वैभव है, वह सब मिल रहा हो, तो भी मैं उसे अधर्मसे लेना नहीं चाहूँगा ।८।

धर्मेश्वरः कुशलो नीतिमांश्चा-
प्युपासिता ब्राह्मणानां मनीषी ।
नानाविधांश्चैव महाबलांश्च
राजन्यभोजाननुशास्ति कृष्णः ॥ ९ ॥
यदि ह्यहं विसृजन् साम गर्ह्यो
नियुध्यमानो यदि जह्यां स्वधर्मम् ।
महायशाः केशवस्तद् ब्रवीतु
वासुदेवस्तूभयोरर्थकामः ॥ १० ॥

यहाँ धर्मके स्वामी, कुशल नीतिज्ञ, ब्राह्मण भक्त और मनीषी भगवान् श्रीकृष्ण बैठे हैं, जो नाना प्रकारके महान् बलशाली क्षत्रियों तथा भोजवंशियोंका शासन करते हैं । यदि मैं सामनीति अथवा संधिका परित्याग करके निन्दाका पात्र होता होऊँ या युद्धके लिये उद्यत होकर अपने धर्मका उल्लङ्घन करता होऊँ तो ये महायशस्वी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अपने विचार प्रकट करें; क्योंकि ये दोनों पक्षोंका हित चाहनेवाले हैं ॥ ९-१० ॥

शैनेयोऽयं चेदयश्चान्धकाश्च
वार्ष्णेयभोजाः कुकुराः सृंजयाश्च ।
उपासीना वासुदेवस्य बुद्धिं
निगृह्य शत्रून् सुहृदो नन्दयन्ति ॥ ११ ॥

ये सात्यकि, ये चेदिदेशके लोग, ये अन्धक, वृष्णि, भोज, कुकुर तथा सृंजयवंशके क्षत्रिय इन्हीं भगवान् वासुदेवकी सलाहसे चलकर अपने शत्रुओंको बंदी बनाते और सुहृदोंको आनन्दित करते हैं ॥ ११ ॥

वृष्ण्यन्धका ह्युग्रसेनादयो वै
कृष्णप्रणीताः सर्व एवेन्द्रकल्पाः ।
मनस्विनः सत्यपरायणाश्च
महाबला यादवा भोगवन्तः ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णकी बतायी हुई नीतिके अनुसार बर्ताव करनेसे वृष्णि और अन्धकवंशके सभी उग्रसेन आदि क्षत्रिय इन्द्रके समान शक्तिशाली हो गये हैं तथा सभी यादव मनस्वी, सत्यपरायण, महान् बलशाली और भोगसामग्रीसे सम्पन्न हुए हैं ॥ १२ ॥

काश्यो बभ्रुः श्रियमुत्तमां गतो
लब्ध्वा कृष्णं भ्रातरमीशितारम् ।
यस्मै कामान् वर्षति वासुदेवो
ग्रीष्मात्यये मेघ इव प्रजाभ्यः ॥ १३ ॥

(पौण्ड्रक वासुदेवके छोटे भाई) काशीनरेश बभ्रु श्रीकृष्णको ही शासक बन्धुके रूपमें पाकर उत्तम राज्यलक्ष्मीके अधिकारी हुए हैं । भगवान् श्रीकृष्ण बभ्रुके लिये समस्त मनोवाञ्छित भोगोंकी वर्षा उसी प्रकार करते हैं, जैसे वर्षाकालमें मेघ प्रजाओंके लिये जलकी वृष्टि करता है ॥ १३ ॥

ईदृशोऽयं केशवस्तात विद्वान्
विद्धि ह्येनं कर्मणां निश्चयज्ञम् ।
प्रियश्च नः साधुतमश्च कृष्णो
नातिक्रामे वचनं केशवस्य ॥ १४ ॥

तात संजय ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे प्रभावशाली और विद्वान् हैं । ये प्रत्येक कर्मका अन्तिम परिणाम जानते हैं । ये हमारे सबसे बढ़कर प्रिय तथा श्रेष्ठतम पुरुष हैं । मैं इनकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

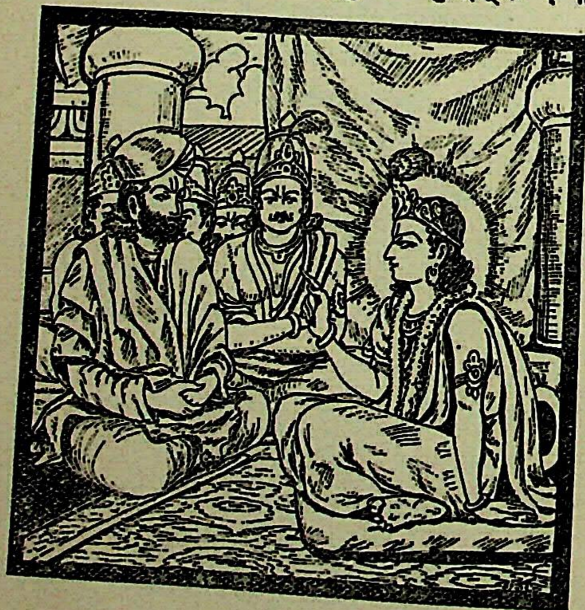
इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरवचनसम्बन्धी अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२८॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

संजयकी बातोंका प्रत्युत्तर देते हुए श्रीकृष्णका उसे धृतराष्ट्रके लिये चेतावनी देना

वासुदेव उवाच

अविनाशं संजय पाण्डवाना-
मिच्छाम्यहं भूतिमेषां प्रियं च ।
तथा राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सूत
समाशंसे बहुपुत्रस्य वृद्धिम् ॥ १ ॥

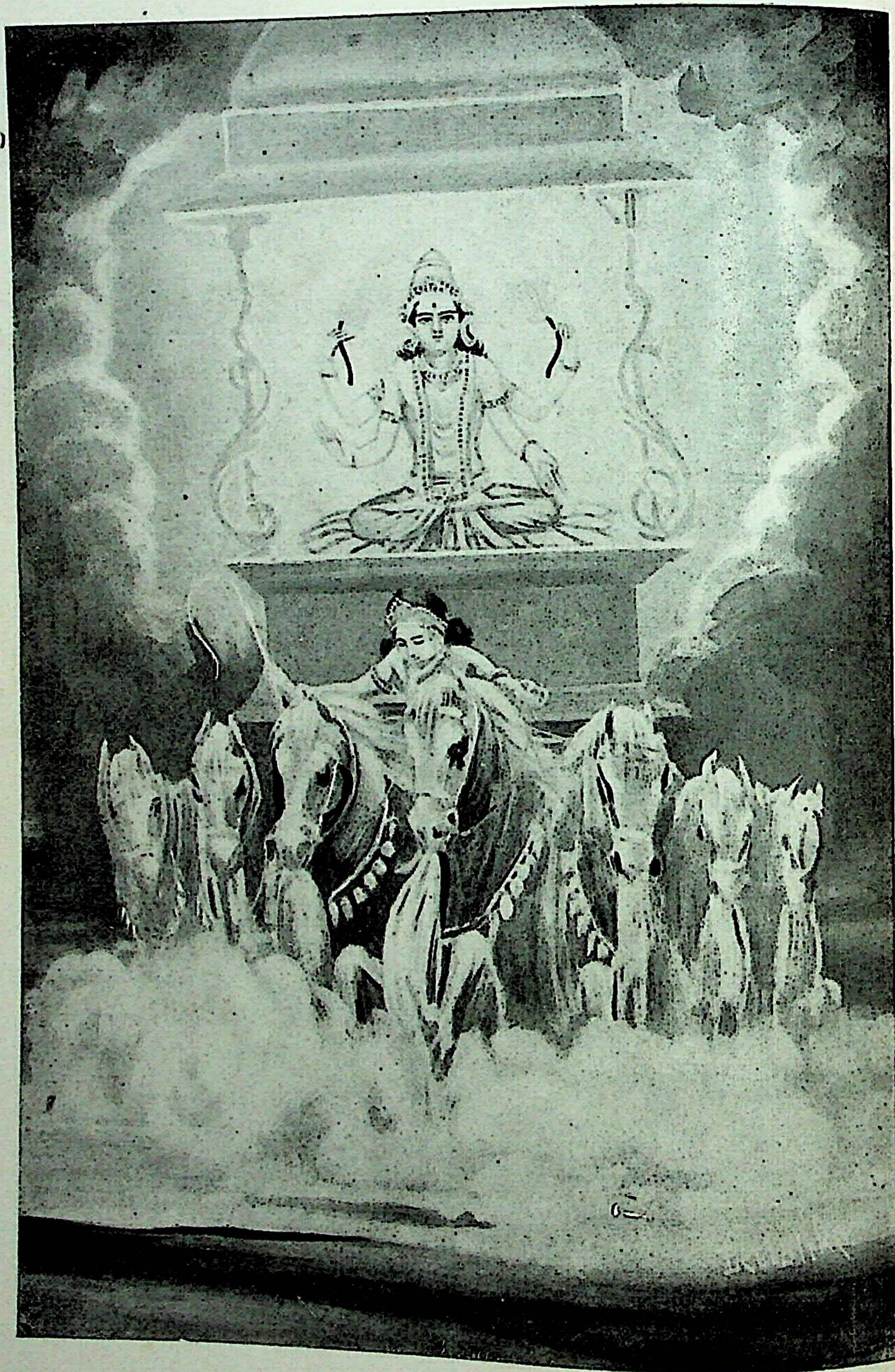


भगवान् श्रीकृष्णने कहा—सूत संजय ! मैं जिस प्रकार पाण्डवोंको विनाशसे बचाना, उनको ऐश्वर्य दिलाना तथा उनका प्रिय करना चाहता हूँ, उसी प्रकार अनेक पुत्रोंसे युक्त राजा धृतराष्ट्रका भी अभ्युदय चाहता हूँ ॥ १ ॥

कामो हि मे संजय नित्यमेव
नान्यद् ब्रूयां तान् प्रति शाम्यतेति ।
राज्ञश्च हि प्रियमेतच्छृणोमि
मन्ये चैतत् पाण्डवानां समक्षम् ॥ २ ॥

सूत ! मेरी भी सदा यही अभिलाषा है कि दोनों पक्षोंमें शान्ति बनी रहे । 'कुन्तीकुमारो ! कौरवोंसे संधि करो, उनके प्रति शान्त बने रहो,' इसके सिवा दूसरी कोई बात मैं पाण्डवोंके सामने नहीं कहता हूँ । राजा युधिष्ठिरके मुँहसे भी ऐसा ही प्रिय वचन सुनता हूँ और स्वयं भी इसीको ठीक मानता हूँ ॥ २ ॥

सुदुष्करस्तत्र शमो हि नूनं
प्रदर्शितः संजय पाण्डवेन ।
यस्मिन् गृद्धो धृतराष्ट्रः सपुत्रः
कस्मादेषां कलहो नावमूर्च्छेत् ॥ ३ ॥



आकाशचारी भगवान् सूर्यदेव

संजय! जैसा कि पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने प्रकट किया है, राज्यके प्रश्नोंको लेकर दोनों पक्षोंमें शान्ति बनी रहे, यह अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है। पुत्रोंसहित धृतराष्ट्र (इनके स्वत्वरूप) जिस राज्यमें आसक्त होकर उसे लेनेकी इच्छा करते हैं, उसके लिये इन कौरव-पाण्डवोंमें कलह कैसे नहीं बढ़ेगा? ॥ ३ ॥

न त्वं धर्मं विचरं संजयेह
मत्तश्च जानासि युधिष्ठिराच्च।
अथो कस्मात् संजय पाण्डवस्य
उत्साहिनः पूरयतः स्वकर्म ॥ ४ ॥
यथाऽऽख्यातमावसतः कुटुम्बे
पुरा कस्मात् साधुविलोपमात्थ।
अस्मिन् विधौ वर्तमाने यथाव-
दुच्चावचा मतयो ब्राह्मणानाम् ॥ ५ ॥

संजय! तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि मुझसे और युधिष्ठिरसे धर्मका लोप नहीं हो सकता, तो भी जो उत्साहपूर्वक स्वधर्मका पालन करते हैं तथा शास्त्रोंमें जैसा बताया गया है, उसके अनुसार ही कुटुम्ब (गृहस्थाश्रम) में रहते हैं, उन्हीं पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके धर्मलोपकी चर्चा या आशङ्का तुमने पहले किस आधारपर की है? गृहस्थ-आश्रममें रहनेकी जो शास्त्रोक्त विधि है, उसके होते हुए भी इसके ग्रहण अथवा त्यागके विषयमें वेदज्ञ ब्राह्मणोंके भिन्न-भिन्न विचार हैं ॥ ४-५ ॥

कर्मणाऽऽहुः सिद्धिमेके परत्र
हित्वा कर्म विद्यया सिद्धिमेके।
नाभुञ्जानो भक्ष्यभोज्यस्य तृप्येद्
विद्वानपीह विहितं ब्राह्मणानाम् ॥ ६ ॥

कोई तो (गृहस्थाश्रममें रहकर) कर्मयोगके द्वारा ही परलोकमें सिद्धि-लाभ होनेकी बात बताते हैं, *दूसरे लोग कर्मको त्यागकर ज्ञानके द्वारा ही सिद्धि (मोक्ष) का प्रतिपादन करते हैं।

विद्वान् पुरुष भी इस जगत्‌में भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंको भोजन किये विना तृप्त नहीं हो सकता, अतएव विद्वान् ब्राह्मणके लिये भी क्षुधानिवृत्तिके लिये भोजन करनेका विधान है। ६।

* इस प्रकार यद्यपि गृहस्थाश्रममें रहने और संन्यास लेनेका भी शास्त्रद्वारा ही विधान किया गया है, तथापि अन्य आश्रमोंमें प्राप्त होनेवाले ज्ञानकी उपलब्धि तो गृहस्थाश्रममें भी हो सकती है, परंतु गृहस्थ-साध्य यज्ञादि पुण्यकर्म आश्रमान्तरोंमें नहीं हो सकते; अतः सम्पूर्ण धर्मोंकी सिद्धिका स्थान गृहस्थाश्रम ही है।

या वै विद्याः साधयन्तीह कर्म
तासां फलं विद्यते नेतरासाम्।
तत्रेह वै दृष्टफलं तु कर्म
पीत्वोदकं शाम्यति तृष्णयाऽऽर्तः ॥ ७ ॥

जो विद्याएँ कर्मका सम्पादन करती हैं, उन्हींका फल दृष्टिगोचर होता है, दूसरी विद्याओंका नहीं। विद्या तथा कर्ममें भी कर्मका ही फल यहाँ प्रत्यक्ष दिखायी देता है। प्याससे पीड़ित मनुष्य जल पीकर ही शान्त होता है (उसे जानकर नहीं; अतः गृहस्थाश्रममें रहकर सत्कर्म करना ही श्रेष्ठ है) ॥ ७ ॥

सोऽयं विधिर्विहितः कर्मणैव
संवर्तते संजय तत्र कर्म।
तत्र योऽन्यत् कर्मणः साधु मन्ये-
न्मोघं तस्यालपितं दुर्बलस्य ॥ ८ ॥

संजय! ज्ञानका विधान भी कर्मको साथ लेकर ही है; अतः ज्ञानमें भी कर्म विद्यमान है। जो कर्मसे भिन्न कर्मोंके त्यागको श्रेष्ठ मानता है, वह दुर्बल है, उसका कथन व्यर्थ ही है ॥ ८ ॥

कर्मणामी भान्ति देवाः परत्र
कर्मणैवेह प्लवते मातरिश्वा।
अहोरात्रे विदधत् कर्मणैव
अतन्द्रितो नित्यमुदेति सूर्यः ॥ ९ ॥

ये देवता कर्मसे ही स्वर्गलोकमें प्रकाशित होते हैं। वायुदेव कर्मको अपनाकर ही सम्पूर्ण जगत्‌में विचरण करते हैं तथा सूर्यदेव आलस्य छोड़कर कर्मद्वारा ही दिन-रातका विभाग करते हुए प्रतिदिन उदित होते हैं ॥ ९ ॥

मासार्धमासानथ नक्षत्रयोगा-
नतन्द्रितश्चन्द्रमाश्चाभ्युपैति।
अतन्द्रितो दहते जातवेदाः
समिध्यमानः कर्म कुर्वन् प्रजाभ्यः ॥ १० ॥

चन्द्रमा भी आलस्य त्यागकर (कर्मके द्वारा ही) मास, पक्ष तथा नक्षत्रोंका योग प्राप्त करते हैं; इसी प्रकार जातवेदा (अग्निदेव) भी आलस्यरहित होकर प्रजाके लिये कर्म करते हुए ही प्रज्वलित होकर दाह-क्रिया सम्पन्न करते हैं।१०।

अतन्द्रिता भारमिमं महान्तं
बिभर्ति देवी पृथिवी बलेन।
अतन्द्रिताः शीघ्रमपो वहन्ति
संतर्पयन्त्यः सर्वभूतानि नद्यः ॥ ११ ॥

पृथ्वीदेवी भी आलस्यशून्य हो (कर्ममें तत्पर रहकर ही) बलपूर्वक विश्वके इस महान् भारको ढोती हैं। ये नदियाँ भी आलस्य छोड़कर (कर्मपरायण हो) सम्पूर्ण

प्राणियोंको तृप्त करती हुई शीघ्रतापूर्वक जल बहाया करती हैं ॥ ११ ॥

अतन्द्रितो वर्षति भूरितेजाः
संनादयन्नन्तरिक्षं दिशश्च ।
अतन्द्रितो ब्रह्मचर्यं चचार
श्रेष्ठत्वमिच्छन् बलभिद् देवतानाम् ॥ १२ ॥

जिन्होंने देवताओंमें श्रेष्ठ स्थान पानेकी इच्छासे तन्द्रारहित होकर ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया था, वे महातेजस्वी बल-सूदन इन्द्र भी आलस्य छोड़कर (कर्मपरायण होकर ही) मेघगर्जनाद्वारा आकाश तथा दिशाओंको गुँजाते हुए समय-समयपर वर्षा करते हैं ॥ १२ ॥

हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि
तेन शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप ।
सत्यं धर्मं पालयन्नप्रमत्तो
दमं तितिक्षां समतां प्रियं च ॥ १३ ॥
एतानि सर्वाण्युपसेवमानः
स देवराज्यं मघवान् प्राप मुख्यम् ।
बृहस्पतिर्ब्रह्मचर्यं चचार
समाहितः संशितात्मा यथावत् ॥ १४ ॥
हित्वा सुखं प्रतिरुध्येन्द्रियाणि
तेन देवानामगमद् गौरवं सः ।
तथा नक्षत्राणि कर्मणामुत्र भान्ति
रुद्रादित्या वसवोऽथापि विश्वे ॥ १५ ॥

इन्द्रने सुख तथा मनको प्रिय लगनेवाली वस्तुओंका त्याग करके सत्कर्मके बलसे ही देवताओंमें ऊँची स्थिति प्राप्त की । उन्होंने सावधान होकर सत्य, धर्म, इन्द्रिय-संयम, सहिष्णुता, समदर्शिता तथा सबको प्रिय लगनेवाले उत्तम बर्तावका पालन किया था । इन समस्त सद्गुणोंका सेवन करनेके कारण ही इन्द्रको देवसम्राट्का श्रेष्ठ पद प्राप्त हुआ है । इसी प्रकार बृहस्पतिजीने भी नियमपूर्वक समाहित एवं संयतचित्त होकर सुखका परित्याग करके समस्त इन्द्रियोंको अपने वशमें रखते हुए ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया था । इसी सत्कर्मके प्रभावसे उन्होंने देवगुरु-का सम्मानित पद प्राप्त किया है । आकाशके सारे नक्षत्र सत्कर्मके ही प्रभावसे परलोकमें प्रकाशित हो रहे हैं । रुद्र, आदित्य, वसु तथा विश्वेदेवगण भी कर्मबलसे ही महत्त्वको प्राप्त हुए हैं ॥ १३–१५ ॥

यमो राजा वैश्रवणः कुबेरो
गन्धर्वयक्षाप्सरसश्च सूत ।
ब्रह्मविद्यां ब्रह्मचर्यं क्रियां च
निषेवमाणा ऋषयोऽमुत्र भान्ति ॥ १६ ॥

सूत ! यमराज, विश्रवाके पुत्र कुबेर, गन्धर्व, यक्ष तथा अप्सराएँ भी अपने-अपने कर्मोंके प्रभावसे ही स्वर्गमें विराजमान हैं । ब्रह्मज्ञान तथा ब्रह्मचर्यकर्मका सेवन करनेवाले महर्षि भी कर्मबलसे ही परलोकमें प्रकाशमान हो रहे हैं ॥ १६ ॥

जानन्निमं सर्वलोकस्य धर्मं
विप्रेन्द्राणां क्षत्रियाणां विशां च ।
स कस्मात् त्वं जानतां ज्ञानवान् सन्
व्यायच्छसे संजय कौरवार्थे ॥ १७ ॥

संजय ! तुम श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा सम्पूर्ण लोकों-के इस सुप्रसिद्ध धर्मको जानते हो । तुम ज्ञानियोंमें भी श्रेष्ठ ज्ञानी हो, तो भी तुम कौरवोंकी स्वार्थसिद्धिके लिये क्यों वाग्जाल फैला रहे हो ? ॥ १७ ॥

आम्नायेषु नित्यसंयोगमस्य
तथाश्वमेधे राजसूये च विद्धि ।
संयुज्यते धनुषा वर्मणा च
हस्त्यश्वाद्यै रथशस्त्रैश्च भूयः ॥ १८ ॥
ते चेदिमे कौरवाणामुपाय-
मवगच्छेयुरवधेनैव पार्थाः ।
धर्मत्राणं पुण्यमेषां कृतं स्या-
दार्ये वृत्ते भीमसेनं निगृह्य ॥ १९ ॥

राजा युधिष्ठिरका वेद-शास्त्रोंके साथ स्वाध्यायके रूपमें सदा सम्बन्ध बना रहता है । इसी प्रकार अश्वमेध तथा राजसूय आदि यज्ञोंसे भी इनका सदा लगाव है । ये धनुष और कवचसे भी संयुक्त हैं । हाथी-घोड़े आदि वाहनों, रथों और अस्त्र-शस्त्रोंकी भी इनके पास कमी नहीं है । ये कुन्तीपुत्र यदि कौरवोंका वध किये बिना ही अपने राज्यकी प्राप्तिका कोई दूसरा उपाय जान लेंगे, तो भीमसेनको आग्रहपूर्वक आर्य पुरुषोंके द्वारा आचरित सद्व्यवहारमें लगाकर धर्मरक्षारूप पुण्यका ही सम्पादन करेंगे, तुम ऐसा (भलीभाँति) समझ लो ॥ १८-१९ ॥

ते चेत् पित्र्ये कर्मणि वर्तमाना
आपद्येरन् दिष्टवशेन मृत्युम् ।
यथाशक्त्या पूरयन्तः स्वकर्म
तदप्येषां निधनं स्यात् प्रशस्तम् ॥ २० ॥

पाण्डव अपने बाप-दादोंके कर्म—क्षात्रधर्म (युद्ध आदि) में प्रवृत्त हो यथाशक्ति अपने कर्तव्यका पालन करते हुए यदि दैववश मृत्युको भी प्राप्त हो जायँ तो इनकी वह मृत्यु उत्तम ही मानी जायगी ॥ २० ॥

उताहो त्वं मन्यसे शाम्यमेव
राज्ञां युद्धे वर्तते धर्मतन्त्रम् ।

अयुद्धे वा वर्तते धर्मतन्त्रं
तथैव ते वाचमिमां शृणोमि ॥ २१ ॥

यदि तुम शान्ति धारण करना ही ठीक समझते हो तो बताओ, युद्धमें प्रवृत्त होनेसे राजाओंके धर्मका ठीक-ठीक पालन होता है या युद्ध छोड़कर भाग जानेसे ? क्षत्रिय-धर्मका विचार करते हुए तुम जो कुछ भी कहोगे, मैं तुम्हारी वही बात सुननेको उद्यत हूँ ॥ २१ ॥

चातुर्वर्ण्यस्य प्रथमं संविभाग-
मवेक्ष्य त्वं संजय स्वं च कर्म ।
निशम्याथो पाण्डवानां च कर्म
प्रशंस वा निन्द वा या मतिस्ते ॥ २२ ॥

संजय ! तुम पहले ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके विभाग तथा उनमेंसे प्रत्येक वर्णके अपने-अपने कर्मको देख लो। फिर पाण्डवोंके वर्तमान कर्मपर दृष्टिपात करो; तत्पश्चात् जैसा तुम्हारा विचार हो, उसके अनुसार इनकी प्रशंसा अथवा निन्दा करना ॥ २२ ॥

अधीयीत ब्राह्मणो वै यजेत
दद्यादीयात् तीर्थमुख्यानि चैव ।
अध्यापयेद् याजयेच्चापि याज्यान्
प्रतिग्रहान् वा विहितान् प्रतीच्छेत् ॥ २३ ॥

ब्राह्मण अध्ययन, यज्ञ एवं दान करे तथा प्रधान-प्रधान तीर्थोंकी यात्रा करे, शिष्योंको पढ़ावे और यजमानोंका यज्ञ करावे अथवा शास्त्रविहित प्रतिग्रह (दान) स्वीकार करे ॥

(अधीयीत क्षत्रियोऽथो यजेत
दद्याद् दानं न तु याचेत किंचित् ।
न याजयेन्नापि चाध्यापयीत
एष स्मृतः क्षत्रधर्मः पुराणः ॥)

इसी प्रकार क्षत्रिय स्वाध्याय, यज्ञ और दान करे। किसीसे किसी भी वस्तुकी याचना न करे। वह न तो दूसरोंका यज्ञ करावे और न अध्यापनका ही कार्य करे; यही धर्मशास्त्रोंमें क्षत्रियोंका प्राचीन धर्म बताया गया है ॥

तथा राजन्यो रक्षणं वै प्रजानां
कृत्वा धर्मेणाप्रमत्तोऽथ दत्त्वा ।
यज्ञैरिष्ट्वा सर्ववेदानधीत्य
दारान् कृत्वा पुण्यकृदावसेद् गृहान् ॥ २४ ॥
स धर्मात्मा धर्ममधीत्य पुण्यं
यदिच्छया व्रजति ब्रह्मलोकम् ।

इसके सिवा क्षत्रिय धर्मके अनुसार सावधान रहकर प्रजाजनोंकी रक्षा करे, दान दे, यज्ञ करे, सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके विवाह करे और पुण्य कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ गृहस्थाश्रममें रहे। इस प्रकार वह धर्मात्मा क्षत्रिय धर्म एवं पुण्यका सम्पादन करके अपनी इच्छाके अनुसार ब्रह्मलोकको जाता है ॥ २४½ ॥

वैश्योऽधीत्य कृषिगोरक्षपण्यै-
र्वित्तं चिन्वन् पालयन्नप्रमत्तः ॥ २५ ॥
प्रियं कुर्वन् ब्राह्मणक्षत्रियाणां
धर्मशीलः पुण्यकृदावसेद् गृहान् ।

वैश्य अध्ययन करके कृषि, गोरक्षा तथा व्यापारद्वारा धनोपार्जन करते हुए सावधानीके साथ उसकी रक्षा करे। ब्राह्मणों और क्षत्रियोंका प्रिय करते हुए धर्मशील एवं पुण्यात्मा होकर वह गृहस्थाश्रममें निवास करे ॥ २५½ ॥

परिचर्या वन्दनं ब्राह्मणानां
नाधीयीत प्रतिषिद्धोऽस्य यज्ञः ।
नित्योत्थितो भूतयेऽतन्द्रितः स्या-
देवं स्मृतः शूद्रधर्मः पुराणः ॥ २६ ॥

शूद्र ब्राह्मणोंकी सेवा तथा वन्दना करे, वेदोंका स्वाध्याय न करे। उसके लिये यज्ञका भी निषेध है। वह सदा उद्योगी और आलस्यरहित होकर अपने कल्याणके लिये चेष्टा करे। इस प्रकार शूद्रोंका प्राचीन धर्म बताया गया है ॥ २६ ॥

एतान् राजा पालयन्नप्रमत्तो
नियोजयन् सर्ववर्णान् स्वधर्मे ।
अकामात्मा समवृत्तिः प्रजासु
नाधार्मिकाननुरुध्येत कामान् ॥ २७ ॥

राजा सावधानीके साथ इन सब वर्णोंका पालन करते हुए ही इन्हें अपने-अपने धर्ममें लगावे। वह कामभोगमें आसक्त न होकर समस्त प्रजाओंके साथ समानभावसे बर्ताव करे और पापपूर्ण इच्छाओंका कदापि अनुसरण न करे ॥ २७ ॥

श्रेयांस्तस्माद् यदि विद्येत कश्चि-
दभिज्ञातः सर्वधर्मोपपन्नः ।
स तं द्रष्टुमनुशिष्यात् प्रजानां
न चैतद् बुध्येदिति तस्मिन्नसाधु ॥ २८ ॥

यदि राजाको यह ज्ञात हो जाय कि उसके राज्यमें कोई सर्वधर्मसम्पन्न श्रेष्ठ पुरुष निवास करता है तो वह उसीको प्रजाके गुण-दोषका निरीक्षण करनेके लिये नियुक्त करे तथा उसके द्वारा पता लगवावे कि मेरे राज्यमें कोई पापकर्म करनेवाला तो नहीं है ॥ २८ ॥

यदा गृध्येत् परभूतौ नृशंसो
विधिप्रकोपाद् बलमाददानः ।
ततो राज्ञामभवद् युद्धमेतत्
तत्र जातं वर्म शस्त्रं धनुश्च ॥ २९ ॥

जब कोई क्रूर मनुष्य दूसरेकी धन-सम्पत्तिमें लालच रखकर उसे ले लेनेकी इच्छा करता है और विधाताके कोपसे

(परपीडनके लिये) सेना-संग्रह करने लगता है, उस समय राजाओंमें युद्धका अवसर उपस्थित होता है। इस युद्धके लिये ही कवच, अस्त्र-शस्त्र और धनुषका आविष्कार हुआ है ॥ २९ ॥

इन्द्रेणैतद् दस्युवधाय कर्म
उत्पादितं वर्म शस्त्रं धनुश्च ॥ ३० ॥

स्वयं देवराज इन्द्रने ऐसे लुटेरोंका वध करनेके लिये कवच, अस्त्र-शस्त्र और धनुषका आविष्कार किया है॥ ३० ॥

तत्र पुण्यं दस्युवधेन लभ्यते
सोऽयं दोषः कुरुभिस्तीव्ररूपः ।
अधर्मज्ञैर्धर्ममबुध्यमानैः
प्रादुर्भूतः संजय साधु तन्न ॥ ३१ ॥

(राजाओंको) लुटेरोंका वध करनेसे पुण्यकी प्राप्ति होती है। संजय ! कौरवोंमें यह लुटेरेपनका दोष तीव्ररूपसे प्रकट हो गया है, जो अच्छा नहीं है। वे अधर्मके तो पूरे पण्डित हैं; परंतु धर्मकी बात बिल्कुल नहीं जानते ॥ ३१ ॥

तत्र राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
धर्म्यं हरेत् पाण्डवानामकस्मात् ।
नावेक्षन्ते राजधर्मं पुराणं
तदन्वयाः कुरवः सर्व एव ॥ ३२ ॥

राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके साथ मिलकर सहसा पाण्डवोंके धर्मतः प्राप्त उनके पैतृक राज्यका अपहरण करनेको उतारू हो गये हैं। अन्य समस्त कौरव भी उन्हींका अनुसरण कर रहे हैं। वे प्राचीन राजधर्मकी ओर नहीं देखते हैं ॥३२॥

स्तेनो हरेद् यत्र धनं ह्यदृष्टः
प्रसह्य वा यत्र हरेत दृष्टः ।
उभौ गर्ह्यौ भवतः संजयैतौ
किं वै पृथक्त्वं धृतराष्ट्रस्य पुत्रे ॥ ३३ ॥

चोर छिपा रहकर धन चुरा ले जाय अथवा सामने आकर डाका डाले, दोनों ही दशाओंमें वे चोर-डाकू निन्दाके ही पात्र होते हैं। संजय ! तुम्हीं कहो, धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन और उन चोर-डाकुओंमें क्या अन्तर है ? ॥३३॥

सोऽयं लोभान्मन्यते धर्ममेतं
यमिच्छति क्रोधवशानुगामी ।
भागः पुनः पाण्डवानां निविष्ट-
स्तं नः कस्मादाददीरन् परे वै ॥ ३४ ॥

दुर्योधन क्रोधके वशीभूत हो उसके अनुसार चलनेवाला है और वह लोभसे राज्यको ले लेना चाहता है। इसे वह धर्म मान रहा है; परंतु वह तो पाण्डवोंका भाग है, जो कौरवोंके यहाँ धरोहरके रूपमें रक्खा गया है। संजय ! हमारे उस भागको हमसे शत्रुता रखनेवाले कौरव कैसे ले सकते हैं ? ॥ ३४ ॥

अस्मिन् पदे युध्यतां नो वधोऽपि
श्लाघ्यः पित्र्यं परराज्याद् विशिष्टम्।
एतान् धर्मान् कौरवाणां पुराणा-
नाचक्षीथाः संजय राजमध्ये ॥ ३५ ॥

सूत ! इस राज्यभागकी प्राप्तिके लिये युद्ध करते हुए हमलोगोंका वध हो जाय तो वह भी हमारे लिये स्पृहणीय ही है। बाप-दादोंका राज्य पराये राज्यकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। संजय ! तुम राजाओंकी मण्डलीमें राजाओंके इन प्राचीन धर्मोंका कौरवोंके समक्ष वर्णन करना ॥ ३५ ॥

एते मदान्मृत्युवशाभिपन्नाः
समानीता धार्तराष्ट्रेण मूढाः।
इदं पुनः कर्म पापीय एव
सभामध्ये पश्य वृत्तं कुरूणाम् ॥ ३६ ॥

दुर्योधनने जिन्हें युद्धके लिये बुलवाया है, वे मूर्ख राजा बलके मदसे मोहित होकर मौतके फंदेमें फँस गये हैं। संजय ! भरी सभामें कौरवोंने जो यह अत्यन्त पापपूर्ण कर्म किया था, उनके इस दुराचारपर दृष्टि डालो ॥ ३६ ॥

प्रियां भार्यां द्रौपदीं पाण्डवानां
यशस्विनीं शीलवृत्तोपपन्नाम्।
यदुपैक्षन्त कुरवो भीष्ममुख्याः
कामानुगेनोपरुद्धां व्रजन्तीम् ॥ ३७ ॥

पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी यशस्विनी द्रौपदी जो शील और सदाचारसे सम्पन्न है, रजस्वला-अवस्थामें सभाके बीच लायी जा रही थी, परंतु भीष्म आदि प्रधान कौरवोंने उसकी ओरसे उपेक्षा दिखायी ॥ ३७ ॥

तं चेत् तदा ते सकुमारवृद्धा
अवारयिष्यन् कुरवः समेताः।
मम प्रियं धृतराष्ट्रोऽकरिष्यत्
पुत्राणां च कृतमस्याभविष्यत् ॥ ३८ ॥

यदि बालकसे लेकर बूढ़ेतक सभी कौरव उस समय दुःशासनको रोक देते तो राजा धृतराष्ट्र मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य करते तथा उनके पुत्रोंका भी प्रिय मनोरथ सिद्ध हो जाता ॥ ३८ ॥

दुःशासनः प्रातिलोम्यान्निनाय
सभामध्ये श्वशुराणां च कृष्णाम्।
सा तत्र नीता करुणं व्यपेक्ष्य
नान्यं क्षत्तुर्नाथमवाप किंचित् ॥ ३९ ॥

दुःशासन मर्यादाके विपरीत द्रौपदीको सभामें श्वशुरजनोंके समक्ष घसीट ले गया। द्रौपदीने वहाँ जाकर

भावसे चारों ओर करुणदृष्टि डाली, परंतु उसने वहाँ विदुरजीके सिवा और किसीको अपना रक्षक नहीं पाया ॥ ३९ ॥

कार्पण्यादेव सहितास्तत्र भूपा
नाशक्नुवन् प्रतिवक्तुं सभायाम्।
एकः क्षत्ता धर्म्यमर्थं ब्रुवाणो
धर्मबुद्ध्या प्रत्युवाचाल्पबुद्धिम्॥ ४० ॥

उस समय सभामें बहुत-से भूपाल एकत्रित थे, परंतु अपनी कायरताके कारण वे उस अन्यायका प्रतिवाद न कर सके। एकमात्र विदुरजीने अपना धर्म समझकर मन्दबुद्धि दुर्योधनसे धर्मानुकूल वचन कहकर उसके अन्यायका विरोध किया ॥ ४० ॥

अबुद्ध्वा त्वं धर्ममेतं सभाया-
मथेच्छसे पाण्डवस्योपदेष्टुम्।
कृष्णा त्वेतत् कर्म चकार शुद्धं
सुदुष्करं तत्र सभां समेत्य ॥ ४१ ॥
येन कृच्छ्रात् पाण्डवानुज्जहार
तथाऽऽत्मानं नौरिव सागरौघात्।
यत्राब्रवीत् सूतपुत्रः सभायां
कृष्णां स्थितां श्वशुराणां समीपे ॥ ४२ ॥
न ते गतिर्विद्यते याज्ञसेनि
प्रपद्य दासी धार्तराष्ट्रस्य वेश्म।
पराजितास्ते पतयो न सन्ति
पतिं चान्यं भाविनि त्वं वृणीष्व ॥ ४३ ॥

संजय! द्यूतसभामें जो अन्याय हुआ था, उसे भुलाकर तुम पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको धर्मका उपदेश देना चाहते हो। द्रौपदीने उस दिन सभामें जाकर अत्यन्त दुष्कर और पवित्र कार्य किया कि उसने पाण्डवों तथा अपनेको महान् संकटसे बचा लिया; ठीक उसी तरह, जैसे नौका समुद्रकी अगाध जलराशिमें डूबनेसे बचा लेती है। उस सभामें कृष्णा श्वशुरजनोंके समीप खड़ी थी, तो भी सूतपुत्र कर्णने उसे अपमानित करते हुए कहा—'याज्ञसेनि! अब तेरे लिये दूसरी गति नहीं है, तू दासी बनकर दुर्योधनके महलमें चली जा। पाण्डव जूएमें अपनेको हार चुके हैं, अतः अब वे तेरे पति नहीं रहे। भाविनि! अब तू किसी दूसरेको अपना पति वरण कर ले' ॥४१-४३॥

यो बीभत्सोर्हृदये प्रोत आसी-
दस्थिच्छिन्दन् मर्मघाती सुघोरः।
कर्णाच्छरो वाङ्मयस्तिग्मतेजाः
प्रतिष्ठितो हृदये फाल्गुनस्य ॥ ४४ ॥

कर्णके मुखसे निकला हुआ वह अत्यन्त घोर कटुवचनरूपी बाण मर्मपर चोट पहुँचानेवाला था। वह कानके रास्तेसे भीतर जाकर हड्डियोंको छेदता हुआ अर्जुनके हृदयमें धँस गया। तीखी कसक पैदा करनेवाला वह वाग्बाण आज भी अर्जुनके हृदयमें गड़ा हुआ है (और इनके कलेजेको साल रहा है)॥ ४४ ॥

कृष्णाजिनानि परिधित्समानान्
दुःशासनः कटुकान्यभ्यभाषत्।
एते सर्वे षण्ढतिला विनष्टाः
क्षयं गता नरकं दीर्घकालम् ॥ ४५ ॥

जिस समय पाण्डव वनमें जानेके लिये कृष्णमृगचर्म धारण करना चाहते थे, उस समय दुःशासनने उनके प्रति कितनी ही कड़वी बातें कहीं—'ये सब-के-सब हीजड़े अब नष्ट हो गये, चिरकालके लिये नरकके गर्तमें गिर गये' ॥

गान्धारराजः शकुनिर्निकृत्या
यदब्रवीद् द्यूतकाले स पार्थम्।
पराजितो नन्दनः किं तवास्ति
कृष्णया त्वं दीव्य वै याज्ञसेन्या ॥ ४६ ॥

गान्धारराज शकुनिने द्यूतक्रीड़ाके समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे शठतापूर्वक यह बात कही थी कि अब तो तुम अपने छोटे भाईको भी हार गये, अब तुम्हारे पास क्या है? इसलिये इस समय तुम द्रुपदनन्दिनी कृष्णाको दाँवपर रखकर जूआ खेलो ॥ ४६ ॥

जानासि त्वं संजय सर्वमेतद्
द्यूते वाक्यं गर्ह्यमेवं यथोक्तम्।
स्वयं त्वहं प्रार्थये तत्र गन्तुं
समाधातुं कार्यमेतद् विपन्नम् ॥ ४७ ॥

संजय! (कहाँतक गिनाऊँ,) जूएके समय जितने और जैसे निन्दनीय वचन कहे गये थे, वे सब तुम्हें ज्ञात हैं; तथापि इस बिगड़े हुए कार्यको बनानेके लिये मैं स्वयं हस्तिनापुर चलना चाहता हूँ ॥ ४७ ॥

अहापयित्वा यदि पाण्डवार्थं
शमं कुरूणामपि चेच्छकेयम्।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महोदयं
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥ ४८ ॥

यदि पाण्डवोंका स्वार्थ नष्ट किये बिना ही मैं कौरवोंके साथ इनकी संधि करानेमें सफल हो सका तो मेरेद्वारा यह परम पवित्र और महान् अभ्युदयका कार्य सम्पन्न हो जायगा तथा कौरव भी मौतके फंदेसे छूट जायँगे ॥ ४८ ॥

अपि मे वाचं भाषमाणस्य काव्यां
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्राम्।
अवेक्षेरन् धार्तराष्ट्राः समक्षं
मां च प्राप्तं कुरवः पूजयेयुः ॥ ४९ ॥

मैं वहाँ जाकर शुक्रनीतिके अनुसार धर्म और अर्थसे युक्त ऐसी बातें कहूँगा, जो हिंसावृत्तिको दबानेवाली होंगी। क्या धृतराष्ट्रके पुत्र मेरी उन बातोंपर विचार करेंगे ? क्या कौरवगण अपने सामने उपस्थित होनेपर मेरा सम्मान करेंगे ?

अतोऽन्यथा रथिना फाल्गुनेन
भीमेन चैवाहवदंशितेन ।
परासिक्तान् धार्तराष्ट्रांश्च विद्धि
प्रदह्यमानान् कर्मणा स्वेन पापान् ॥ ५० ॥

संजय ! यदि ऐसा नहीं हुआ—कौरवोंने इसके विपरीत भाव दिखाया तो समझ लो कि रथपर बैठे हुए अर्जुन और युद्धके लिये कवच धारण करके तैयार हुए भीमसेनके द्वारा पराजित होकर धृतराष्ट्रके वे सभी पापात्मा पुत्र अपने ही कर्मदोषसे दग्ध हो जायँगे ॥ ५० ॥

पराजितान् पाण्डवेयांस्तु वाचो
रौद्रा रूक्षा भाषते धार्तराष्ट्रः ।
गदाहस्तो भीमसेनोऽप्रमत्तो
दुर्योधनं स्मारयिता हि काले ॥ ५१ ॥

द्यूतके समय जब पाण्डव हार गये थे, तब दुर्योधनने उनके प्रति बड़ी भयानक और कड़वी बातें कही थीं; अतः सदा सावधान रहनेवाले भीमसेन युद्धके समय गदा हाथमें लेकर दुर्योधनको उन बातोंकी याद दिलायेंगे ॥ ५१ ॥

सुयोधनो मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः ।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी ॥ ५२ ॥

दुर्योधन क्रोधमय विशाल वृक्षके समान है, कर्ण उस वृक्षका स्कन्ध, शकुनि शाखा और दुःशासन समृद्ध फल-पुष्प है। अज्ञानी राजा धृतराष्ट्र ही इसके मूल (जड़) हैं ॥५२॥

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः ।
माद्रीपुत्रौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं त्वहं ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिर धर्ममय विशाल वृक्ष हैं। अर्जुन (उस वृक्षके) स्कन्ध, भीमसेन शाखा और माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव इसके समृद्ध फल-पुष्प हैं। मैं, वेद और ब्राह्मण ही इस वृक्षके मूल (जड़) हैं ॥ ५३ ॥

वनं राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
व्याघ्रास्ते वै संजय पाण्डुपुत्राः ।
सिंहाभिगुप्तं न वनं विनश्येत्
सिंहो न नश्येत वनाभिगुप्तः ॥ ५४ ॥

संजय ! पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र एक वन है और पाण्डव उस वनमें निवास करनेवाले व्याघ्र हैं। सिंहोंसे रक्षित वन नष्ट नहीं होता एवं वनमें रहकर सुरक्षित सिंह नष्ट नहीं होता उस वनका उच्छेद न करो ॥ ५४ ॥

निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्रं छिद्यते वनम्।
तस्माद् व्याघ्रो वनं रक्षेद् वनं व्याघ्रं च पालयेत्॥ ५५॥

क्योंकि वनसे बाहर निकला हुआ व्याघ्र मारा जाता है और बिना व्याघ्रके वनको सब लोग आसानीसे काट लेते हैं। अतः व्याघ्र वनकी रक्षा करे और वन व्याघ्रकी ॥ ५५ ॥

लताधर्मा धार्तराष्ट्राः शालाः संजय पाण्डवाः।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥ ५६॥

संजय ! धृतराष्ट्रके पुत्र लताओंके समान हैं और पाण्डव शाल-वृक्षोंके समान। कोई भी लता किसी महान् वृक्षका आश्रय लिये बिना कभी नहीं बढ़ती है (अतः पाण्डवोंका आश्रय लेकर ही धृतराष्ट्रपुत्र बढ़ सकते हैं) ॥ ५६ ॥

स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिंदमाः।
यत् कृत्यं धृतराष्ट्रस्य तत् करोतु नराधिपः ॥ ५७॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले कुन्तीपुत्र धृतराष्ट्रकी सेवा करनेके लिये भी उद्यत हैं और युद्धके लिये भी। अब राजा धृतराष्ट्रका जो कर्तव्य हो, उसका वे पालन करें ॥ ५७ ॥

स्थिताः शमे महात्मानः पाण्डवा धर्मचारिणः।
योधाः समर्थास्तद् विद्वन्नाचक्षीथा यथातथम्॥ ५८॥

विद्वान् संजय ! धर्मका आचरण करनेवाले महात्मा पाण्डव शान्तिके लिये भी तैयार हैं और युद्ध करनेमें भी समर्थ हैं। इन दोनों अवस्थाओंको समझकर तुम राजा धृतराष्ट्रसे यथार्थ बातें कहना ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि कृष्णवाक्ये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यसम्बन्धी उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५९ श्लोक हैं)

त्रिंशोऽध्यायः

संजयकी विदाई तथा युधिष्ठिरका संदेश

संजय उवाच

आमन्त्रये त्वां नरदेवदेव
गच्छाम्यहं पाण्डव स्वस्ति तेऽस्तु ।
कच्चिन्न वाचा वृजिनं हि किंचि-
दुच्चारितं मे मनसोऽभिषङ्गात् ॥ १ ॥

संजयने कहा—नरदेवदेव पाण्डुनन्दन ! आपका कल्याण हो। अब मैं आपसे विदा लेता और हस्तिनापुरको जाता हूँ। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि मैंने मानसिक आवेगके कारण वाणीद्वारा कोई ऐसी बात कह दी हो, जिससे आपको कष्ट हुआ हो ? ॥ १ ॥

जनार्दनं भीमसेनार्जुनौ च
माद्रीसुतौ सात्यकिं चेकितानम् ।
आमन्त्र्य गच्छामि शिवं सुखं वः
सौम्येन मां पश्यत चक्षुषा नृपाः ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, सात्यकि तथा चेकितानसे भी आज्ञा लेकर मैं जा रहा हूँ। आपलोगोंको सुख और कल्याणकी प्राप्ति हो। राजाओ ! आप मेरी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखें ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अनुज्ञातः संजय स्वस्ति गच्छ
न नः स्मरस्यप्रियं जातु विद्वन् ।
विद्मश्च त्वां ते च वयं च सर्वे
शुद्धात्मानं मध्यगतं सभास्थम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! मैं तुम्हें जानेकी अनुमति देता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम जाओ। विद्वन् ! तुम कभी हमलोगोंका अनिष्ट-चिन्तन नहीं करते हो। इसलिये कौरव तथा हमलोग सभी तुम्हें शुद्धचित्त एवं मध्यस्थ सदस्य समझते हैं ॥ ३ ॥

आप्तो दूतः संजय सुप्रियोऽसि
कल्याणवाक् शीलवांस्तृप्तिमांश्च ।
न मुह्येस्त्वं संजय जातु मत्या
न च क्रुद्ध्येरुच्यमानो दुरुक्तैः ॥ ४ ॥

संजय ! तुम विश्वसनीय दूत और हमारे अत्यन्त प्रिय हो। तुम्हारी बातें कल्याणकारिणी होती हैं। तुम शीलवान् और संतोषी हो। तुम्हारी बुद्धि कभी मोहित नहीं होती और कटु वचन सुनकर भी तुम कभी क्रोध नहीं करते हो ॥ ४॥

न मर्मगां जातु वक्तासि रूक्षां
नोपश्रुतिं कटुकां नोत मुक्ताम् ।
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्रा-
मेतां वाचं तव जानीम सूत ॥ ५ ॥

सूत ! तुम्हारे मुखसे कभी कोई ऐसी बात नहीं निकलती, जो कड़वी होनेके साथ ही मर्मपर आघात करनेवाली हो। तुम नीरस और अप्रासङ्गिक बात भी नहीं बोलते। हम अच्छी तरह जानते हैं कि तुम्हारा यह कथन धर्मानुकूल होनेके कारण मनोहर, अर्थयुक्त तथा हिंसाकी भावनासे रहित है ॥ ५ ॥

त्वमेव नः प्रियतमोऽसि दूत
इहागच्छेद् विदुरो वा द्वितीयः ।
अभीक्ष्णदृष्टोऽसि पुरा हि नस्त्वं
धनंजयस्यात्मसमः सखासि ॥ ६ ॥

संजय ! तुम्हीं हमारे अत्यन्त प्रिय हो। जान पड़ता है, दूसरे विदुरजी ही (दूत बनकर) यहाँ आ गये हैं। पहले भी तुम हमसे बारंबार मिलते रहे हो और धनंजयके तो तुम अपने आत्माके समान प्रिय सखा हो ॥ ६ ॥

इतो गत्वा संजय क्षिप्रमेव
उपातिष्ठेथा ब्राह्मणान् ये तदर्हाः ।
विशुद्धवीर्यांश्चरणोपपन्नाः
कुले जाताः सर्वधर्मोपपन्नाः ॥ ७ ॥

संजय ! यहाँसे जाकर तुम शीघ्र ही जो आदर और सम्मानके योग्य हैं, उन विशुद्ध शक्तिशाली, ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न, कुलीन तथा सर्वधर्मसम्पन्न ब्राह्मणोंको हमारी ओरसे प्रणाम कहना ॥ ७ ॥

स्वाध्यायिनो ब्राह्मणा भिक्षवश्च
तपस्विनो ये च नित्या वनेषु ।
अभिवाद्या वै मद्वचनेन वृद्धा-
स्तथेतरेषां कुशलं वदेथाः ॥ ८ ॥

स्वाध्यायशील ब्राह्मणों, संन्यासियों तथा सदा वनमें निवास करनेवाले तपस्वी मुनियों एवं बड़े-बूढ़े लोगोंसे हमारी ओरसे प्रणाम कहना और दूसरे लोगोंसे भी कुशल-समाचार पूछना ॥ ८ ॥

पुरोहितं धृतराष्ट्रस्य राज्ञ-
स्तथाऽऽचार्यानृत्विजो ये च तस्य ।
तैश्च त्वं तात सहितैर्यथार्हं
संगच्छेथाः कुशलेनैव सूत ॥ ९ ॥

तात संजय ! राजा धृतराष्ट्रके पुरोहित, आचार्य तथा उनके ऋत्विजोंसे भी (उनके साथ भेंट होनेपर) तुम

(हमारी ओरसे) कुशल-मङ्गलका समाचार पूछते हुए ही मिलना ॥ ९ ॥

(ततोऽव्यग्रस्तन्मनाः प्राञ्जलिश्च
कुर्या नमो मद्वचनेन तेभ्यः ।)

तदनन्तर शान्तभावसे उन्हींकी ओर मनकी वृत्तियोंको एकाग्र करके हाथ जोड़कर मेरे कहनेसे उन सबको प्रणाम निवेदन करना ॥

अश्रोत्रिया ये च वसन्ति वृद्धा
मनस्विनः शीलबलोपपन्नाः ।
आशंसन्तोऽस्माकमनुस्मरन्तो
यथाशक्ति धर्ममात्रां चरन्तः ॥ १० ॥
श्लाघस्व मां कुशलिनं स्म तेभ्यो
ह्यनामयं तात पृच्छेर्जघन्यम् ।

तात ! जो अश्रोत्रिय (शूद्र) वृद्ध पुरुष मनस्वी तथा शील और बलसे सम्पन्न हैं एवं हस्तिनापुरमें निवास करते हैं, जो यथाशक्ति कुछ धर्मका आचरण करते हुए हमलोगों-के प्रति शुभ कामना रखते हैं और बारंबार हमें याद करते हैं, उन सबसे हमलोगोंका कुशल-समाचार निवेदन करना । तत्पश्चात् उनके स्वास्थ्यका समाचार पूछना ॥ १०½ ॥

ये जीवन्ति व्यवहारेण राष्ट्रे
पशूंश्च ये पालयन्तो वसन्ति ॥ ११ ॥
(कृषीवला बिभ्रति ये च लोकं
तेषां सर्वेषां कुशलं स्म पृच्छेः ।)

जो कौरव-राज्यमें व्यापारसे जीविका चलाते हैं, पशुओं-का पालन करते हुए निवास करते हैं तथा जो खेती करके सब लोगोंका भरण-पोषण करते हैं, उन सब वैश्योंका भी कुशल-समाचार पूछना ॥ ११ ॥

आचार्य इष्टो नयगो विधेयो
वेदानभीप्सन् ब्रह्मचर्यं चचार ।
योऽस्त्रं चतुष्पात् पुनरेव चक्रे
द्रोणः प्रसन्नोऽभिवाद्यस्त्वयासौ ॥ १२ ॥

जिन्होंने वेदोंकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये पहले ब्रह्मचर्य-का पालन किया । तत्पश्चात् मन्त्र, उपचार, प्रयोग तथा संहार—इन चार पादोंसे युक्त अस्त्रविद्याकी शिक्षा प्राप्त की, वे सबके प्रिय, नीतिज्ञ, विनयी तथा सदा प्रसन्नचित्त रहने-वाले आचार्य द्रोण भी हमारे अभिवादनके योग्य हैं, तुम उनसे भी मेरा प्रणाम कहना ॥ १२ ॥

अधीतविद्यश्चरणोपपन्नो
योऽस्त्रं चतुष्पात् पुनरेव चक्रे ।
गन्धर्वपुत्रप्रतिमं तरस्विनं
तमश्वत्थामानं कुशलं स्म पृच्छेः ॥ १३ ॥

जो वेदाध्ययनसम्पन्न तथा सदाचारयुक्त हैं, जिन्होंने चारों पादोंसे युक्त अस्त्रविद्याकी शिक्षा पायी है, जो गन्धर्वकुमारके समान वेगशाली वीर हैं, उन आचार्यपुत्र अश्वत्थामाका भी कुशल-समाचार पूछना ॥ १३ ॥

शारद्वतस्यावसथं स्म गत्वा
महारथस्यात्मविदां वरस्य ।
त्वं मामभीक्ष्णं परिकीर्तयन् वै
कृपस्य पादौ संजय पाणिना स्पृशेः ॥ १४ ॥

संजय ! तदनन्तर आत्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महारथी कृपाचार्य के घर जाकर बारंबार मेरा नाम लेते हुए अपने हाथसे उनके दोनों चरणोंका स्पर्श करना ॥ १४ ॥

यस्मिञ्शौर्यमानृशंस्यं तपश्च
प्रज्ञा शीलं श्रुतिसत्त्वे धृतिश्च ।
पादौ गृहीत्वा कुरुसत्तमस्य
भीष्मस्य मां तत्र निवेदयेथाः ॥ १५ ॥

जिनमें वीरत्व, दया, तपस्या, बुद्धि, शील, शास्त्रज्ञान, सत्त्व और धैर्य आदि सद्गुण विद्यमान हैं, उन कुरुश्रेष्ठ पितामह भीष्मके दोनों चरण पकड़कर मेरा प्रणाम निवेदन करना ॥ १५ ॥

प्रज्ञाचक्षुर्यः प्रणेता कुरूणां
बहुश्रुतो वृद्धसेवी मनीषी ।
तस्मै राज्ञे स्थविरायाभिवाद्य
आचक्षीथाः संजय मामरोगम् ॥ १६ ॥

संजय ! जो कौरवगणोंके नेता, अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता, बड़े बूढ़ोंके सेवक और बुद्धिमान् हैं, उन वृद्ध नरेश प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्रको मेरा प्रणाम निवेदन करके यह बताना कि युधिष्ठिर नीरोग और सकुशल है ॥ १६ ॥

ज्येष्ठः पुत्रो धृतराष्ट्रस्य मन्दो
मूर्खः शठः संजय पापशीलः ।
यस्यापवादः पृथिवीं याति सर्वां
सुयोधनं कुशलं तात पृच्छेः ॥ १७ ॥

तात संजय ! जो धृतराष्ट्रका ज्येष्ठ पुत्र, मन्दबुद्धि, मूर्ख, शठ और पापाचारी है तथा जिसकी निन्दा सारी पृथ्वीपर फैल रही है, उस सुयोधनसे भी मेरी ओरसे कुशल-समाचार पूछना ॥ १७ ॥

भ्राता कनीयानपि तस्य मन्द-
स्तथाशीलः संजय सोऽपि शश्वत् ।
महेष्वासः शूरतमः कुरूणां
दुःशासनः कुशलं तात वाच्यः ॥ १८ ॥

तात संजय ! जो दुर्योधनका छोटा भाई है तथा उसीके समान मूर्ख और सदा पापमें संलग्न रहनेवाला है, कुरुकुलके उस महाधनुर्धर एवं विख्यात वीर दुःशासनसे भी कुशल पूछकर मेरा कुशल-समाचार कहना ॥ १८ ॥

यस्य कामो वर्तते नित्यमेव
नान्यः शमाद् भारतानामिति स्म ।
स बाह्लिकानामृषभो मनीषी
त्वयाभिवाद्यः संजय साधुशीलः ॥ १९ ॥

संजय ! भरतवंशियोंमें परस्पर शान्ति बनी रहे, इसके सिवा दूसरी कोई कामना जिनके हृदयमें कभी नहीं होती है, जो बाह्लीकवंशके श्रेष्ठ पुरुष हैं, उन साधु स्वभाववाले बुद्धिमान् बाह्लीकको भी तुम मेरा प्रणाम निवेदन करना ॥

गुणैरनेकैः प्रवरैश्च युक्तो
विज्ञानवान् नैव च निष्ठुरो यः ।
स्नेहादमर्षं सहते सदैव
स सोमदत्तः पूजनीयो मतो मे ॥ २० ॥

जो अनेक श्रेष्ठ गुणोंसे विभूषित और ज्ञानवान् हैं, जिनमें निष्ठुरताका लेशमात्र भी नहीं है, जो स्नेहवश सदा ही हमलोगोंका क्रोध सहन करते रहते हैं, वे सोमदत्त भी मेरे लिये पूजनीय हैं ॥ २० ॥

अर्हत्तमः कुरुषु सौमदत्तिः
स नो भ्राता संजय मत्सखा च ।
महेष्वासो रथिनामुत्तमोऽर्हः
सहामात्यः कुशलं तस्य पृच्छेः ॥ २१ ॥

संजय ! सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा कुरुकुलमें पूज्यतम पुरुष माने गये हैं । वे हमलोगोंके निकट सम्बन्धी और मेरे प्रिय सखा हैं । रथी वीरोंमें उनका बहुत ऊँचा स्थान है । वे महान् धनुर्धर तथा आदरणीय वीर हैं । तुम मेरी ओरसे मन्त्रियोंसहित उनका कुशल-समाचार पूछना ॥ २१ ॥

ये चैवान्ये कुरुमुख्या युवानः
पुत्राः पौत्रा भ्रातरश्चैव ये नः ।
यं यमेषां मन्यसे येन योग्यं
तत् तत् प्रोच्यानामयं सूत वाच्याः ॥ २२ ॥

संजय ! इनके सिवा और भी जो कुरुकुलके प्रधान नवयुवक हैं, जो हमारे पुत्र, पौत्र और भाई लगते हैं, इनमेंसे जिस-जिसको तुम जिस व्यवहारके योग्य समझो, उससे वैसी ही बात कहकर उन सबसे बताना कि पाण्डव-लोग स्वस्थ और सानन्द हैं ॥ २२ ॥

ये राजानः पाण्डवायोधनाय
समानीता धार्तराष्ट्रेण केचित् ।
वशातयः शाल्वकाः केकयाश्च
तथाम्बष्ठा ये त्रिगर्ताश्च मुख्याः ॥ २३ ॥
प्राच्योदीच्या दाक्षिणात्याश्च शूरा-
स्तथा प्रतीच्याः पार्वतीयाश्च सर्वे ।
अनृशंसाः शीलवृत्तोपपन्ना-
स्तेषां सर्वेषां कुशलं सूत पृच्छेः ॥ २४ ॥

दुर्योधनने हम पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेके लिये जिन-जिन राजाओंको बुलाया है। वे वशाति, शाल्व, केकय, अम्बष्ठ तथा त्रिगर्तदेशके प्रधान वीर, पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशाके शौर्यसम्पन्न योद्धा तथा समस्त पर्वतीय नरेश वहाँ उपस्थित हैं । वे लोग दयालु तथा शील और सदाचारसे सम्पन्न हैं । संजय ! तुम मेरी ओरसे उन सबका कुशल-मङ्गल पूछना ॥ २३-२४ ॥

हस्त्यारोहा रथिनः सादिनश्च
पदातयश्चार्यसङ्घा महान्तः ।
आख्याय मां कुशलिनं स्म नित्य-
मनामयं परिपृच्छेः समग्रान् ॥ २५ ॥

जो हाथीसवार, रथी, घुड़सवार, पैदल तथा बड़े-बड़े सज्जनोंके समुदाय वहाँ उपस्थित हैं, उन सबसे मुझे सकुशल बताकर उनका भी आरोग्य-समाचार पूछना ॥ २५ ॥

तथा राज्ञो ह्यर्थयुक्तानमात्यान्
दौवारिकान् ये च सेनां नयन्ति ।
आयव्ययं ये गणयन्ति नित्य-
मर्थांश्च ये महतश्चिन्तयन्ति ॥ २६ ॥

जो राजाके हितकर कार्योंमें लगे हुए मन्त्री, द्वारपाल, सेनानायक, आय-व्ययनिरीक्षक तथा निरन्तर बड़े-बड़े कार्यों एवं प्रश्नोंपर विचार करनेवाले हैं, उनसे भी कुशल-समाचार पूछना ॥ २६ ॥

वृन्दारकं कुरुमध्येष्वमूढं
महाप्रज्ञं सर्वधर्मोपपन्नम् ।
न तस्य युद्धं रोचते वै कदाचिद्
वैश्यापुत्रं कुशलं तात पृच्छेः ॥ २७ ॥

तात ! जो समस्त कौरवोंमें श्रेष्ठ, महाबुद्धिमान्, ज्ञानी तथा सब धर्मोंसे सम्पन्न है, जिसे कौरव और पाण्डवोंका युद्ध कभी अच्छा नहीं लगता, उस वैश्यापुत्र युयुत्सुका भी मेरी ओरसे कुशल-मङ्गल पूछना ॥ २७ ॥

निकर्तने देवने योऽद्वितीय-
श्छन्नोपधः साधुदेवी मताक्षः ।
यो दुर्जयो देवरथेन संख्ये
स चित्रसेनः कुशलं तात वाच्यः ॥ २८ ॥

तात ! जो धनके अपहरण और द्यूतक्रीड़ामें अद्वितीय है, छलको छिपाये रखकर अच्छी तरहसे जूआ खेलता है, पासे फेंकनेकी कलामें प्रवीण है तथा जो युद्धमें दिव्य रथारूढ़ वीरके लिये भी दुर्जय है, उस चित्रसेनसे भी कुशल-समाचार पूछना और बताना ॥ २८ ॥

गान्धारराजः शकुनिः पर्वतीयो
निकर्तने योऽद्वितीयोऽक्षदेवी ।
मानं कुर्वन् धार्तराष्ट्रस्य सूत
मिथ्याबुद्धेः कुशलं तात पृच्छेः ॥ २९ ॥

तात संजय ! जो जूआ खेलकर पराये धनका अपहरण करनेकी कलामें अपना सानी नहीं रखता तथा दुर्योधनका सदा सम्मान करता है, उस मिथ्याबुद्धि पर्वतनिवासी गान्धारराज शकुनिकी भी कुशल पूछना ॥ २९ ॥

यः पाण्डवानेकरथेन वीरः
समुत्सहत्यप्रधृष्यान् विजेतुम् ।
यो मुह्यतां मोहयिताद्वितीयो
वैकर्तनः कुशलं तस्य पृच्छेः ॥ ३० ॥

जो अद्वितीय वीर एकमात्र रथकी सहायतासे अजेय पाण्डवोंको भी जीतनेका उत्साह रखता है तथा जो मोहमें पड़े हुए धृतराष्ट्रके पुत्रोंको और भी मोहित करनेवाला है, उस वैकर्तन कर्णकी भी कुशल पूछना ॥ ३० ॥

स एव भक्तः स गुरुः स भर्ता
स वै पिता स च माता सुहृच्च ।
अगाधबुद्धिर्विदुरो दीर्घदर्शी
स नो मन्त्री कुशलं तं स्म पृच्छेः ॥ ३१ ॥

अगाधबुद्धि दूरदर्शी विदुरजी हमलोगोंके प्रेमी, गुरु, पालक, पिता-माता और सुहृद् हैं, वे ही हमारे मन्त्री भी हैं । संजय ! तुम मेरी ओरसे उनकी भी कुशल पूछना ॥ ३१ ॥

वृद्धाः स्त्रियो याश्च गुणोपपन्ना
ज्ञायन्ते नः संजय मातरस्ताः ।
ताभिः सर्वाभिः सहिताभिः समेत्य
स्त्रीभिर्वृद्धाभिरभिवादं वदेथाः ॥ ३२ ॥

संजय ! राजघरानेमें जो सद्गुणवती वृद्धा स्त्रियाँ हैं, वे सब हमारी माताएँ लगती हैं । उन सब वृद्धा स्त्रियोंसे एक साथ मिलकर तुम उनसे हमारा प्रणाम निवेदन करना ॥ ३२ ॥

कच्चित् पुत्रा जीवपुत्राः सुसम्यग्
वर्तन्ते वो वृत्तिमनृशंसरूपाः ।
इति स्मोक्त्वा संजय ब्रूहि पश्चा-
दजातशत्रुः कुशली सपुत्रः ॥ ३३ ॥

संजय ! उन बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंसे इस प्रकार कहना— 'माताओ ! आपके पुत्र आपके साथ उत्तम बर्ताव करते हैं न ? उनमें क्रूरता तो नहीं आ गयी है ? उन सबके वीर पुत्र हो गये हैं न ?' इस प्रकार कहकर पीछे यह बताना कि आपका बालक अजातशत्रु युधिष्ठिर पुत्रोंसहित सकुशल है ॥ ३३ ॥

या नो भार्याः संजय वेत्थ तत्र
तासां सर्वासां कुशलं तात पृच्छेः ।
सुसंगुप्ताः सुरभयोऽनवद्याः
कच्चिद् गृहानावसथाप्रमत्ताः ॥ ३४ ॥
कच्चिद् वृत्तिं श्वशुरेषु भद्राः
कल्याणीं वर्तध्वमनृशंसरूपाम् ।
यथा च वः स्युः पतयोऽनुकूला-
स्तथा वृत्तिमात्मनः स्थापयध्वम् ॥ ३५ ॥

तात संजय ! हस्तिनापुरमें हमारे भाइयोंकी जो स्त्रियाँ हैं, उन सबको तो तुम जानते ही हो । उन सबकी कुशल पूछना और कहना क्या तुमलोग सर्वथा सुरक्षित रहकर निर्दोष जीवन बिता रही हो ? तुम्हें आवश्यक सुगन्ध और प्रसाधन-सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं न ? तुम घरमें प्रमादरहित होकर रहती हो न ? भद्र महिलाओ ! क्या तुम श्वशुरजनोंके प्रति क्रूरतारहित कल्याणकारी बर्ताव करती हो तथा जिस प्रकार तुम्हारे पति अनुकूल बने रहें, वैसे व्यवहार और सद्भावको अपने हृदयमें स्थान देती हो ? ॥ ३४-३५ ॥

या नः स्नुषाः संजय वेत्थ तत्र
प्राप्ताः कुलेभ्यश्च गुणोपपन्नाः ।
प्रजावत्यो ब्रूहि समेत्य ताश्च
युधिष्ठिरो वोऽभ्यवदत् प्रसन्नः ॥ ३६ ॥

संजय ! तुम वहाँ उन स्त्रियोंको भी जानते हो, जो हमारी पुत्रवधुएँ लगती हैं, जो उत्तम कुलोंसे आयी हैं तथा सर्वगुणसम्पन्न और संतानवती हैं । वहाँ जाकर तुम उनसे कहना, 'बहुओ ! युधिष्ठिर प्रसन्न होकर तुमलोगोंसे कुशल-समाचार पूछते थे' ॥ ३६ ॥

कन्याः स्वजेथाः सदनेषु संजय
अनामयं मद्वचनेन पृष्ट्वा ।
कल्याणा वः सन्तु पतयोऽनुकूला
यूयं पतीनां भवतानुकूलाः ॥ ३७ ॥

संजय ! राजमहलमें जो छोटी-छोटी बालिकाएँ हैं, उन्हें हृदयसे लगाना और मेरी ओरसे उनका आरोग्य-समाचार पूछकर उन्हें कहना—'पुत्रियो ! तुम्हें कल्याणकारी पतिकी प्राप्ति हो और वे तुम्हारे अनुकूल बने रहें । साथ ही तुम भी पतियोंके अनुकूल बनी रहो' ॥ ३७ ॥

अलंकृता वस्त्रवत्यः सुगन्धा
अबीभत्साः सुखिता भोगवत्यः।
लघु यासां दर्शनं वाक् च लघ्वी
वेशस्त्रियः कुशलं तात पृच्छेः ॥ ३८ ॥

तात संजय ! जिनका दर्शन मनोहर और बातें मनको प्रिय लगनेवाली होती हैं, जो वेश-भूषासे अलङ्कृत, सुन्दर वस्त्रोंसे सुशोभित, उत्तम सुगन्ध धारण करनेवाली, घृणित व्यवहारसे रहित, सुखशालिनी और भोग-सामग्रीसे सम्पन्न हैं, उन वेश (शृङ्गार) धारण करानेवाली स्त्रियोंकी भी कुशल पूछना ॥ ३८ ॥

दास्यः स्युर्या ये च दासाः कुरूणां
तदाश्रया बहवः कुब्जखञ्जाः।
आख्याय मां कुशलिनं स्म तेभ्यो-
ऽप्यनामयं परिपृच्छेर्जघन्यम् ॥ ३९ ॥

कौरवोंके जो दास-दासियाँ हों तथा उनके आश्रित जो बहुतसे कुबड़े और लँगड़े मनुष्य रहते हों, उन सबसे मुझे सकुशल बताकर अन्तमें मेरी ओरसे उनकी भी कुशल पूछना ॥ ३९ ॥

कच्चिद् वृत्तिं वर्तते वै पुराणीं
कच्चिद् भोगान् धार्तराष्ट्रो ददाति।
अङ्गहीनान् कृपणान् वामनान् वा
यानानृशंस्यो धृतराष्ट्रो बिभर्ति॥ ४० ॥

(और कहना—) क्या राजा धृतराष्ट्र दयावश जिन अङ्गहीनों, दीनों और बौने मनुष्योंका पालन करते हैं, उन्हें दुर्योधन भरण-पोषणकी सामग्री देता है ? क्या वह उनकी प्राचीन जीविका-वृत्तिका निर्वाह करता है ? ॥ ४० ॥

अन्धांश्च सर्वान् स्थविरांस्तथैव
हस्त्याजीवा बहवो येऽत्र सन्ति।
आख्याय मां कुशलिनं स्म तेभ्यो-
ऽप्यनामयं परिपृच्छेर्जघन्यम् ॥ ४१ ॥

हस्तिनापुरमें जो बहुतसे हाथीवान हैं तथा जो अन्धे और बूढ़े हैं, उन सबको मेरी कुशल बताकर अन्तमें मेरी ओरसे उनके भी आरोग्य आदिका समाचार पूछना ॥ ४१ ॥

मा भैष्ट दुःखेन कुजीवितेन
नूनं कृतं परलोकेषु पापम्।
निगृह्य शत्रून् सुहृदोऽनुगृह्य
वासोभिरन्नेन च वो भरिष्ये ॥ ४२ ॥

साथ ही उन्हें आश्वासन देते हुए मेरा यह संदेश सुना देना। तुम्हें जो दुःख प्राप्त होता है अथवा कुत्सित जीवन बिताना पड़ता है, इसके कारण तुमलोग भयभीत न होना। निश्चय ही यह दूसरे जन्मोंमें किये हुए पापका फल प्रकट हुआ है। मैं कुछ ही दिनोंमें अपने शत्रुओंको कैद करके हितैषी सुहृदोंपर अनुग्रह करते हुए अन्न और वस्त्रद्वारा तुमलोगोंका भरण-पोषण करूँगा ॥ ४२ ॥

सन्त्येव मे ब्राह्मणेभ्यः कृतानि
भावीन्यथो नो बत वर्तयन्ति।
तान् पश्यामि युक्तरूपांस्तथैव
तामेव सिद्धिं श्रावयेथा नृपं तम् ॥ ४३ ॥

राजा दुर्योधनसे कहना, मैंने कुछ ब्राह्मणोंके लिये वार्षिक जीविका-वृत्तियाँ नियत कर रक्खी थीं, किंतु खेद है कि तुम्हारे कर्मचारीगण उन्हें ठीकसे नहीं चला रहे हैं। मैं उन ब्राह्मणोंको पुनः पूर्ववत् उन्हीं वृत्तियोंसे युक्त देखना चाहता हूँ। तुम किसी दूतके द्वारा मुझे यह समाचार सुना दो कि उन वृत्तियोंका अब यथावत् रूपसे पालन होने लगा है ॥ ४३ ॥

ये चानाथा दुर्बलाः सर्वकाल-
मात्मन्येव प्रयतन्तेऽथ मूढाः।
तांश्चापि त्वं कृपणान् सर्वथैव-
ह्यस्मद्वाक्यात् कुशलं तात पृच्छेः ॥ ४४ ॥

संजय ! जो अनाथ, दुर्बल एवं मूर्खजन सदा अपने शरीरका पोषण करनेके लिये ही प्रयत्न करते हैं, तुम मेरे कहनेसे उन दीनजनोंके पास भी जाकर सब प्रकारसे उनका कुशल-समाचार पूछना ॥ ४४ ॥

ये चाप्यन्ये संश्रिता धार्तराष्ट्रान्
नानादिग्भ्योऽभ्यागताः सूतपुत्र।
दृष्ट्वा तांश्चैवार्हतश्चापि सर्वान्
सम्पृच्छेथाः कुशलं चाव्ययं च ॥ ४५ ॥

सूतपुत्र ! इनके सिवा विभिन्न दिशाओंसे आये हुए दूसरे-दूसरे लोग धृतराष्ट्रपुत्रोंका आश्रय लेकर रहते हैं। उन सब माननीय पुरुषोंसे भी मिलकर उनकी कुशल और क्या वे जीवित बचे रहेंगे, इस सम्बन्धमें भी प्रश्न करना ॥

एवं सर्वानागताभ्यागतांश्च
राज्ञो दूतान् सर्वदिग्भ्योऽभ्युपेतान्।
पृष्ट्वा सर्वान् कुशलं तांश्च सूत
पश्चादहं कुशली तेषु वाच्यः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार वहाँ सब दिशाओंसे पधारे हुए राजदूतों तथा अन्य सब अभ्यागतोंसे कुशल-मङ्गल पूछकर अन्तमें उनसे मेरा कुशल-समाचार भी निवेदन करना ॥ ४६ ॥

न हीदृशाः सन्त्यपरे पृथिव्यां
ये योधका धार्तराष्ट्रेण लब्धाः।
धर्मस्तु नित्यो मम धर्म एव
महाबलः शत्रुनिबर्हणाय ॥ ४७ ॥

यद्यपि दुर्योधनने जिन योद्धाओंका संग्रह किया है, वैसे वीर इस भूमण्डलमें दूसरे नहीं हैं, तथापि धर्म ही नित्य है और मेरे पास शत्रुओंका नाश करनेके लिये धर्मका ही सबसे महान् बल है ॥ ४७ ॥

इदं पुनर्वचनं धार्तराष्ट्रं
सुयोधनं संजय श्रावयेथाः ।
यस्ते शरीरे हृदयं दुनोति
कामः कुरूनसपत्नोऽनुशिष्याम् ॥ ४८ ॥
न विद्यते युक्तिरेतस्य काचि-
न्नैवंविधाः स्याम यथा प्रियं ते ।
ददस्व वा शक्रपुरीं ममैव
युध्यस्व वा भारतमुख्य वीर ॥ ४९ ॥

संजय ! दुर्योधनको तुम मेरी यह बात पुनः सुना देना—'तुम्हारे शरीरके भीतर मनमें जो यह अभिलाषा उत्पन्न हुई है कि मैं कौरवोंका निष्कण्टक राज्य करूँ, वह तुम्हारे हृदयको पीड़ामात्र दे रही है। उसकी सिद्धिका कोई उपाय नहीं है। हम ऐसे पौरुषहीन नहीं हैं कि तुम्हारा यह प्रिय कार्य होने दें। भरतवंशके प्रमुख वीर ! तुम इन्द्रप्रस्थपुरी फिर मुझे ही लौटा दो अथवा युद्ध करो' ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरसंदेशे त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरसंदेशविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५० श्लोक हैं)

एकत्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका मुख्य-मुख्य कुरुवंशियोंके प्रति संदेश

युधिष्ठिर उवाच

उत सन्तमसन्तं वा बालं वृद्धं च संजय ।
उताबलं बलीयांसं धाता प्रकुरुते वशे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! साधु-असाधु, बालक-वृद्ध तथा निर्बल एवं बलिष्ठ—सबको विधाता अपने वशमें रखता है ॥ १ ॥

उत बालाय पाण्डित्यं पण्डितायोत बालताम् ।
ददाति सर्वमीशानः पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरन् ॥ २ ॥

वही सबका नियन्ता है और प्राणियोंके पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार उन्हें सब प्रकारका फल देता है। वही मूर्खको विद्वान् और विद्वानको मूर्ख बना देता है ॥ २ ॥

बलं जिज्ञासमानस्य आचक्षीथा यथातथम् ।
अथ मन्त्रं मन्त्रयित्वा याथातथ्येन हृष्टवत् ॥ ३ ॥

दुर्योधन अथवा धृतराष्ट्र यदि मेरे बल और सेनाका समाचार पूछें तो तुम उन्हें सब ठीक-ठीक बता देना। जिससे वे प्रसन्न होकर आपसमें सलाह करके यथार्थरूपसे अपने कर्तव्यका निश्चय कर सकें ॥ ३ ॥

गावल्गणे कुरून् गत्वा धृतराष्ट्रं महाबलम् ।
अभिवाद्योपसंगृह्य ततः पृच्छेरनामयम् ॥ ४ ॥

संजय ! तुम कुरुदेशमें जाकर मेरी ओरसे महाबली धृतराष्ट्रको प्रणाम करके उनके दोनों पैर पकड़ लेना और उनसे स्वास्थ्यका समाचार पूछना ॥ ४ ॥

ब्रूयाश्चैनं त्वमासीनं कुरुभिः परिवारितम् ।
तवैव राजन् वीर्येण सुखं जीवन्ति पाण्डवाः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् कौरवोंसे घिरकर बैठे हुए इन महाराज धृतराष्ट्रसे कहना—'राजन् ! पाण्डवलोग आपकी ही सामर्थ्यसे सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं ॥ ५ ॥

तव प्रसादाद् बालास्ते प्राप्ता राज्यमरिंदम ।
राज्ये तान् स्थापयित्वाग्रे नोपेक्षस्व विनश्यतः ॥ ६ ॥

'शत्रुदमन नरेश ! जब वे बालक थे, तब आपकी ही कृपासे उन्हें राज्य मिला था। पहले उन्हें राज्यपर बिठाकर अब अपने ही आगे उन्हें नष्ट होते देख उपेक्षा न कीजिये' ॥ ६ ॥

सर्वमप्येतदेकस्य नालं संजय कस्यचित् ।
तात संहत्य जीवामो द्विषतां मा वशं गमः ॥ ७ ॥

संजय ! उन्हें यह भी बताना कि 'तात ! यह सारा राज्य किसी एकके ही लिये पर्याप्त हो, ऐसी बात नहीं है। हम सब लोग मिलकर एक साथ रहकर सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह करें, इसके विपरीत करके आप शत्रुओंके वशमें न पड़ें' ॥ ७ ॥

तथा भीष्मं शान्तनवं भारतानां पितामहम् ।
शिरसाभिवदेथास्त्वं मम नाम प्रकीर्तयन् ॥ ८ ॥
अभिवाद्य च वक्तव्यस्ततोऽस्माकं पितामहः ।
भवता शन्तनोर्वंशो निमग्नः पुनरुद्धृतः ॥ ९ ॥
स त्वं कुरु तथा तात स्वमतेन पितामह ।
यथा जीवन्ति ते पौत्राः प्रीतिमन्तः परस्परम् ॥ १० ॥

इसी तरह भरतवंशियोंके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मजीको भी मेरा नाम लेते हुए सिर झुकाकर प्रणाम करना और प्रणामके पश्चात् हमारे उन पितामहसे इस प्रकार कहना—'दादाजी ! आपने शान्तनुके डूबते हुए वंशका पुनरुद्धार किया था। अब फिर अपनी बुद्धिसे विचार करके कोई ऐसा

कीजिये, जिससे आपके सभी पौत्र परस्पर प्रेमपूर्वक जीवन बिता सकें' ॥ ८-१० ॥

तथैव विदुरं ब्रूयाः कुरूणां मन्त्रधारिणम् ।
अयुद्धं सौम्य भाषस्व हितकामो युधिष्ठिरे ॥ ११ ॥

संजय ! इसी प्रकार कौरवोंके मन्त्री विदुरजीसे कहना— 'सौम्य ! आप युद्ध न होनेकी ही सलाह दें; क्योंकि आप युधिष्ठिरका हित चाहनेवाले हैं' ॥ ११ ॥

अथ दुर्योधनं ब्रूया राजपुत्रममर्षणम् ।
मध्ये कुरूणामासीनमनुनीय पुनः पुनः ॥ १२ ॥

तदनन्तर कौरवोंकी सभामें बैठे हुए अमर्षमें भरे रहनेवाले राजकुमार दुर्योधनसे बार-बार अनुनय-विनय करके कहना—॥ १२ ॥

अपापां यदुपैक्षस्त्वं कृष्णामेतां सभागताम् ।
तद् दुःखमतितिक्षाम मा वधिष्म कुरूनिति ॥ १३ ॥

'तुमने द्रौपदीको विना किसी अपराधके सभामें बुलाकर जो उसका तिरस्कार किया, उस दुःखको हमलोगोंने इसलिये चुपचाप सह लिया है कि हमें कौरवोंका वध न करना पड़े॥ १३ ॥

एवं पूर्वापरान् क्लेशानतितिक्षन्त पाण्डवाः ।
बलीयांसोऽपि सन्तो यत् तत् सर्वं कुरवो विदुः॥ १४ ॥

'इसी प्रकार पाण्डवोंने अत्यन्त बलिष्ठ होते हुए भी जो (तुम्हारे दिये हुए) पहले और पीछेके सभी क्लेशोंको सहन किया है, उसे सब कौरव जानते हैं ॥ १४ ॥

यन्नः प्राव्राजयः सौम्य अजिनैः प्रतिवासितान् ।
तद् दुःखमतितिक्षाम मा वधिष्म कुरूनिति ॥ १५ ॥

'सौम्य ! तुमने हमलोगोंको मृगछाला पहनाकर जो वनमें निर्वासित कर दिया, उस दुःखको भी हम इसलिये सह लेते हैं कि हमें कौरवोंका वध न करना पड़े ॥ १५ ॥

यत् कुन्तीं समतिक्रम्य कृष्णां केशेष्वधर्षयत् ।
दुःशासनस्तेऽनुमते तच्चास्माभिरुपेक्षितम् ॥ १६ ॥

'तुम्हारी अनुमतिसे दुःशासनने माता कुन्तीकी उपेक्षा करके जो द्रौपदीके केश पकड़ लिये, उस अपराधकी भी हमने इसीलिये उपेक्षा कर दी है ॥ १६ ॥

अथोचितं स्वकं भागं लभेमहि परंतप ।
निवर्तय परद्रव्याद् बुद्धिं गृद्धां नरर्षभ ॥ १७ ॥

'परंतप ! परंतु अब हम अपना उचित भाग निश्चय ही लेंगे । नरश्रेष्ठ ! तुम दूसरोंके धनसे अपनी लोभयुक्त बुद्धि हटा लो ॥ १७ ॥

शान्तिरेवं भवेद् राजन् प्रीतिश्चैव परस्परम् ।
राज्यैकदेशमपि नः प्रयच्छ शममिच्छताम् ॥ १८ ॥

'राजन् ! इस प्रकार हमलोगोंमें परस्पर शान्ति एवं प्रीति बनी रह सकती है । हम शान्ति चाहते हैं; भले ही तुम हमें राज्यका एक हिस्सा ही दे दो ॥ १८ ॥

अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दीं वारणावतम् ।
अवसानं भवत्वत्र किंचिदेकं च पञ्चमम् ॥ १९ ॥

'अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत तथा पाँचवाँ कोई भी एक गाँव दे दो । इसीपर युद्धकी समाप्ति हो जायगी॥

भ्रातॄणां देहि पञ्चानां पञ्च ग्रामान् सुयोधन ।
शान्तिर्नोऽस्तु महाप्राज्ञ ज्ञातिभिः सह संजय ॥ २० ॥

'सुयोधन ! हम पाँच भाइयोंको पाँच गाँव दे दो ।' महाप्राज्ञ संजय ! ऐसा हो जानेपर अपने कुटुम्बीजनोंके साथ हमलोगोंकी शान्ति बनी रहेगी ॥ २० ॥

भ्राता भ्रातरमन्वेतु पिता पुत्रेण युज्यताम् ।
स्मयमानाः समायान्तु पञ्चालाः कुरुभिः सह ॥ २१ ॥
अक्षतान् कुरुपाञ्चालान् पश्येयमिति कामये ।
सर्वे सुमनसस्तात शाम्याम भरतर्षभ ॥ २२ ॥

'भाई भाईसे मिले और पिता पुत्रसे मिले । पाञ्चालदेशीय क्षत्रिय कुरुवंशियोंके साथ मुसकराते हुए मिलें । मेरी यही कामना है कि कौरवों तथा पाञ्चालोंको अक्षतशरीर देखूँ । तात ! भरतश्रेष्ठ दुर्योधन ! हम सब लोग प्रसन्नचित्त होकर शान्त हो जायँ, ऐसी चेष्टा करो' ॥ २१-२२ ॥

अलमेव शमायास्मि तथा युद्धाय संजय ।
धर्मार्थयोरलं चाहं मृदवे दारुणाय च ॥ २३ ॥

संजय ! मैं शान्ति रखनेमें भी समर्थ हूँ और युद्ध करनेमें भी । धर्म और अर्थके विषयका भी मुझे ठीक-ठीक ज्ञान है । मैं समयानुसार कोमल भी हो सकता हूँ और कठोर भी ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरसंदेशे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरसंदेशविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा कौरवोंके लिये संदेश देना, संजयका हस्तिनापुर जा धृतराष्ट्रसे मिलकर उन्हें युधिष्ठिरका कुशल-समाचार कहकर धृतराष्ट्रके कार्यकी निन्दा करना

वैशम्पायन उवाच

(धर्मराजस्य तु वचः श्रुत्वा पार्थो धनंजयः।
उवाच संजयं तत्र वासुदेवस्य शृण्वतः॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मराज युधिष्ठिरकी बात सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके सुनते हुए वहाँ संजयसे इस प्रकार कहा।

अर्जुन उवाच

पितामहं शान्तनवं धृतराष्ट्रं च संजय।
द्रोणं सपुत्रं शल्यं च महाराजं च बाह्लिकम्॥
विकर्णं सोमदत्तं च शकुनिं चापि सौबलम्।
विविंशतिं चित्रसेनं जयत्सेनं च संजय॥
भगदत्तं तथा चैव शूरं रणकृतां वरम्॥
ये चाप्यन्ये कुरवस्तत्र सन्ति
राजानश्चेद् भूमिपालाः समेताः।
युयुत्सवः पार्थिवाः सैन्धवाश्च
समानीता धार्तराष्ट्रेण सूत॥
यथान्यायं कुशलं वन्दनं च
समागमे मद्वचनेन वाच्याः।
ततो ब्रूयाः संजय राजमध्ये
दुर्योधनं पापकृतां प्रधानम्॥

अर्जुन बोले—संजय! शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म, धृतराष्ट्र, पुत्रसहित द्रोणाचार्य, महाराज शल्य, बाह्लीक, विकर्ण, सोमदत्त, सुबलपुत्र शकुनि, विविंशति, चित्रसेन, जयत्सेन तथा योद्धाओंमें श्रेष्ठ शूरवीर भगदत्त—इन सबसे और दूसरे भी जो कौरव वहाँ रहते हैं, युद्धकी इच्छासे जो-जो राजा वहाँ एकत्र हुए हैं तथा दुर्योधनने जिन-जिन भूमिपालों और सिंधुदेशीय वीरोंको बुला रक्खा है, उन सबसे भी यथोचित रीतिसे मिलकर मेरी ओरसे कुशल और अभिवादन कहना। तत्पश्चात् राजाओंकी मण्डलीमें पापियोंके सिरमौर दुर्योधनको मेरा संदेश सुना देना॥

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रतिष्ठाप्य धनंजयस्तं
ततोऽर्थवद् धर्मवच्चैव पार्थः।
उवाच वाक्यं स्वजनप्रहर्षं
वित्रासनं धृतराष्ट्रात्मजानाम्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार कुन्तीपुत्र धनंजयने संजयको जानेकी अनुमति देकर अर्थ और धर्मसे युक्त बात कही, जो स्वजनोंको हर्ष देनेवाली तथा धृतराष्ट्रके पुत्रोंको भयभीत करनेवाली थी॥

अर्जुनेन समादिष्टस्तथेत्युक्त्वा तु संजयः।
पार्थानामन्त्रयामास केशवं च यशस्विनम्॥)

अर्जुनके इस प्रकार आदेश देनेपर संजयने 'तथास्तु' कहकर उसे शिरोधार्य किया। तत्पश्चात् उसने अन्य कुन्तीकुमारों तथा यशस्वी भगवान् श्रीकृष्णसे जानेकी अनुमति माँगी॥

अनुज्ञातः पाण्डवेन प्रययौ संजयस्तदा।
शासनं धृतराष्ट्रस्य सर्वं कृत्वा महात्मनः॥ १॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर संजय महात्मा राजा धृतराष्ट्रके सम्पूर्ण आदेशोंका पालन करके उस समय वहाँसे प्रस्थित हुए॥ १॥

सम्प्राप्य हास्तिनपुरं शीघ्रमेव प्रविश्य च।
अन्तःपुरं समास्थाय द्वाःस्थं वचनमब्रवीत्॥ २॥

हस्तिनापुर पहुँचकर उन्होंने शीघ्र ही राजभवनमें प्रवेश किया और अन्तःपुरके निकट जाकर द्वारपालसे कहा-॥

आचक्ष्व धृतराष्ट्राय द्वाःस्थ मां समुपागतम्।
सकाशात् पाण्डुपुत्राणां संजयं मा चिरं कृथाः॥ ३॥

'द्वारपाल! तुम राजा धृतराष्ट्रको मेरे आनेकी सूचना दो और कहो—'पाण्डवोंके पाससे संजय आया है।' विलम्ब न करो॥ ३॥

जागर्ति चेदभिवदेस्त्वं हि द्वाःस्थ
प्रविशेयं विदितो भूमिपस्य।
निवेद्यमत्रात्ययिकं हि मेऽस्ति
द्वाःस्थोऽथ श्रुत्वा नृपतिं जगाम॥ ४॥

'द्वारपाल! यदि महाराज जागते हों तो तुम उन्हें मेरा प्रणाम कहना। उनकी सूचना मिल जानेपर मैं भीतर प्रवेश करूँगा। मुझे उनसे एक आवश्यक निवेदन करना है।' यह सुनकर द्वारपाल महाराजके पास गया और इस प्रकार बोला॥

द्वाःस्थ उवाच

संजयोऽथ भूमिपते नमस्ते
दिदृक्षया द्वारमुपागतस्ते।
प्राप्तो दूतः पाण्डवानां सकाशात्
प्रशाधि राजन् किमयं करोतु॥ ५॥

द्वारपालने कहा—महाराज! आपको नमस्कार है। पाण्डवोंके पाससे लौटे हुए दूत संजय आपके दर्शनकी इच्छा

द्वारपर खड़े हैं। राजन्! आज्ञा दीजिये, ये संजय क्या करें? ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

आचक्ष्व मां कुशलिनं कल्पमस्मै
प्रवेश्यतां स्वागतं संजयाय।
न चाहमेतस्य भवाम्यकल्पः
स मे कस्माद् द्वारि तिष्ठेच्च सक्तः॥ ६ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—द्वारपाल! संजयका स्वागत है। उसे कहो कि मैं सकुशल हूँ, अतः इस समय उससे भेंट करनेको तैयार हूँ। उसे भीतर ले आओ। उससे मिलनेमें मुझे कभी भी अड़चन नहीं होती। फिर वह दरवाजेपर रुककर क्यों खड़ा है? ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रविश्यानुमते नृपस्य
महद् वेश्म प्राज्ञशूरार्यगुप्तम्।
सिंहासनस्थं पार्थिवमाससाद
वैचित्रवीर्यं प्राञ्जलिः सूतपुत्रः॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार राजाकी आज्ञा पाकर सूतपुत्र संजयने बुद्धिमान्, शूरवीर तथा श्रेष्ठ पुरुषोंसे सुरक्षित विशाल राजभवनमें प्रवेश किया और सिंहासनपर बैठे हुए विचित्रवीर्यनन्दन महाराज धृतराष्ट्रके पास जा हाथ जोड़कर कहा ॥ ७ ॥

संजय उवाच

संजयोऽहं भूमिपते नमस्ते
प्राप्तोऽस्मि गत्वा नरदेव पाण्डवान्।
अभिवाद्य त्वां पाण्डुपुत्रो मनस्वी
युधिष्ठिरः कुशलं चान्वपृच्छत्॥ ८ ॥

संजय बोला—भूपाल! आपको नमस्कार है। नरदेव! मैं संजय हूँ और पाण्डवोंके पास जाकर लौटा हूँ। उदारचित्त पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने आपको प्रणाम करके आपकी कुशल पूछी है ॥ ८ ॥

स ते पुत्रान् पृच्छति प्रीयमाणः
कच्चित् पुत्रैः प्रीयसे नप्तृभिश्च।
तथा सुहृद्भिः सचिवैश्च राजन्
ये चापि त्वामुपजीवन्ति तैश्च॥ ९ ॥

उन्होंने बड़ी प्रसन्नताके साथ आपके पुत्रोंका समाचार पूछा है। राजन्! आप अपने पुत्रों, नातियों, सुहृदों, मन्त्रियों तथा जो आपके आश्रित रहकर जीवननिर्वाह करते हैं, उन सबके साथ आनन्दपूर्वक हैं न? ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अभिनन्द्य त्वां तात वदामि संजय
अजातशत्रुं च सुखेन पार्थम्।
कच्चित् स राजा कुशली सपुत्रः
सहामात्यः सानुजः कौरवाणाम्॥ १० ॥

धृतराष्ट्रने कहा—तात संजय! मैं तुम्हारा स्वागत करके पूछता हूँ कि कुन्तीनन्दन अजातशत्रु युधिष्ठिर सुखसे हैं न? क्या कौरवोंके राजा युधिष्ठिर अपने पुत्र, मन्त्री तथा छोटे भाइयोंसहित सकुशल हैं? ॥ १० ॥

संजय उवाच

सहामात्यः कुशली पाण्डुपुत्रो
बुभूषते यच्च तेऽग्रेऽऽत्मनोऽभूत्।
निर्णिक्तधर्मार्थकरो मनस्वी
बहुश्रुतो दृष्टिमाञ्छीलवांश्च॥ ११ ॥

संजयने कहा—पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपने मन्त्रियोंसहित सकुशल हैं और पहले आपके सामने जो उनका राज्य और धन आदि उन्हें प्राप्त था, उसे पुनः वापस लेना चाहते हैं। वे विशुद्धभावसे धर्म और अर्थका सेवन करनेवाले, मनस्वी, विद्वान्, दूरदर्शी और शीलवान् हैं ॥ ११ ॥

परो धर्मात् पाण्डवस्यानृशंस्यं
धर्मः परो वित्तचयान्मतोऽस्य।
सुखप्रिये धर्महीनेऽनपार्थेऽ-
नुरुध्यते भारत तस्य बुद्धिः॥ १२ ॥

भारत! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी दृष्टिमें अन्य धर्मोंकी अपेक्षा दया ही परम धर्म है। वे धनसंग्रहकी अपेक्षा धर्मपालनको ही श्रेष्ठ मानते हैं। उनकी बुद्धि धर्मविहीन एवं निष्प्रयोजन सुख तथा प्रिय वस्तुओंका अनुसरण नहीं करती है ॥ १२ ॥

परप्रयुक्तः पुरुषो विचेष्टते
सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा।
इमं दृष्ट्वा नियमं पाण्डवस्य
मन्ये परं कर्म दैवं मनुष्यात्॥ १३ ॥

महाराज! सूतमें बँधी हुई कठपुतली जिस प्रकार दूसरोंसे प्रेरित होकर ही नृत्य करती है, उसी प्रकार मनुष्य परमात्माकी प्रेरणासे ही प्रत्येक कार्यके लिये चेष्टा करता है। पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके इस कष्टको देखकर मैं यह मानने लगा हूँ कि मनुष्यके पुरुषार्थकी अपेक्षा दैव (ईश्वरीय) विधान ही बलवान् है ॥ १३ ॥

इमं च दृष्ट्वा तव कर्मदोषं
पापोदर्कं घोरमवर्णरूपम्।
यावत् परः कामयतेऽतिवेलं
तावन्नरोऽयं लभते प्रशंसाम्॥ १४ ॥

आपका कर्मदोष अत्यन्त भयंकर, अवर्णनीय तथा भविष्यमें पाप एवं दुःखकी प्राप्ति करानेवाला है। इसे भी देखकर मैं इसी निश्चयपर पहुँचा हूँ कि परमात्माका विधान ही प्रधान है। जबतक विधाता चाहता है, तभीतक यह मनुष्य सीमित समयतक ही प्रशंसा पाता है ॥ १४ ॥

अजातशत्रुस्तु विहाय पापं
जीर्णां त्वचं सर्प इवासमर्थाम्।
विरोचतेऽहार्यवृत्तेन वीरो
युधिष्ठिरस्त्वयि पापं विसृज्य ॥ १५ ॥

जैसे सर्प पुरानी केंचुलको, जो शरीरमें ठहर नहीं सकती, उतारकर चमक उठता है, उसी प्रकार अजातशत्रु वीर युधिष्ठिर पापका परित्याग करके और उस पापको आपपर ही छोड़कर अपने स्वाभाविक सदाचारसे सुशोभित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

हन्तात्मनः कर्म निबोध राजन्
धर्मार्थयुक्तादार्यवृत्तादपेतम्।
उपक्रोशं चेह गतोऽसि राजन्
भूयश्च पापं प्रसजेदमुत्र ॥ १६ ॥

महाराज! जरा आप अपने कर्मपर तो ध्यान दीजिये। धर्म और अर्थसे युक्त जो श्रेष्ठ पुरुषोंका व्यवहार है, आपका बर्ताव उससे सर्वथा विपरीत है। राजन्! इसीके कारण इस लोकमें आपकी निन्दा हो रही है और पुनः परलोकमें भी आपको पापमय नरकका दुःख भोगना पड़ेगा ॥ १६ ॥

स त्वमर्थं संशयितं विना तै-
राशंससे पुत्रवशानुगोऽस्य।
अधर्मशब्दश्च महान् पृथिव्यां
नेदं कर्म त्वत्समं भारताग्र्य ॥ १७ ॥

भरतवंशशिरोमणे! आप इस समय अपने पुत्रोंके वशमें होकर पाण्डवोंको अलग करके अकेले उनकी सारी सम्पत्ति ले लेना चाहते हैं; पहले तो इसकी सफलतामें ही संदेह है। (और यदि आप सफल हो भी जायँ तो) इस भूमण्डलमें इस अधर्मके कारण आपकी बड़ी भारी निन्दा होगी। अतः यह कार्य कदापि आपके योग्य नहीं है ॥ १७ ॥

हीनप्रज्ञो दौष्कुलेयो नृशंसो
दीर्घं वैरी क्षत्रविद्यास्वधीरः।
एवंधर्मानापदः संश्रयेयु-
र्हीनवीर्यो यश्च भवेदशिष्टः ॥ १८ ॥

जो लोग बुद्धिहीन, नीच कुलमें उत्पन्न, क्रूर, दीर्घकालतक वैरभाव बनाये रखनेवाले, क्षत्रियोचित युद्धविद्यामें अनभिज्ञ, पराक्रमहीन और अशिष्ट होते हैं, ऐसे ही स्वभावके लोगोंपर आपत्तियाँ आती हैं ॥ १८ ॥

कुले जातो बलवान् यो यशस्वी
बहुश्रुतः सुखजीवी यतात्मा।
धर्माधर्मौ ग्रथितौ यो बिभर्ति
स ह्यस्य दिष्टस्य वशादुपैति ॥ १९ ॥

जो कुलीन, बलवान्, यशस्वी, बहुज्ञ विद्वान्, सुखजीवी और मनको वशमें रखनेवाला है तथा जो परस्पर गुँथे हुए धर्म और अधर्मको धारण करता है, वही भाग्यवश अभी[illegible] गुण-सम्पत्ति प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

कथं हि मन्त्राग्र्यधरो मनीषी
धर्मार्थयोरापदि सम्प्रणेता।
एवं युक्तः सर्वमन्त्रैरहीनो
नरो नृशंसं कर्म कुर्यादमूढः ॥ २० ॥

आप श्रेष्ठ मन्त्रियोंका सेवन करनेवाले हैं, स्वयं [illegible] बुद्धिमान् हैं, आपत्तिकालमें धर्म और अर्थका उचित[illegible] प्रयोग करते हैं, सब प्रकारकी अच्छी सलाहोंसे भी आप यु[illegible] हैं। फिर आप-जैसे साधनसम्पन्न विद्वान् पुरुष ऐसा क्रूरता[illegible] कार्य कैसे कर सकते हैं? ॥ २० ॥

तव ह्यमी मन्त्रविदः समेत्य
समासते कर्मसु नित्ययुक्ताः।
तेषामयं बलवान् निश्चयश्च
कुरुक्षये नियमेनोदपादि ॥ २१ ॥

सदा कर्मोंमें नियुक्त किये हुए ये आपके मन्त्रवेत्ता [illegible] कर्ण आदि एकत्र होकर बैठक किया करते हैं। इन्हों[illegible] (पाण्डवोंको राज्य न देनेका) जो प्रबल निश्चय कर लि[illegible] है, यह अवश्य ही कौरवोंके भावी विनाशका कारण [illegible] गया है ॥ २१ ॥

अकालिकं कुरवो नाभविष्यन्
पापेन चेत् पापमजातशत्रुः।
इच्छेज्जातु त्वयि पापं विसृज्य
निन्दा चेयं तव लोकेऽभविष्यत् ॥ २२ ॥

राजन्! यदि अजातशत्रु युधिष्ठिर (आपको ही दो[illegible] ठहराकर) आपपर ही सारे पापों (दोषों) का भार डाल[illegible] (आपकी ही भाँति) पापके बदले पाप करनेकी इच्छा [illegible] लें तो सारे कौरव असमयमें ही नष्ट हो जायँ और संसा[illegible] केवल आपकी निन्दा फैल जाय ॥ २२ ॥

किमन्यत्र विषयादीश्वराणां
यत्र पार्थः परलोकं स द्रष्टुम्।
अत्यक्रामत् स तथा सम्मतः स्या-
न्न संशयो नास्ति मनुष्यकारः ॥ २३ ॥

ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो लोकपालोंके अधिकारसे [illegible] हो? तभी तो अर्जुन (इन्द्रकील पर्वतपर लोकपालोंसे मिल[illegible]

एवं उनसे अस्त्र प्राप्त करके भू और भुवर्लोकको लाँघकर) स्वर्गलोकको देखनेके लिये गये थे। इस प्रकार लोकपालोंद्वारा सम्मानित होनेपर भी यदि उन्हें कष्ट भोगना पड़ता है तो निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि दैवबलके सामने मनुष्यका पुरुषार्थ कुछ भी नहीं है ॥ २३ ॥

एतान् गुणान् कर्मकृतानवेक्ष्य
भावाभावौ वर्तमानावनित्यौ।
बलिर्हि राजा पारमविन्दमानो
नान्यत् कालात् कारणं तत्र मेने ॥२४॥

ये शौर्य, विद्या आदि गुण अपने पूर्वकर्मके अनुसार ही प्राप्त होते हैं और प्राणियोंकी वर्तमान उन्नति तथा अवनति भी अनित्य हैं। यह सब सोचकर राजा बलिने जब इसका पार नहीं पाया, तब यही निश्चय किया कि इस विषयमें काल (दैव) के सिवा और कोई कारण नहीं है ॥ २४ ॥

चक्षुःश्रोत्रे नासिका त्वक् च जिह्वा
ज्ञानस्यैतान्यायतनानि जन्तोः।
तानि प्रीतान्येव तृष्णाक्षयान्ते
तान्यव्यथो दुःखहीनः प्रणुद्यात्॥ २५ ॥

आँख, कान, नाक, त्वचा तथा जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ समस्त प्राणियोंके रूप आदि विषयोंके ज्ञानके स्थान (कारण) हैं। तृष्णाका अन्त होनेके पश्चात् ये सदा प्रसन्न ही रहती हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह व्यथा और दुःखसे रहित हो तृष्णाकी निवृत्तिके लिये उन इन्द्रियोंको अपने वशमें करे ॥ २५ ॥

न त्वेव मन्ये पुरुषस्य कर्म
संवर्तते सुप्रयुक्तं यथावत्।
मातुः पितुः कर्मणाभिप्रसूतः
संवर्धते विधिवद् भोजनेन ॥ २६ ॥

कहते हैं, केवल पुरुषार्थका अच्छे ढंगसे प्रयोग होनेपर भी वह उत्तम फल देनेवाला होता है, जैसे माता-पिताके प्रयत्नसे उत्पन्न हुआ पुत्र विधिपूर्वक भोजनादिद्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है; परंतु मैं इस मान्यतापर विश्वास नहीं करता (क्योंकि इस विषयमें दैव ही प्रधान है) ॥ २६ ॥

प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राजन्
निन्दाप्रशंसे च भजन्त एव।
परस्त्वेनं गर्हयतेऽपराधे
प्रशंसते साधुवृत्तं तमेव ॥ २७ ॥

राजन्! इस जगत्में प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसा—ये मनुष्यको प्राप्त होते ही रहते हैं। इसीलिये लोग अपराध करनेपर अपराधीकी निन्दा करते हैं और जिसका बर्ताव उत्तम होता है, उस साधु पुरुषकी ही प्रशंसा करते हैं॥ २७॥

स त्वां गर्हे भारतानां विरोधा-
दन्तो नूनं भवितायं प्रजानाम्।
नो चेदिदं तव कर्मापराधात्
कुरून् दहेत् कृष्णवर्त्मेव कक्षम् ॥ २८ ॥

अतः आप जो भरतवंशमें विरोध फैलाते हैं, इसके कारण मैं तो आपकी निन्दा करता हूँ; क्योंकि इस कौरव-पाण्डव-विरोधसे निश्चय ही समस्त प्रजाओंका विनाश होगा। यदि आप मेरे कथनानुसार कार्य नहीं करेंगे तो आपके अपराधसे अर्जुन समस्त कौरववंशको उसी प्रकार दग्ध कर डालेंगे, जैसे आग घास-फूसके समूहको जला देती है ॥ २८ ॥

त्वमेवैको जातु पुत्रस्य राजन्
वशं गत्वा सर्वलोके नरेन्द्र।
कामात्मनः श्लाघनो द्यूतकाले
नागाः शमं पश्य विपाकमस्य॥ २९ ॥

राजन्! महाराज! समस्त संसारमें एकमात्र आप ही अपने स्वेच्छाचारी पुत्रकी प्रशंसा करते हुए उसके अधीन होकर द्यूतक्रीड़ाके समय जो उसकी प्रशंसा करते थे तथा (राज्यका लोभ छोड़कर) शान्त न हो सके, उसका अब यह भयंकर परिणाम अपनी आँखों देख लीजिये ॥ २९ ॥

अनाप्तानां संग्रहात् त्वं नरेन्द्र
तथाऽऽप्तानां निग्रहाच्चैव राजन्।
भूमिं स्फीतां दुर्बलत्वादनन्ता-
मशक्तस्त्वं रक्षितुं कौरवेय ॥ ३० ॥

नरेन्द्र! आपने ऐसे लोगों (शकुनि-कर्ण आदि) को इकट्ठा कर लिया है, जो विश्वासके योग्य नहीं हैं तथा विश्वसनीय पुरुषों (पाण्डवों) को आपने दण्ड दिया है, अतः कुरुकुल-नन्दन! अपनी इस (मानसिक) दुर्बलताके कारण आप अनन्त एवं समृद्धिशालिनी पृथिवीकी रक्षा करनेमें कभी समर्थ नहीं हो सकते ॥ ३० ॥

अनुज्ञातो रथवेगावधूतः
श्रान्तोऽभिपद्ये शयनं नृसिंह।
प्रातः श्रोतारः कुरवः सभाया-
मजातशत्रोर्वचनं समेताः ॥ ३१ ॥

नरश्रेष्ठ! इस समय रथके वेगसे हिलने डुलनेके कारण मैं थक गया हूँ, यदि आज्ञा हो तो सोनेके लिये जाऊँ। प्रातः-काल जब सभी कौरव सभामें एकत्र होंगे, उस समय वे अजातशत्रु युधिष्ठिरके वचन सुनेंगे ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अनुज्ञातोऽस्यावसथं परेहि
प्रपद्यस्व शयनं सूतपुत्र।
प्रातः श्रोतारः कुरवः सभाया-
मजातशत्रोर्वचनं त्वयोक्तम्॥ ३२॥

धृतराष्ट्रने कहा—सूतपुत्र! मैं आज्ञा देता हूँ, तुम अपने घर जाओ और शयन करो। सबेरे सब कौरव सभामें एकत्र हो तुम्हारे मुखसे अजातशत्रु युधिष्ठिरके संदेशको सुनेंगे॥ ३२॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे द्वात्रिंशोऽध्यायः॥ ३२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें धृतराष्ट्रसंजयसंवादविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२॥

(दक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

(प्रजागरपर्व)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः*

धृतराष्ट्र-विदुर-संवाद

वैशम्पायन उवाच

द्वाःस्थं प्राह महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो महीपतिः।
विदुरं द्रष्टुमिच्छामि तमिहानय मा चिरम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! [संजयके चले जानेपर] महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने द्वारपालसे कहा—'मैं विदुरसे मिलना चाहता हूँ। उन्हें यहाँ शीघ्र बुला लाओ'॥१॥

प्रहितो धृतराष्ट्रेण दूतः क्षत्तारमब्रवीत्।
ईश्वरस्त्वां महाराजो महाप्राज्ञ दिदृक्षति॥ २॥

धृतराष्ट्रका भेजा हुआ वह दूत जाकर विदुरसे बोला—'महामते! हमारे स्वामी महाराज धृतराष्ट्र आपसे मिलना चाहते हैं'॥ २॥

एवमुक्तस्तु विदुरः प्राप्य राजनिवेशनम्।
अब्रवीद् धृतराष्ट्राय द्वाःस्थ मां प्रतिवेदय॥ ३॥

उसके ऐसा कहनेपर विदुरजी राजमहलके पास जाकर बोले—'द्वारपाल! धृतराष्ट्रको मेरे आनेकी सूचना दे दो'॥

द्वाःस्थ उवाच

विदुरोऽयमनुप्राप्तो राजेन्द्र तव शासनात्।
द्रष्टुमिच्छति ते पादौ किं करोतु प्रशाधि माम्॥ ४॥

द्वारपालने जाकर कहा—महाराज! आपकी आज्ञासे विदुरजी यहाँ आ पहुँचे हैं, वे आपके चरणोंका दर्शन करना चाहते हैं। मुझे आज्ञा दीजिये, उन्हें क्या कार्य बताया जाय?॥ ४॥

धृतराष्ट्र उवाच

प्रवेशय महाप्राज्ञं विदुरं दीर्घदर्शिनम्।
अहं हि विदुरस्यास्य नाकल्पो जातु दर्शने॥ ५॥

धृतराष्ट्रने कहा—महाबुद्धिमान् दूरदर्शी विदुरको भीतर ले आओ, मुझे इस विदुरसे मिलनेमें कभी भी अड़चन नहीं है॥ ५॥

द्वाःस्थ उवाच

प्रविशान्तःपुरं क्षत्तर्महाराजस्य धीमतः।
नहि ते दर्शनेऽकल्पो जातु राजाब्रवीद्धि माम्॥ ६॥

द्वारपाल विदुरके पास आकर बोला—विदुरजी! आप बुद्धिमान् महाराज धृतराष्ट्रके अन्तःपुरमें प्रवेश कीजिये। महाराजने मुझसे कहा है कि मुझे विदुरसे मिलनेमें कभी अड़चन नहीं है॥ ६॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रविश्य विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम्।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं चिन्तयानं नराधिपम्॥ ७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर विदुर धृतराष्ट्रके महलके भीतर जाकर चिन्तामें पड़े हुए राजासे हाथ जोड़कर बोले—॥ ७॥

विदुरोऽहं महाप्राज्ञ सम्प्राप्तस्तव शासनात्।
यदि किंचन कर्तव्यमयमस्मि प्रशाधि माम्॥ ८॥

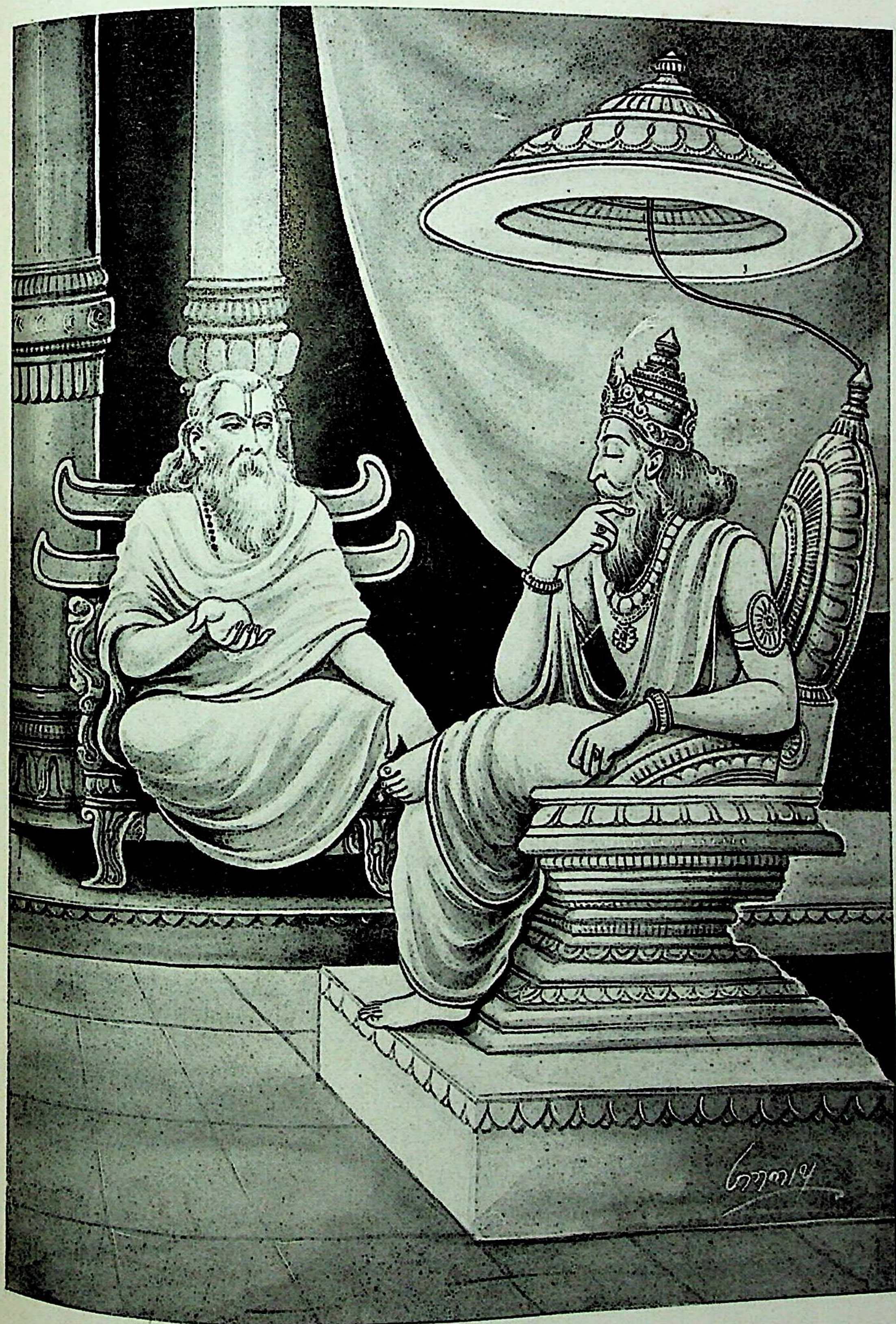
'महाप्राज्ञ! मैं विदुर हूँ, आपकी आज्ञासे यहाँ आया हूँ। यदि मेरे करने योग्य कुछ काम हो तो मैं उपस्थित हूँ, मुझे आज्ञा कीजिये'॥ ८॥

धृतराष्ट्र उवाच

संजयो विदुर प्राज्ञो गर्हयित्वा च मां गतः।
अजातशत्रोः श्वो वाक्यं सभामध्ये स वक्ष्यति॥ ९॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! बुद्धिमान् संजय आया था, वह मुझे बुरा-भला कहकर चला गया है। कल सभामें वह अजातशत्रु युधिष्ठिरके वचन सुनायेगा॥ ९॥

* इस ३३वें अध्यायसे प्रारम्भ होकर ४०वें अध्यायतक 'विदुरनीति' है।



विदुर और धृतराष्ट्र

तस्याद्य कुरुवीरस्य न विज्ञातं वचो मया।
तन्मे दहति गात्राणि तदकार्षीत् प्रजागरम् ॥ १० ॥

आज मैं उस कुरुवीर युधिष्ठिरकी बात न जान सका—वही मेरे अङ्गोंको जला रहा है और इसीने मुझे अबतक जगा रक्खा है ॥ १० ॥

जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो यदनुपश्यसि।
तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥ ११ ॥

तात ! मैं चिन्तासे जलता हुआ अभीतक जग रहा हूँ। मेरे लिये जो कल्याणकी बात समझो, वह कहो; क्योंकि हमलोगोंमें तुम्हीं धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण हो ॥ ११ ॥

यतः प्राप्तः संजयः पाण्डवेभ्यो
न मे यथावन्मनसः प्रशान्तिः।
सर्वेन्द्रियाण्यप्रकृतिं गतानि
किं वक्ष्यतीत्येव मेऽद्य प्रचिन्ता॥ १२ ॥

संजय जबसे पाण्डवोंके यहाँसे लौटकर आया है, तबसे मेरे मनको पूर्ण शान्ति नहीं मिलती। सभी इन्द्रियाँ विकल हो रही हैं। कल वह क्या कहेगा, इसी बातकी मुझे इस समय बड़ी भारी चिन्ता हो रही है ॥ १२ ॥

विदुर उवाच

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम्।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः ॥ १३ ॥

विदुरजी बोले—राजन्! जिसका बलवान्‌के साथ विरोध हो गया है, उस साधनहीन दुर्बल मनुष्यको, जिसका सब कुछ हर लिया गया है, उसको, कामीको तथा चोरको रातमें नींद नहीं आती ॥ १३ ॥

कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप।
कच्चिच्च परवित्तेषु गृध्यन् न परितप्यसे ॥ १४ ॥

नरेन्द्र ! कहीं आपका भी इन महान् दोषोंसे सम्पर्क तो नहीं हो गया है ? कहीं पराये धनके लोभसे तो आप कष्ट नहीं पा रहे हैं ? ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

श्रोतुमिच्छामि ते धर्म्यं परं नैःश्रेयसं वचः।
अस्मिन् राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसम्मतः ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! मैं तुम्हारे धर्मयुक्त तथा कल्याण करनेवाले सुन्दर वचन सुनना चाहता हूँ; क्योंकि इस राजर्षिवंशमें केवल तुम्हीं विद्वानोंके भी माननीय हो ॥ १५ ॥

विदुर उवाच

(राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्याधिपो भवेत्।
प्रेष्यस्ते प्रेषितश्चैव धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥

विदुरजी बोले—महाराज धृतराष्ट्र ! श्रेष्ठ लक्षणोंसे



सम्पन्न राजा युधिष्ठिर तीनों लोकोंके स्वामी हो सकते हैं। वे आपके आज्ञाकारी थे, पर आपने उन्हें वनमें भेज दिया ॥

विपरीततरश्च त्वं भागधेये न सम्मतः।
अर्चिषां प्रक्षयाच्चैव धर्मात्मा धर्मकोविदः ॥

आप धर्मात्मा और धर्मके जानकार होते हुए भी आँखोंकी ज्योतिसे हीन होनेके कारण उन्हें पहचान न सके, इसीसे उनके अत्यन्त विपरीत हो गये और उन्हें राज्यका भाग देनेमें आपकी सम्मति नहीं हुई ॥

आनृशंस्यादनुक्रोशाद् धर्मात् सत्यात् पराक्रमात्।
गुरुत्वात् त्वयि सम्प्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्षते॥

युधिष्ठिरमें क्रूरताका अभाव, दया, धर्म, सत्य तथा पराक्रम है; वे आपमें पूज्यबुद्धि रखते हैं। इन्हीं सद्गुणोंके कारण वे सोच-विचारकर चुपचाप बहुत-से क्लेश सह रहे हैं ॥

दुर्योधने सौबले च कर्णे दुःशासने तथा।
एतेष्वैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥

आप दुर्योधन, शकुनि, कर्ण तथा दुःशासन-जैसे अयोग्य व्यक्तियोंपर राज्यका भार रखकर कैसे कल्याण चाहते हैं ? ॥

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥)

अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान, उद्योग, दुःख सहनेकी शक्ति और धर्ममें स्थिरता—ये गुण जिस मनुष्यको पुरुषार्थसे च्युत नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है ॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम् ॥ १६ ॥

जो अच्छे कर्मोंका सेवन करता और बुरे कर्मोंसे दूर रहता है, साथ ही जो आस्तिक और श्रद्धालु है, उसके वे सद्गुण पण्डित होनेके लक्षण हैं ॥ १६ ॥

क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीः स्तम्भो मान्यमानिता।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ १७ ॥

क्रोध, हर्ष, गर्व, लज्जा, उद्दण्डता तथा अपनेको पूज्य समझना—ये भाव जिसको पुरुषार्थसे भ्रष्ट नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है ॥ १७ ॥

यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ १८ ॥

दूसरे लोग जिसके कर्तव्य, सलाह और पहलेसे किये हुए विचारको नहीं जानते, बल्कि काम पूरा होनेपर ही जानते हैं, वही पण्डित कहलाता है ॥ १८ ॥

यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ॥ १९ ॥

सर्दी-गरमी, भय-अनुराग, सम्पत्ति अथवा दरिद्रता—ये जिसके कार्यमें विघ्न नहीं डालते, वही पण्डित कहलाता है ॥ १९ ॥

यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते।
कामादर्थं वृणीते यः स वै पण्डित उच्यते ॥ २० ॥

जिसकी लौकिक बुद्धि धर्म और अर्थका ही अनुसरण करती है और जो भोगको छोड़कर पुरुषार्थका ही वरण करता है, वही पण्डित कहलाता है ॥ २० ॥

यथाशक्ति चिकीर्षन्ति यथाशक्ति च कुर्वते।
न किंचिदवमन्यन्ते नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २१ ॥

विवेकपूर्ण बुद्धिवाले पुरुष शक्तिके अनुसार काम करनेकी इच्छा रखते हैं और करते भी हैं तथा किसी वस्तुको तुच्छ समझकर उसकी अवहेलना नहीं करते ॥ २१ ॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो व्युपयुङ्क्ते परार्थे
तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥ २२ ॥

विद्वान् पुरुष किसी विषयको देरतक सुनता है; किंतु शीघ्र ही समझ लेता है, समझकर कर्तव्यबुद्धिसे पुरुषार्थमें प्रवृत्त होता है—कामनासे नहीं, बिना पूछे दूसरेके विषयमें व्यर्थ कोई बात नहीं कहता है। उसका यह स्वभाव पण्डितकी मुख्य पहचान है ॥ २२ ॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २३ ॥

पण्डितोंकी-सी बुद्धि रखनेवाले मनुष्य दुर्लभ वस्तुकी कामना नहीं करते, खोयी हुई वस्तुके विषयमें शोक करना नहीं चाहते और विपत्तिमें पड़कर घबराते नहीं हैं ॥ २३ ॥

निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ॥ २४ ॥

जो पहले निश्चय करके फिर कार्यका आरम्भ करता है, कार्यके बीचमें नहीं रुकता, समयको व्यर्थ नहीं जाने देता और चित्तको वशमें रखता है, वही पण्डित कहलाता है ॥

आर्यकर्मणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते।
हितं च नाभ्यसूयन्ति पण्डिता भरतर्षभ ॥ २५ ॥

भरतकुलभूषण ! पण्डितजन श्रेष्ठ कर्मोंमें रुचि रखते हैं, उन्नतिके कार्य करते हैं तथा भलाई करनेवालोंमें दोष नहीं निकालते ॥ २५ ॥

न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन तप्यते।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥ २६ ॥

जो अपना आदर होनेपर हर्षके मारे फूल नहीं उठता, अनादरसे संतप्त नहीं होता तथा गङ्गाजीके ह्रद (गहरे गर्त) के समान जिसके चित्तको क्षोभ नहीं होता, वही पण्डित कहलाता है ॥ २६ ॥

तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम्।
उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पण्डित उच्यते ॥ २७ ॥

जो सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंकी असलियतका ज्ञान रखनेवाला, सब कार्योंके करनेका ढंग जाननेवाला तथा मनुष्योंमें सबसे बढ़कर उपायका जानकार है, वह मनुष्य पण्डित कहलाता है ॥ २७ ॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥ २८ ॥

जिसकी वाणी कहीं रुकती नहीं, जो विचित्र ढंगसे बातचीत करता है, तर्कमें निपुण और प्रतिभाशाली है तथा जो ग्रन्थके तात्पर्यको शीघ्र बता सकता है, वह पण्डित कहलाता है ॥ २८ ॥

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।
असम्भिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥ २९ ॥

जिसकी विद्या बुद्धिका अनुसरण करती है और बुद्धि विद्याका तथा जो शिष्ट पुरुषोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करता, वही पण्डितकी संज्ञा पा सकता है ॥ २९ ॥

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥ ३० ॥

बिना पढ़े ही गर्व करनेवाले, दरिद्र होकर भी बड़े-बड़े मनोरथ करनेवाले और बिना काम किये ही धन पानेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको पण्डितलोग मूर्ख कहते हैं ॥ ३० ॥

स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति।
मिथ्या चरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते॥ ३१॥

जो अपना कर्तव्य छोड़कर दूसरेके कर्तव्यका पालन करता है तथा मित्रके साथ असत् आचरण करता है, वह मूर्ख कहलाता है॥ ३१॥

अकामान् कामयति यः कामयानान् परित्यजेत्।
बलवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम्॥ ३२॥

जो न चाहनेवालोंको चाहता है और चाहनेवालोंको त्याग देता है तथा जो अपनेसे बलवान्‌के साथ वैर बाँधता है, उसे मूढ़ विचारका मनुष्य कहते हैं॥ ३२॥

अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च।
कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम्॥ ३३॥

जो शत्रुको मित्र बनाता और मित्रसे द्वेष करते हुए उसे कष्ट पहुँचाता है तथा सदा बुरे कर्मोंका आरम्भ किया करता है, उसे मूढ़ चित्तवाला कहते हैं॥ ३३॥

संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ॥ ३४॥

भरतश्रेष्ठ! जो अपने कामोंको व्यर्थ ही फैलाता है, सर्वत्र संदेह करता है तथा शीघ्र होनेवाले काममें भी देर लगाता है, वह मूढ है॥ ३४॥

श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति दैवतानि न चार्चति।
सुहृन्मित्रं न लभते तमाहुर्मूढचेतसम्॥ ३५॥

जो पितरोंका श्राद्ध और देवताओंका पूजन नहीं करता तथा जिसे सुहृद् मित्र नहीं मिलता, उसे मूढ चित्तवाला कहते हैं॥ ३५॥

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः॥ ३६॥

मूढ चित्तवाला अधम मनुष्य बिना बुलाये ही भीतर चला आता है, बिना पूछे ही बहुत बोलता है तथा अविश्वसनीय मनुष्यपर भी विश्वास करता है॥ ३६॥

परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः॥ ३७॥

स्वयं दोषयुक्त बर्ताव करते हुए भी जो दूसरेपर उसके दोष बताकर आक्षेप करता है तथा जो असमर्थ होते हुए भी व्यर्थका क्रोध करता है, वह मनुष्य महामूर्ख है॥ ३७॥

आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थपरिवर्जितम्।
अलभ्यमिच्छन् नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते॥ ३८॥

जो अपने बलको न समझकर बिना काम किये ही धर्म और अर्थसे विरुद्ध तथा न पाने योग्य वस्तुकी इच्छा करता है वह पुरुष इस संसारमें मूढबुद्धि कहलाता है॥ ३८॥

अशिष्यं शास्ति यो राजन् यश्च शून्यमुपासते[1]।
कदर्यं भजते यश्च तमाहुर्मूढचेतसम्॥ ३९॥

राजन्! जो अनधिकारीको उपदेश देता और शून्यकी उपासना करता है तथा जो कृपणका आश्रय लेता है, उसे मूढ चित्तवाला कहते हैं॥ ३९॥

अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा।
विचरत्यसमुन्नद्धो यः स पण्डित उच्यते॥ ४०॥

जो बहुत धन, विद्या तथा ऐश्वर्यको पाकर भी उद्दण्डतापूर्वक नहीं चलता, वह पण्डित कहलाता है॥ ४०॥

एकः सम्पन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम्।
योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः को नृशंसतरस्ततः॥ ४१॥

जो अपनेद्वारा भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंको बाँटे बिना अकेले ही उत्तम भोजन करता और अच्छा वस्त्र पहनता है, उससे बढ़कर क्रूर कौन होगा?॥ ४१॥

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते॥ ४२॥

मनुष्य अकेला पाप कर (के धन कमा) ता है और (उस धनका) उपभोग बहुत-से लोग करते हैं। उपभोग करनेवाले तो दोषसे छूट जाते हैं, पर उसका कर्ता दोषका भागी होता है॥ ४२॥

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद् राष्ट्रं सराजकम्॥ ४३॥

किसी धनुर्धर वीरके द्वारा छोड़ा हुआ बाण सम्भव है, एकको भी मारे या न मारे। परन्तु बुद्धिमान्‌द्वारा प्रयुक्त की हुई बुद्धि राजाके साथ-साथ सम्पूर्ण राष्ट्रका विनाश कर सकती है॥ ४३॥

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव॥ ४४॥

एक (बुद्धि) से दो (कर्तव्य और अकर्तव्य) का निश्चय करके चार (साम, दान, भेद, दण्ड) से तीन (शत्रु, मित्र तथा उदासीन) को वशमें कीजिये। पाँच (इन्द्रियों) को जीतकर छः (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रयरूप) गुणोंको जानकर तथा सात (स्त्री, जूआ, मृगया, मद्य, कठोर वचन, दण्डकी कठोरता और अन्यायसे धनोपार्जन) को छोड़कर सुखी हो जाइये॥ ४४॥

एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते।
सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मन्त्रविप्लवः॥ ४५॥

१. यहाँ 'उपासते'के स्थानपर 'उपासते' यह प्रयोग आर्ष समझना चाहिये।

विषका रस एक (पीनेवाले) को ही मारता है, शस्त्रसे एकका ही वध होता है; किंतु (गुप्त) मन्त्रणाका प्रकाशित होना राष्ट्र और प्रजाके साथ ही राजाका भी विनाश कर डालता है ॥ ४५ ॥

एकः स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान् न चिन्तयेत् ।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥४६॥

अकेले स्वादिष्ट भोजन न करे, अकेला किसी विषयका निश्चय न करे, अकेला रास्ता न चले और बहुत-से लोग सोये हों तो उनमें अकेला न जागता रहे ॥ ४६ ॥

एकमेवाद्वितीयं तद् यद् राजन् नावबुध्यसे ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ४७ ॥

राजन् ! जैसे समुद्रके पार जानेके लिये नाव ही एकमात्र साधन है, उसी प्रकार स्वर्गके लिये सत्य ही एकमात्र सोपान है, दूसरा नहीं; किंतु आप इसे नहीं समझ रहे हैं ॥ ४७ ॥

एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ४८ ॥

क्षमाशील पुरुषोंमें एक ही दोषका आरोप होता है, दूसरेकी तो सम्भावना ही नहीं है। वह दोष यह है कि क्षमाशील मनुष्यको लोग असमर्थ समझ लेते हैं ॥ ४८ ॥

सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः क्षमा हि परमं बलम् ।
क्षमा गुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥ ४९ ॥

किंतु क्षमाशील पुरुषका वह दोष नहीं मानना चाहिये; क्योंकि क्षमा बहुत बड़ा बल है। क्षमा असमर्थ मनुष्योंका गुण तथा समर्थोंका भूषण है ॥ ४९ ॥

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ।
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ॥ ५० ॥

इस जगत्में क्षमा वशीकरणरूप है। भला, क्षमासे क्या नहीं सिद्ध होता ? जिसके हाथमें शान्तिरूपी तलवार है, उसका दुष्ट पुरुष क्या कर लेंगे ? ॥ ५० ॥

अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।
अक्षमावान् परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ॥ ५१ ॥

तृणरहित स्थानमें गिरी हुई आग अपने-आप बुझ जाती है। क्षमाहीन पुरुष अपनेको तथा दूसरेको भी दोषका भागी बना लेता है ॥ ५१ ॥

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा ।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ॥ ५२ ॥

केवल धर्म ही परम कल्याणकारक है, एकमात्र क्षमा ही शान्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय है। एक विद्या ही परम संतोष देनेवाली है और एकमात्र अहिंसा ही सुख देनेवाली है ॥५२॥

(पृथिव्यां सागरान्तायां द्वाविमौ पुरुषाधमौ ।
गृहस्थश्च निरारम्भः सारम्भश्चैव भिक्षुकः ॥)

समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वीमें ये दो प्रकारके अधम पुरुष हैं—अकर्मण्य गृहस्थ और कर्मोंमें लगा हुआ संन्यासी ॥

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ ५३ ॥

बिलमें रहनेवाले जीवोंको जैसे साँप खा जाता है, उसी प्रकार यह पृथ्वी शत्रुसे विरोध न करनेवाले राजा और परदेश सेवन न करनेवाले ब्राह्मण—इन दोनोंको खा जाती है ॥ ५३ ॥

द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिँल्लोके विरोचते ।
अब्रुवन् परुषं किंचिदसतोऽनर्चयंस्तथा ॥ ५४ ॥

जरा भी कठोर न बोलना और दुष्ट पुरुषोंका आदर न करना—इन दो कर्मोंका करनेवाला मनुष्य इस लोकमें विशेष शोभा पाता है ॥ ५४ ॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र परप्रत्ययकारिणौ ।
स्त्रियः कामितकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः ॥ ५५ ॥

दूसरी स्त्रीद्वारा चाहे गये पुरुषकी कामना करनेवाली स्त्रियाँ तथा दूसरोंके द्वारा पूजित मनुष्यका आदर करनेवाले पुरुष—ये दो प्रकारके लोग दूसरोंपर विश्वास करके चलनेवाले होते हैं ॥ ५५ ॥

द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ॥ ५६ ॥

जो निर्धन होकर भी बहुमूल्य वस्तुकी इच्छा रखता और असमर्थ होकर भी क्रोध करता है—ये दोनों ही अपने लिये तीक्ष्ण काँटोंके समान हैं एवं अपने शरीरको सुखानेवाले हैं ॥ ५६ ॥

द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।
गृहस्थश्च निरारम्भः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥ ५७ ॥

दो ही अपने विपरीत कर्मके कारण शोभा नहीं पाते—अकर्मण्य गृहस्थ और प्रपञ्चमें लगा हुआ संन्यासी ॥ ५७ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥ ५८ ॥

राजन् ! ये दो प्रकारके पुरुष स्वर्गके भी ऊपर स्थान पाते हैं—शक्तिशाली होनेपर भी क्षमा करनेवाला और निर्धन होनेपर भी दान देनेवाला ॥ ५८ ॥

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ ५९ ॥

न्याययूर्वक उपार्जित किये हुए धनके दो ही दुरुपयोग समझने चाहिये—अपात्रको देना और सत्पात्रको न देना ॥ ५९ ॥

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥ ६० ॥

जो धनी होनेपर भी दान न दे और दरिद्र होनेपर भी कष्ट सहन न कर सके—इन दो प्रकारके मनुष्योंको गलेमें मजबूत पत्थर बाँधकर पानीमें डुबा देना चाहिये ॥ ६० ॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥ ६१ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! ये दो प्रकारके पुरुष सूर्यमण्डलको भेदकर ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होते हैं—योगयुक्त संन्यासी और संग्राममें शत्रुओंके सम्मुख युद्ध करके मारा गया योद्धा ॥ ६१ ॥

त्रयो न्याया मनुष्याणां श्रूयन्ते भरतर्षभ।
कनीयान् मध्यमः श्रेष्ठ इति वेदविदो विदुः ॥ ६२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मनुष्योंकी कार्यसिद्धिके लिये उत्तम, मध्यम और अधम—ये तीन प्रकारके न्यायानुकूल उपाय सुने जाते हैं, ऐसा वेदवेत्ता विद्वान् जानते हैं ॥ ६२ ॥

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः।
नियोजयेद् यथावत् तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ६३ ॥

राजन् ! उत्तम, मध्यम और अधम—ये तीन प्रकारके पुरुष होते हैं; इनको यथायोग्य तीन ही प्रकारके कर्मोंमें लगाना चाहिये ॥ ६३ ॥

त्रय एवाधना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद् धनम् ॥ ६४ ॥

राजन् ! तीन ही धनके अधिकारी नहीं माने जाते—स्त्री, पुत्र तथा दास। ये जो कुछ कमाते हैं, वह धन उसीका होता है, जिसके अधीन ये रहते हैं ॥ ६४ ॥

हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥ ६५ ॥

दूसरेके धनका हरण, दूसरेकी स्त्रीका संसर्ग तथा सुहृद् मित्रका परित्याग—ये तीनों ही दोष (मनुष्यके आयु, धर्म तथा कीर्तिका) क्षय करनेवाले होते हैं ॥ ६५ ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥ ६६ ॥

काम, क्रोध और लोभ—ये आत्माका नाश करनेवाले नरकके तीन दरवाजे हैं; अतः इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ॥ ६६ ॥

वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च भारत।
शत्रोश्च मोक्षणं कृच्छ्रात् त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥ ६७ ॥

भारत ! वरदान पाना, राज्यकी प्राप्ति और पुत्रका जन्म—ये तीन एक ओर और शत्रुके कष्टसे छूटना—यह एक ओर; वे तीन और यह एक बराबर ही हैं ॥ ६७ ॥

भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम्।
त्रीनेतांश्छरणं प्राप्तान् विषमेऽपि न संत्यजेत् ॥ ६८ ॥

भक्त, सेवक तथा मैं आपका ही हूँ, ऐसा कहनेवाले—इन तीन प्रकारके शरणागत मनुष्योंको संकट पड़नेपर भी नहीं छोड़ना चाहिये ॥ ६८ ॥

चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन
वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात्।
अल्पप्रज्ञैः सह मन्त्रं न कुर्या-
न्न दीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च ॥ ६९ ॥

थोड़ी बुद्धिवाले, दीर्घसूत्री, जल्दबाज और स्तुति करनेवाले लोगोंके साथ गुप्त सलाह नहीं करनी चाहिये। ये चारों महाबली राजाके लिये त्यागने योग्य बताये गये हैं। विद्वान् पुरुष ऐसे लोगोंको पहचान ले ॥ ६९ ॥

चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु
श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः
सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या ॥ ७० ॥

तात ! गृहस्थधर्ममें स्थित आप लक्ष्मीवान्के घरमें चार प्रकारके मनुष्योंको सदा रहना चाहिये—अपने कुटुम्बका बूढ़ा, संकटमें पड़ा हुआ उच्च कुलका मनुष्य, धनहीन मित्र और बिना संतानकी बहिन ॥ ७० ॥

चत्वार्याह महाराज साद्यस्कानि बृहस्पतिः।
पृच्छते त्रिदशेन्द्राय तानीमानि निबोध मे ॥ ७१ ॥

महाराज ! इन्द्रके पूछनेपर उनसे बृहस्पतिजीने जिन चारोंको तत्काल फल देनेवाला बताया था, उन्हें आप मुझसे सुनिये— ॥ ७१ ॥

देवतानां च संकल्पमनुभावं च धीमताम्।
विनयं कृतविद्यानां विनाशं पापकर्मणाम् ॥ ७२ ॥

देवताओंका संकल्प, बुद्धिमानोंका प्रभाव, विद्वानोंकी नम्रता और पापियोंका विनाश ॥ ७२ ॥

चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥ ७३ ॥

चार कर्म भयको दूर करनेवाले हैं; किंतु वे ही यदि ठीक तरहसे सम्पादित न हों, तो भय प्रदान करते हैं। वे कर्म हैं—आदरके साथ अग्निहोत्र, आदरपूर्वक मौनका पालन, आदरपूर्वक स्वाध्याय और आदरके साथ यज्ञका अनुष्ठान ॥ ७३ ॥

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥ ७४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु—मनुष्यको इन पाँच अग्नियोंकी बड़े यत्नसे सेवा करनी चाहिये ॥ ७४ ॥

पञ्चैव पूजयँल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम्।
देवान् पितॄन् मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान् ॥ ७५ ॥

देवता, पितर, मनुष्य, संन्यासी और अतिथि—इन पाँचोंकी पूजा करनेवाला मनुष्य शुद्ध यश प्राप्त करता है ॥

पञ्च त्वानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः ॥ ७६ ॥

राजन् ! आप जहाँ-जहाँ जायँगे, वहाँ-वहाँ मित्र, शत्रु, उदासीन, आश्रय देनेवाले तथा आश्रय पानेवाले—ये पाँच आपके पीछे लगे रहेंगे ॥ ७६ ॥

पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्यच्छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम्।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ७७ ॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियोंवाले पुरुषकी यदि एक भी इन्द्रिय छिद्र (दोष) युक्त हो जाय तो उससे उसकी बुद्धि इस प्रकार बाहर निकल जाती है, जैसे मशकके छेदसे पानी ॥ ७७ ॥

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ७८ ॥

ऐश्वर्य या उन्नति चाहनेवाले पुरुषोंको नींद, तन्द्रा (ऊँघना), डर, क्रोध, आलस्य तथा दीर्घसूत्रता (जल्दी हो जानेवाले काममें अधिक देर लगानेकी आदत)—इन छः दुर्गुणोंको त्याग देना चाहिये ॥ ७८ ॥

षडिमान् पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ७९ ॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम्।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ८० ॥

उपदेश न देनेवाले आचार्य, मन्त्रोच्चारण न करनेवाले होता, रक्षा करनेमें असमर्थ राजा, कटु वचन बोलनेवाली स्त्री, ग्राममें रहनेकी इच्छावाले ग्वाले तथा वनमें रहनेकी इच्छावाले नाई—इन छःको उसी भाँति छोड़ दे, जैसे समुद्रकी सैर करनेवाला मनुष्य छिद्रयुक्त नावका परित्याग कर देता है ॥ ७९-८० ॥

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥ ८१ ॥

मनुष्यको कभी भी सत्य, दान, कर्मण्यता, अनसूया (गुणोंमें दोष दिखानेकी प्रवृत्तिका अभाव), क्षमा तथा धैर्य—इन छः गुणोंका त्याग नहीं करना चाहिये ॥ ८१ ॥

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ ८२ ॥

राजन् ! धनकी प्राप्ति, नित्य नीरोग रहना, स्त्रीका अनुकूल तथा प्रियवादिनी होना, पुत्रका आज्ञाके अंदर रहना तथा धन पैदा करानेवाली विद्याका ज्ञान—ये छः बातें इस मनुष्यलोकमें सुखदायिनी होती हैं ॥ ८२ ॥

षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ॥ ८३ ॥

मनमें नित्य रहनेवाले छः शत्रु—(काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य) को जो वशमें कर लेता है, वह जितेन्द्रिय पुरुष पापोंसे ही लिप्त नहीं होता, फिर उनसे उत्पन्न होनेवाले अनर्थोंसे युक्त होनेकी तो बात ही क्या है ॥ ८३ ॥

षडिमे षट्सु जीवन्ति सप्तमो नोपलभ्यते।
चौराः प्रमत्ते जीवन्ति व्याधितेषु चिकित्सकाः ॥ ८४ ॥
प्रमदाः कामयानेषु यजमानेषु याजकाः।
राजा विवदमानेषु नित्यं मूर्खेषु पण्डिताः ॥ ८५ ॥

निम्नाङ्कित छः प्रकारके मनुष्य छः प्रकारके लोगोंसे अपनी जीविका चलाते हैं, सातवेंकी उपलब्धि नहीं होती। चोर असावधान पुरुषसे, वैद्य रोगीसे, कामोन्मत्त स्त्रियाँ कामियोंसे, पुरोहित यजमानोंसे, राजा झगड़नेवालोंसे तथा विद्वान् पुरुष मूर्खोंसे अपनी जीविका चलाते हैं ॥ ८४-८५ ॥

षडिमानि विनश्यन्ति मुहूर्तमनवेक्षणात्।
गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्या वृषलसंगतिः ॥ ८६ ॥

मुहूर्तभर[1] भी देख-रेख न करनेसे गौ, सेवा, खेती, स्त्री, विद्या तथा शूद्रोंसे मेल—ये छः चीजें नष्ट हो जाती हैं ॥ ८६ ॥

षडेते ह्यवमन्यन्ते नित्यं पूर्वोपकारिणम्।
आचार्यं शिक्षिताः शिष्याः कृतदाराश्च मातरम् ॥ ८७ ॥
नारीं विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम्।
नावं निस्तीर्णकान्तारा आतुराश्च चिकित्सकम् ॥ ८८ ॥

ये छः प्रायः सदा अपने पूर्व उपकारीका सम्मान नहीं करते हैं—शिक्षा समाप्त हो जानेपर शिष्य आचार्यका, विवाहित बेटे माताका, कामवासनाकी शान्ति हो जानेपर पुरुष स्त्रीका, कृतकार्य मनुष्य सहायकका, नदीकी दुर्गम धारा पार कर लेनेवाले पुरुष नावका तथा रोगी पुरुष रोग छूटनेके बाद वैद्यका ॥ ८७-८८ ॥

१. 'मुहूर्त' शब्दका अर्थ दो घड़ी होता है। एक घड़ी २४ मिनटकी मानी जाती है।

आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः
सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयोगः ।
स्वप्रत्यया वृत्तिरभीतवासः
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ ८९ ॥

राजन् ! नीरोग रहना, ऋणी न होना, परदेशमें न रहना, अच्छे लोगोंके साथ मेल होना, अपनी वृत्तिसे जीविका चलाना और निर्भय होकर रहना—ये छः मनुष्यलोकके सुख हैं ॥ ८९ ॥

ईर्ष्यी घृणी नसंतुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः ॥ ९० ॥

ईर्ष्या करनेवाला, घृणा करनेवाला, असंतोषी, क्रोधी, सदा शङ्कित रहनेवाला और दूसरेके भाग्यपर जीवन-निर्वाह करनेवाला—ये छः सदा दुखी रहते हैं ॥ ९० ॥

सप्त दोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः ।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूला अपीश्वराः ॥ ९१ ॥
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पञ्चमम् ।
महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च ॥ ९२ ॥

स्त्रीविषयक आसक्ति, जूआ, शिकार, मद्यपान, वचनकी कठोरता, अत्यन्त कठोर दण्ड देना और धनका दुरुपयोग करना—ये सात दुःखदायी दोष राजाको सदा त्याग देने चाहिये। इनसे दृढ़मूल राजा भी प्रायः नष्ट हो जाते हैं ॥ ९१-९२ ॥

अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः ।
ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते ॥ ९३ ॥
ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति ।
रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति ॥ ९४ ॥
नैतान् स्मरति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति ।
एतान् दोषान् नरः प्राज्ञो बुध्येद् बुद्ध्वा विसर्जयेत् ॥ ९५ ॥

विनाशके मुखमें पड़नेवाले मनुष्यके आठ पूर्वचिह्न हैं—प्रथम तो वह ब्राह्मणोंसे द्वेष करता है, फिर उनके विरोधका पात्र बनता है, ब्राह्मणोंका धन हड़प लेता है, उनको मारना चाहता है, ब्राह्मणोंकी निन्दामें आनन्द मानता है, उनकी प्रशंसा सुनना नहीं चाहता, यज्ञ-यागादिमें उनका स्मरण नहीं करता तथा कुछ माँगनेपर उनमें दोष निकालने लगता है। इन सब दोषोंको बुद्धिमान् मनुष्य समझे और समझकर त्याग दे ॥ ९३–९५ ॥

अष्टाविमानि हर्षस्य नवनीतानि भारत ।
वर्तमानानि दृश्यन्ते तान्येव स्वसुखान्यपि ॥ ९६ ॥
समागमश्च सखिभिर्महांश्चैव धनागमः ।
पुत्रेण च परिष्वङ्गः संनिपातश्च मैथुने ॥ ९७ ॥
समये च प्रियालापः स्वयूथ्येषु समुन्नतिः ।
अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जनसंसदि ॥ ९८ ॥

भारत ! मित्रोंसे समागम, अधिक धनकी प्राप्ति, पुत्रका आलिङ्गन, मैथुनमें संलग्न होना, समयपर प्रिय वचन बोलना, अपने वर्गके लोगोंमें उन्नति, अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति और जन-समाजमें सम्मान—ये आठ हर्षके सार दिखायी देते हैं और ये ही अपने लौकिक सुखके भी साधन होते हैं ॥ ९६–९८ ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ९९ ॥

बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रियनिग्रह, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, अधिक न बोलना, शक्तिके अनुसार दान और कृतज्ञता—ये आठ गुण पुरुषकी ख्याति बढ़ा देते हैं ॥ ९९ ॥

नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः ॥ १०० ॥

जो विद्वान् पुरुष [आँख, कान आदि] नौ दरवाजेवाले, तीन (सत्त्व, रज तथा तमरूपी) खंभोंवाले, पाँच (ज्ञानेन्द्रिय-रूप) साक्षीवाले, आत्माके निवासस्थान इस शरीररूपी गृहको तत्त्वसे जानता है, वह बहुत बड़ा ज्ञानी है ॥ १०० ॥

दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान् ।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥ १०१ ॥
त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश ।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः ॥ १०२ ॥

महाराज धृतराष्ट्र ! दस प्रकारके लोग धर्मके तत्त्वको नहीं जानते, उनके नाम सुनो । नशेमें मतवाला, असावधान, पागल, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, जल्दबाज, लोभी, भयभीत और कामी—ये दस हैं । अतः इन सब लोगोंमें विद्वान् पुरुष आसक्त न होवे ॥ १०१-१०२ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पुत्रार्थमसुरेन्द्रेण गीतं चैव सुधन्वना ॥ १०३ ॥

इसी विषयमें असुरोंके राजा प्रह्लादने सुधन्वाके साथ अपने पुत्रके प्रति कुछ उपदेश दिया था । नीतिज्ञलोग उस पुरातन इतिहासका उदाहरण देते हैं ॥ १०३ ॥

यः काममन्यू प्रजहाति राजा
पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च ।
विशेषविच्छ्रुतवान् क्षिप्रकारी
तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम् ॥ १०४ ॥

जो राजा काम और क्रोधका त्याग करता है और सुपात्र-को धन देता है, विशेषज्ञ है, शास्त्रोंका ज्ञाता और कर्तव्यको शीघ्र पूरा करनेवाला है, उस (के व्यवहार और वचनों) को सब लोग प्रमाण मानते हैं ॥ १०४ ॥

जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान्
विज्ञातदोषेषु दधाति दण्डम् ।
जानाति मात्रां च तथा क्षमां च
तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा ॥१०५॥

जो मनुष्योंमें विश्वास उत्पन्न करना जानता है, जिनका अपराध प्रमाणित हो गया है उन्हींको जो दण्ड देता है, जो दण्ड देनेकी न्यूनाधिक मात्रा तथा क्षमाका उपयोग जानता है, उस राजाकी सेवामें सम्पूर्ण सम्पत्ति चली आती है॥१०५॥

सुदुर्बलं नावजानाति कंचिद्
युक्तो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम् ।
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः
काले च यो विक्रमते स धीरः ॥१०६॥

जो किसी दुर्बलका अपमान नहीं करता, सदा सावधान रहकर शत्रुके साथ बुद्धिपूर्वक व्यवहार करता है, बलवानोंके साथ युद्ध पसंद नहीं करता तथा समय आनेपर पराक्रम दिखाता है, वही धीर है ॥ १०६ ॥

प्राप्यापदं न व्यथते कदाचि-
दुद्योगमन्विच्छति चाप्रमत्तः ।
दुःखं च काले सहते महात्मा
धुरन्धरस्तस्य जिताः सपत्नाः ॥१०७॥

जो धुरन्धर महापुरुष आपत्ति पड़नेपर कभी दुखी नहीं होता, बल्कि सावधानीके साथ उद्योगका आश्रय लेता है तथा समयपर दुःख सहता है, उसके शत्रु तो पराजित ही हैं ॥ १०७ ॥

अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः
पापैः सन्धिं परदाराभिमर्शम् ।
दम्भं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं
न सेवते यश्च सुखी सदैव ॥१०८॥

जो घर छोड़कर निरर्थक विदेशवास, पापियोंसे मेल, परस्त्रीगमन, पाखण्ड, चोरी, चुगलखोरी तथा मदिरापान— इन सबका सेवन नहीं करता, वह सदा सुखी रहता है॥१०८॥

न संरम्भेणारभते त्रिवर्ग-
माकारितः शंसति तत्त्वमेव ।
न मित्रार्थे रोचयते विवादं
नापूजितः कुप्यति चाप्यमूढः ॥१०९॥

न योऽभ्यसूयत्यनुकम्पते च
न दुर्बलः प्रातिभाव्यं करोति ।
नात्याह किंचित् क्षमते विवादं
सर्वत्र तादृग् लभते प्रशंसाम् ॥११०॥

जो क्रोध या उतावलीके साथ धर्म, अर्थ तथा कामका आरम्भ नहीं करता, पूछनेपर यथार्थ बात ही बतलाता है, मित्रके लिये झगड़ा नहीं पसंद करता, आदर न पानेपर क्रुद्ध नहीं होता, विवेक नहीं खो बैठता, दूसरोंके दोष नहीं देखता, सबपर दया करता है, असमर्थ होते हुए किसीकी जमानत नहीं देता, बढ़कर नहीं बोलता तथा विवादको सह लेता है, ऐसा मनुष्य सब जगह प्रशंसा पाता है ॥१०९-११०॥

यो नोद्धतं कुरुते जातु वेषं
न पौरुषेणापि विकत्थतेऽन्यान् ।
न मूर्च्छितः कटुकान्याह किंचित्
प्रियं सदा तं कुरुते जनो हि ॥१११॥

जो कभी उद्दण्डका-सा वेष नहीं बनाता, दूसरोंके सामने अपने पराक्रमकी श्लाघा भी नहीं करता, क्रोधसे व्याकुल होनेपर भी कटुवचन नहीं बोलता, उस मनुष्यको लोग सदा ही प्यारा बना लेते हैं ॥ १११ ॥

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं
न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं
तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥११२॥

जो शान्त हुई वैरकी आगको फिर प्रज्वलित नहीं करता, गर्व नहीं करता, हीनता नहीं दिखाता तथा 'मैं विपत्तिमें पड़ा हूँ' ऐसा सोचकर अनुचित काम नहीं करता, उस उत्तम आचरणवाले पुरुषको आर्यजन सर्वश्रेष्ठ कहते हैं ॥ ११२॥

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं
नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं
स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥११३॥

जो अपने सुखमें प्रसन्न नहीं होता, दूसरेके दुःखके समय हर्ष नहीं मानता और दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता, वह सज्जनोंमें सदाचारी कहलाता है ॥ ११३ ॥

देशाचारान् समयाञ्जातिधर्मान्
बुभूषते यः स परावरज्ञः ।
स यत्र तत्राभिगतः सदैव
महाजनस्याधिपत्यं करोति ॥११४॥

जो मनुष्य देशके व्यवहार, अवसर तथा जातियोंके धर्मोंको तत्त्वसे जानना चाहता है, उसे उत्तम-अधमका विवेक हो जाता है । वह जहाँ कहीं भी जाता है, सदा महान् जनसमूह पर अपनी प्रभुता स्थापित कर लेता है ॥ ११४ ॥

दम्भं मोहं मत्सरं पापकृत्यं
राजद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम् ।
मत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वादं
यः प्रज्ञावान् वर्जयेत् स प्रधानः ॥११५॥

जो बुद्धिमान् दम्भ, मोह, मात्सर्य, पापकर्म, राजद्रोह, चुगलखोरी, समूहसे वैर और मतवाले, पागल तथा दुर्जनोंसे विवाद छोड़ देता है, वह श्रेष्ठ है ॥ ११५ ॥

दानं होमं दैवतं मङ्गलानि
प्रायश्चित्तान् विविधाँल्लोकवादान्।
एतानि यः कुरुते नैत्यकानि
तस्योत्थानं देवता राधयन्ति ॥११६॥

जो दान, होम, देवपूजन, माङ्गलिक कर्म, प्रायश्चित्त तथा अनेक प्रकारके लौकिक आचार—इन नित्य किये जाने-योग्य कर्मोंको करता है, देवतालोग उसके अभ्युदयकी सिद्धि करते हैं ॥ ११६ ॥

समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः
समैः सख्यं व्यवहारं कथां च।
गुणैर्विशिष्टांश्च पुरो दधाति
विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः ॥११७॥

जो अपने बराबरवालोंके साथ विवाह, मित्रता, व्यवहार तथा बातचीत करता है, हीन पुरुषोंके साथ नहीं; और गुणोंमें बढ़े-चढ़े पुरुषोंको सदा आगे रखता है, उस विद्वान्‌की नीति श्रेष्ठ नीति है ॥ ११७ ॥

मितं भुङ्क्ते संविभज्याश्रितेभ्यो
मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः सं-
स्तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः ॥११८॥

जो अपने आश्रित जनोंको बाँटकर थोड़ा ही भोजन करता है, बहुत अधिक काम करके भी थोड़ा सोता है तथा माँगनेपर जो मित्र नहीं है, उन्हें भी धन देता है, उस मनस्वी पुरुषको सारे अनर्थ दूरसे ही छोड़ देते हैं ॥ ११८ ॥

चिकीर्षितं विप्रकृतं च यस्य
नान्ये जनाः कर्म जानन्ति किंचित्।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च
नाल्पोऽप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः ॥११९॥

जिसके अपनी इच्छाके अनुकूल और दूसरोंकी इच्छाके विरुद्ध कार्यको दूसरे लोग कुछ भी नहीं जान पाते, मन्त्र गुप्त रहने और अभीष्ट कार्यका ठीक-ठीक सम्पादन होनेके कारण उसका थोड़ा भी काम बिगड़ने नहीं पाता ॥११९॥

यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः
सत्यो मृदुर्मानकृच्छुद्धभावः।
अतीव स ज्ञायते ज्ञातिमध्ये
महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः ॥१२०॥

जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंको शान्ति प्रदान करनेमें तत्पर, सत्यवादी, कोमल, दूसरोंको आदर देनेवाला तथा पवित्र विचारवाला होता है, वह अच्छी खानसे निकले और चमकते हुए श्रेष्ठ रत्नकी भाँति अपनी जातिवालोंमें अधिक प्रसिद्धि पाता है ॥ १२० ॥

य आत्मनापत्रपते भृशं नरः
स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत।
अनन्ततेजाः सुमनाः समाहितः
स तेजसा सूर्य इवावभासते ॥१२१॥

जो स्वयं ही अधिक लज्जाशील है, वह सब लोगोंमें श्रेष्ठ समझा जाता है। वह अपने अनन्त तेज, शुद्ध हृदय एवं एकाग्रतासे युक्त होनेके कारण कान्तिमें सूर्यके समान शोभा पाता है ॥ १२१ ॥

वने जाताः शापदग्धस्य राज्ञः
पाण्डोः पुत्राः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पाः।
त्वयैव बाला वर्धिताः शिक्षिताश्च
तवादेशं पालयन्त्याम्बिकेय ॥१२२॥

अम्बिकानन्दन! (मृगरूपधारी किंदम ऋषिके) शापसे दग्ध राजा पाण्डुके जो पाँच पुत्र वनमें उत्पन्न हुए, वे पाँच इन्द्रोंके समान शक्तिशाली हैं, उन्हें आपने ही बचपनसे पाला और शिक्षा दी है; वे भी आपकी आज्ञाका पालन करते रहते हैं ॥ १२२ ॥

प्रदायैषामुचितं तात राज्यं
सुखी पुत्रैः सहितो मोदमानः।
न देवानां नापि च मानुषाणां
भविष्यसि त्वं तर्कणीयो नरेन्द्र ॥१२३॥

तात! उन्हें उनका न्यायोचित राज्यभाग देकर आप अपने पुत्रोंके साथ आनन्दित होते हुए सुख भोगिये। नरेन्द्र! ऐसा करनेपर आप देवताओं तथा मनुष्योंकी आलोचनाके विषय नहीं रह जायँगे ॥ १२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके नीतिवाक्य-विषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल १२९ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीके नीतियुक्त वचन

धृतराष्ट्र उवाच

जाग्रतो दह्यमानस्य यत् कार्यमनुपश्यसि।
तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि॥ १॥

धृतराष्ट्र बोले—तात ! मैं चिन्तासे जलता हुआ अभीतक जाग रहा हूँ; तुम मेरे करने योग्य जो कार्य समझो, उसे बताओ; क्योंकि हमलोगोंमें तुम्हीं धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण हो॥ १॥

त्वं मां यथावद् विदुर प्रशाधि
प्रज्ञापूर्वं सर्वमजातशत्रोः।
यन्मन्यसे पथ्यमदीनसत्त्व
श्रेयस्करं ब्रूहि तद् वै कुरूणाम्॥ २॥

उदारचित्त विदुर ! तुम अपनी बुद्धिसे विचारकर मुझे ठीक-ठीक उपदेश करो। जो बात युधिष्ठिरके लिये हितकर और कौरवोंके लिये कल्याणकारी समझो, वह सब अवश्य बताओ॥ २॥

पापाशङ्की पापमेवानुपश्यन्
पृच्छामि त्वां व्याकुलेनात्मनाहम्।
कवे तन्मे ब्रूहि सर्वं यथाव-
न्मनीषितं सर्वमजातशत्रोः॥ ३॥

विद्वन् ! मेरे मनमें अनिष्टकी आशङ्का बनी रहती है, इसलिये मैं सर्वत्र अनिष्ट ही देखता हूँ, अतः व्याकुल हृदयसे मैं तुमसे पूछ रहा हूँ—अजातशत्रु युधिष्ठिर क्या चाहते हैं, सो सब ठीक-ठीक बताओ॥ ३॥

विदुर उवाच

शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम्।
अपृष्टस्तस्य तद् ब्रूयाद् यस्य नेच्छेत् पराभवम्॥ ४॥

विदुरजीने कहा—राजन् ! मनुष्यको चाहिये कि वह जिसकी पराजय नहीं चाहता, उसको बिना पूछे भी अच्छी अथवा बुरी, कल्याण करनेवाली या अनिष्ट करनेवाली—जो भी बात हो, बता दे॥ ४॥

तस्माद् वक्ष्यामि ते राजन् हितं यत् स्यात् कुरून् प्रति।
वचः श्रेयस्करं धर्म्यं ब्रुवतस्तन्निबोध मे॥ ५॥

इसलिये राजन् ! जिससे समस्त कौरवोंका हित हो, मैं वही बात आपसे कहूँगा। मैं जो कल्याणकारी एवं धर्मयुक्त वचन कह रहा हूँ, उन्हें आप ध्यान देकर सुनें॥ ५॥

मिथ्योपेतानि कर्माणि सिध्येयुर्यानि भारत।
अनुपायप्रयुक्तानि मा स्म तेषु मनः कृथाः॥ ६॥

भारत ! असत् उपायों (अन्यायपूर्वक युद्ध एवं जूए) आदिका प्रयोग करके जो कपटपूर्ण कार्य सिद्ध होते हैं, उनमें आप मन मत लगाइये॥ ६॥

तथैव योगविहितं यत् तु कर्म न सिध्यति।
उपाययुक्तं मेधावी न तत्र ग्लपयेन्मनः॥ ७॥

इसी प्रकार अच्छे उपायोंका उपयोग करके सावधानीके साथ किया गया कोई कर्म यदि सफल न हो तो बुद्धिमान् पुरुषको उसके लिये मनमें ग्लानि नहीं करनी चाहिये॥ ७॥

अनुबन्धानपेक्षेत सानुबन्धेषु कर्मसु।
सम्प्रधार्य च कुर्वीत न वेगेन समाचरेत्॥ ८॥

किसी प्रयोजनसे किये गये कर्मोंमें पहले प्रयोजनको समझ लेना चाहिये। खूब सोच-विचारकर काम करना चाहिये, जल्दबाजीसे किसी कामका आरम्भ नहीं करना चाहिये॥ ८॥

अनुबन्धं च सम्प्रेक्ष्य विपाकं चैव कर्मणाम्।
उत्थानमात्मनश्चैव धीरः कुर्वीत वा न वा॥ ९॥

धीर मनुष्यको उचित है कि पहले कर्मोंका प्रयोजन, परिणाम तथा अपनी उन्नतिका विचार करके फिर काम आरम्भ करे या न करे॥ ९॥

यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये।
कोशे जनपदे दण्डे न स राज्येऽवतिष्ठते॥ १०॥

जो राजा स्थिति, लाभ, हानि, खजाना, देश तथा दण्ड आदिकी मात्राको नहीं जानता, वह राज्यपर स्थिर नहीं रह सकता॥ १०॥

यस्त्वेतानि प्रमाणानि यथोक्तान्यनुपश्यति।
युक्तो धर्मार्थयोर्ज्ञाने स राज्यमधिगच्छति॥ ११॥

जो इनके प्रमाणोंको उपर्युक्त प्रकारसे ठीक-ठीक जानता है तथा धर्म और अर्थके ज्ञानमें दत्तचित्त रहता है, वह राज्यको प्राप्त करता है॥ ११॥

न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रतम्।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम्॥ १२॥

'अब तो राज्य प्राप्त ही हो गया'—ऐसा समझकर अनुचित बर्ताव नहीं करना चाहिये। उद्दण्डता सम्पत्तिको उसी प्रकार नष्ट कर देती है, जैसे सुन्दर रूपको बुढ़ापा॥ १२॥

भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नं मत्स्यो बडिशमायसम्।
लोभाभिपाती ग्रसते नानुबन्धमवेक्षते॥ १३॥

जैसे मछली बढ़िया खाद्य वस्तुसे ढकी हुई लोहेकी

बंसीको लोभमें पड़कर निगल जाती है, उससे होनेवाले परिणामपर विचार नहीं करती (अतएव मर जाती है) ॥

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।
हितं च परिणामे यत् तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥ १४ ॥

अतः अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको वही वस्तु खानी (या ग्रहण करनी) चाहिये, (जो परिणाममें अनिष्टकर न न हो अर्थात्) जो खाने योग्य हो तथा खायी जा सके, खाने (या ग्रहण करने) पर पच सके और पच जानेपर हितकारी हो ॥ १४ ॥

वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः ।
स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति ॥ १५ ॥

जो पेड़से कच्चे फलोंको तोड़ता है, वह उन फलोंसे रस तो पाता नहीं, परंतु उस वृक्षके बीजका नाश हो जाता है ॥ १५ ॥

यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम् ।
फलाद् रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः ॥ १६ ॥

परंतु जो समयपर पके हुए फलको ग्रहण करता है, वह फलसे रस पाता है और उस बीजसे पुनः फल प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥ १७ ॥

जैसे भौंरा फूलोंकी रक्षा करता हुआ ही उनके मधुका ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजाजनोंको कष्ट दिये बिना ही उनसे धन ले ॥ १७ ॥

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत् ।
मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः ॥ १८ ॥

जैसे माली बगीचेमें एक-एक फूल तोड़ता है, उसकी जड़ नहीं काटता, उसी प्रकार राजा प्रजाकी रक्षापूर्वक उनसे कर ले। कोयला बनानेवालेकी तरह जड़से नहीं काटे ॥ १८ ॥

किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः ।
इति कर्माणि संचिन्त्य कुर्याद् वा पुरुषो न वा ॥ १९ ॥

इसे करनेसे मेरा क्या लाभ होगा और न करनेसे क्या हानि होगी—इस प्रकार कर्मोंके विषयमें भलीभाँति विचार करके फिर मनुष्य (कर्म) करे या न करे ॥ १९ ॥

अनारभ्या भवन्त्यर्थाः केचिन्नित्यं तथागताः ।
कृतः पुरुषकारो हि भवेद् येषु निरर्थकः ॥ २० ॥

कुछ ऐसे व्यर्थ कार्य हैं, जो नित्य अप्राप्त होनेके कारण आरम्भ करने योग्य नहीं होते; क्योंकि उनके लिये किया हुआ पुरुषार्थ भी व्यर्थ हो जाता है ॥ २० ॥

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥ २१ ॥

जिसकी प्रसन्नताका कोई फल नहीं और क्रोध भी व्यर्थ है, उसको प्रजा स्वामी बनाना नहीं चाहती—जैसे स्त्री नपुंसकको पति नहीं बनाना चाहती ॥ २१ ॥

कांश्चिदर्थान् नरः प्राज्ञो लघुमूलान् महाफलान् ।
क्षिप्रमारभते कर्तुं न विघ्नयति तादृशान् ॥ २२ ॥

जिनका मूल (साधन) छोटा और फल महान् हो, बुद्धिमान् पुरुष उनको शीघ्र ही आरम्भ कर देता है; वैसे कामोंमें वह विघ्न नहीं आने देता ॥ २२ ॥

ऋजु पश्यति यः सर्वं चक्षुषानुपिबन्निव ।
आसीनमपि तूष्णीकमनुरज्यन्ति तं प्रजाः ॥ २३ ॥

जो राजा इस प्रकार प्रेमके साथ कोमल दृष्टिसे देखता है, मानो आँखोंसे पीना चाहता है, वह चुपचाप बैठा भी रहे, तो भी प्रजा उससे अनुराग रखती है ॥ २३ ॥

सुपुष्पितः स्यादफलः फलितः स्याद् दुरारुहः ।
अपक्वः पक्वसंकाशो न तु शीर्येत कर्हिचित् ॥ २४ ॥

राजा वृक्षकी भाँति अच्छी तरह फूलने (प्रसन्न रहने) पर भी फलसे खाली रहे (अधिक देनेवाला न हो)। यदि फलसे युक्त (देनेवाला) हो तो भी जिसपर चढ़ा न जा सके, ऐसा (पहुँचके बाहर) होकर रहे। कच्चा (कम शक्तिवाला) होनेपर भी पके (शक्तिसम्पन्न) की भाँति अपनेको प्रकट करे। ऐसा करनेसे वह नष्ट नहीं होता ॥ २४ ॥

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदति ॥ २५ ॥

जो राजा नेत्र, मन, वाणी और कर्म—इन चारोंसे प्रजाको प्रसन्न करता है, उसीसे प्रजा प्रसन्न रहती है ॥ २५ ॥

यस्मात् त्रस्यन्ति भूतानि मृगव्याधान्मृगा इव ।
सागरान्तामपि महीं लब्ध्वा स परिहीयते ॥ २६ ॥

जैसे व्याधसे हरिन भयभीत होते हैं, उसी प्रकार जिससे समस्त प्राणी डरते हैं, वह समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य पाकर भी प्रजाजनोंके द्वारा त्याग दिया जाता है ॥ २६ ॥

पितृपैतामहं राज्यं प्राप्तवान् स्वेन कर्मणा ।
वायुरभ्रमिवासाद्य भ्रंशयत्यनये स्थितः ॥ २७ ॥

अन्यायमें स्थित हुआ राजा बाप-दादोंका राज्य पाकर भी अपने कर्मोंसे उसे इस तरह भ्रष्ट कर देता है, जैसे हवा बादलको छिन्न-भिन्न कर देती है ॥ २७ ॥

धर्ममाचरतो राज्ञः सद्भिश्चरितमादितः ।
वसुधा वसुसम्पूर्णा वर्धते भूतिवर्धिनी ॥ २८ ॥

परम्परासे सज्जन पुरुषोंद्वारा किये हुए धर्मका आचरण करनेवाले राजाके राज्यकी पृथ्वी धन-धान्यसे पूर्ण होकर उन्नतिको प्राप्त होती है और उसके ऐश्वर्यको बढ़ाती है ॥

अथ संत्यजतो धर्ममधर्मं चानुतिष्ठतः।
प्रतिसंवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा ॥ २९ ॥

जो राजा धर्मको छोड़ता और अधर्मका अनुष्ठान करता है, उसकी राज्यभूमि आगपर रक्खे हुए चमड़ेकी भाँति संकुचित हो जाती है ॥ २९ ॥

य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रविमर्दने।
स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥ ३० ॥

दूसरे राष्ट्रोंका नाश करनेके लिये जिस प्रकारका प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकारकी तत्परता अपने राज्यकी रक्षाके लिये करनी चाहिये ॥ ३० ॥

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत्।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥ ३१ ॥

धर्मसे ही राज्य प्राप्त करे और धर्मसे ही उसकी रक्षा करे; क्योंकि धर्ममूलक राज्यलक्ष्मीको पाकर न तो राजा उसे छोड़ता है और न वही राजाको छोड़ती है ॥ ३१ ॥

अप्युन्मत्तात् प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः।
सर्वतः सारमादद्यादश्मभ्य इव काञ्चनम् ॥ ३२ ॥

निरर्थक बोलनेवाले, पागल तथा बकवाद करनेवाले बच्चेसे भी सब ओरसे उसी भाँति सार बात ग्रहण करनी चाहिये, जैसे पत्थरोंमेंसे सोना लिया जाता है ॥ ३२ ॥

सुव्याहृतानि सूक्तानि सुकृतानि ततस्ततः।
संचिन्वन् धीर आसीत शिलाहारी शिलं यथा ॥ ३३ ॥

जैसे शिलोञ्छवृत्तिसे जीविका चलानेवाला अनाजका एक-एक दाना चुगता रहता है, उसी प्रकार धीर पुरुषको जहाँ-तहाँसे भावपूर्ण वचनों, सूक्तियों और सत्कर्मोंका संग्रह करते रहना चाहिये ॥ ३३ ॥

गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ ३४ ॥

गौएँ गन्धसे, ब्राह्मणलोग वेदोंसे, राजा गुप्तचरोंसे और अन्य साधारण लोग आँखोंसे देखा करते हैं ॥ ३४ ॥

भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा।
अथ या सुदुहा राजन् नैव तां वितुदन्त्यपि ॥ ३५ ॥

राजन्! जो गाय बड़ी कठिनाईसे दुहने देती है, वह बहुत क्लेश उठाती है; किंतु जो आसानीसे दूध देती है, उसे लोग कष्ट नहीं देते ॥ ३५ ॥

यदतप्तं प्रणमति न तत् संतापयन्त्यपि।
यच्च स्वयं नतं दारु न तत् संनमयन्त्यपि ॥ ३६ ॥

जो धातु बिना गरम किये मुड़ जाते हैं, उन्हें आगमें नहीं तपाते। जो काठ स्वयं झुका होता है, उसे कोई झुकानेका प्रयत्न नहीं करता ॥ ३६ ॥

एतयोपमया धीरः संनमेत बलीयसे।
इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ३७ ॥

इस दृष्टान्तके अनुसार बुद्धिमान् पुरुषको अधिक बलवान्के सामने झुक जाना चाहिये; जो अधिक बलवान्के सामने झुकता है, वह मानो इन्द्रको प्रणाम करता है ॥ ३७ ॥

पर्जन्यनाथाः पशवो राजानो मन्त्रिबान्धवाः।
पतयो बान्धवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबान्धवाः ॥ ३८ ॥

पशुओंके रक्षक या स्वामी हैं बादल, राजाओंके सहायक हैं मन्त्री, स्त्रियोंके बन्धु (रक्षक) हैं पति और ब्राह्मणोंके बान्धव हैं वेद ॥ ३८ ॥

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥ ३९ ॥

सत्यसे धर्मकी रक्षा होती है, योगसे विद्या सुरक्षित होती है, सफाईसे (सुन्दर) रूपकी रक्षा होती है और सदाचारसे कुलकी रक्षा होती है ॥ ३९ ॥

मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रमः।
अभीक्ष्णदर्शनं गाश्च स्त्रियो रक्ष्याः कुचैलतः ॥ ४० ॥

भलीभाँति सँभालकर रखनेसे नाजकी रक्षा होती है, फेरनेसे घोड़े सुरक्षित रहते हैं, बारंबार देख-भाल करनेसे गौओंकी तथा मैले वस्त्रोंसे स्त्रियोंकी रक्षा होती है ॥ ४० ॥

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः।
अन्तेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥ ४१ ॥

मेरा ऐसा विचार है कि सदाचारसे हीन मनुष्यका केवल ऊँचा कुल मान्य नहीं हो सकता; क्योंकि नीच कुलमें उत्पन्न मनुष्यका भी सदाचार श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ४१ ॥

य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये।
सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः ॥ ४२ ॥

जो दूसरोंके धन, रूप, पराक्रम, कुलीनता, सुख, सौभाग्य और सम्मानपर डाह करता है, उसका यह रोग असाध्य है ॥ ४२ ॥

अकार्यकरणाद् भीतः कार्याणां च विवर्जनात्।
अकाले मन्त्रभेदाच्च येन माद्येन्न तत् पिबेत् ॥ ४३ ॥

न करने योग्य काम करनेसे, करने योग्य काममें प्रमाद करनेसे तथा कार्यसिद्धि होनेके पहले ही मन्त्र प्रकट हो जानेसे डरना चाहिये और जिससे नशा चढ़े, ऐसी मादक वस्तु नहीं पीनी चाहिये ॥ ४३ ॥

विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥ ४४ ॥

विद्याका मद, धनका मद और तीसरा ऊँचे कुलका मद है। ये घमंडी पुरुषोंके लिये तो मद हैं, परंतु ये (विद्या, धन और कुलीनता) ही सज्जन पुरुषोंके लिये दमके साधन हैं ॥ ४४ ॥

असन्तोऽभ्यर्थिताः सद्भिः क्वचित्कार्ये कदाचन।
मन्यन्ते सन्तमात्मानमसन्तमपि विश्रुतम् ॥ ४५ ॥

कभी किसी कार्यमें सज्जनोंद्वारा प्रार्थित होनेपर दुष्टलोग अपनेको प्रसिद्ध दुष्ट जानते हुए भी सज्जन मानने लगते हैं ॥ ४५ ॥

गतिरात्मवतां सन्तः सन्त एव सतां गतिः।
असतां च गतिः सन्तो न त्वसन्तः सतां गतिः ॥ ४६ ॥

मनस्वी पुरुषोंको सहारा देनेवाले संत हैं; संतोंके भी सहारे संत ही हैं, दुष्टोंको भी सहारा देनेवाले संत हैं, पर दुष्टलोग संतोंको सहारा नहीं देते ॥ ४६ ॥

जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता।
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम् ॥ ४७ ॥

अच्छे वस्त्रवाला सभाको जीतता (अपना प्रभाव जमा लेता) है; जिसके पास गौ है, वह (दूध, घी, मक्खन, खोवा आदि पदार्थोंके आस्वादनसे) मीठे स्वादकी आकाङ्क्षाको जीत लेता है, सवारीसे चलनेवाला मार्गको जीत लेता (तय कर लेता) है और शीलस्वभाववाला पुरुष सबपर विजय पा लेता है ॥ ४७ ॥

शीलं प्रधानं पुरुषे तद् यस्येह प्रणश्यति।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभिः ॥ ४८ ॥

पुरुषमें शील ही प्रधान है; जिसका वही नष्ट हो जाता है, इस संसारमें उसका जीवन, धन और बन्धुओंसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ॥ ४८ ॥

आढ्यानां मांसपरमं मध्यानां गोरसोत्तरम्।
तैलोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ ॥ ४९ ॥

भरतश्रेष्ठ! धनोन्मत्त (तामस स्वभाववाले) पुरुषोंके भोजनमें मांसकी, मध्यम श्रेणीवालोंके भोजनमें गोरसकी तथा दरिद्रोंके भोजनमें तेलकी प्रधानता होती है ॥ ४९ ॥

सम्पन्नतरमेवान्नं दरिद्रा भुञ्जते सदा।
क्षुत् स्वादुतां जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लभा ॥ ५० ॥

दरिद्र पुरुष सदा स्वादिष्ट भोजन ही करते हैं; क्योंकि भूख उनके भोजनमें (विशेष) स्वाद उत्पन्न कर देती है और वह भूख धनियोंके लिये सर्वथा दुर्लभ है ॥ ५० ॥

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते।
जीर्यन्त्यपि हि काष्ठानि दरिद्राणां महीपते ॥ ५१ ॥

राजन्! संसारमें धनियोंको प्रायः भोजनको पचानेकी शक्ति नहीं होती, किंतु दरिद्रोंके पेटमें काठ भी पच जाते हैं ॥ ५१ ॥

अवृत्तिर्भयमन्त्यानां मध्यानां मरणाद् भयम्।
उत्तमानां तु मर्त्यानामवमानात् परं भयम् ॥ ५२ ॥

अधम पुरुषोंको जीविका न होनेसे भय लगता है, मध्यम श्रेणीके मनुष्योंको मृत्युसे भय होता है; परंतु उत्तम पुरुषोंको अपमानसे ही महान् भय होता है ॥ ५२ ॥

ऐश्वर्यमदपापिष्ठा मदाः पानमदादयः।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि नापतित्वा विबुध्यते ॥ ५३ ॥

यों तो (मादक वस्तुओंके) पीनेका नशा आदि भी नशा ही है, किंतु ऐश्वर्यका नशा तो बहुत ही बुरा है; क्योंकि ऐश्वर्यके मदसे मतवाला पुरुष भ्रष्ट हुए बिना होशमें नहीं आता ॥ ५३ ॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु वर्तमानैरनिग्रहैः।
तैरयं ताप्यते लोको नक्षत्राणि ग्रहैरिव ॥ ५४ ॥

वशमें न होनेके कारण विषयोंमें रमनेवाली इन्द्रियोंसे यह संसार उसी भाँति कष्ट पाता है, जैसे सूर्य आदि ग्रहोंसे नक्षत्र तिरस्कृत हो जाते हैं ॥ ५४ ॥

यो जितः पञ्चवर्गेण सहजेनात्मकर्षिणा।
आपदस्तस्य वर्धन्ते शुक्लपक्ष इवोडुराट् ॥ ५५ ॥

जो मनुष्य जीवोंको वशमें करनेवाली सहज पाँच इन्द्रियोंसे जीत लिया गया, उसकी आपत्तियाँ शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति बढ़ती हैं ॥ ५५ ॥

अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगीषते।
अमित्रान् वाजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥ ५६ ॥

इन्द्रियोंसहित मनको जीते बिना ही जो मन्त्रियोंको जीतनेकी इच्छा करता है या मन्त्रियोंको अपने अधीन किये बिना शत्रुको जीतना चाहता है, उस अजितेन्द्रिय पुरुषको सब लोग त्याग देते हैं ॥ ५६ ॥

आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण यो जयेत्।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥ ५७ ॥

जो पहले इन्द्रियोंसहित मनको ही शत्रु समझकर जीत लेता है, उसके बाद यदि वह मन्त्रियों तथा शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करे तो उसे सफलता मिलती है ॥ ५७ ॥

वश्येन्द्रियं जितात्मानं धृतदण्डं विकारिषु।
परीक्ष्य कारिणं धीरमत्यन्तं श्रीर्निषेवते ॥ ५८ ॥

इन्द्रियों तथा मनको जीतनेवाले, अपराधियोंको दण्ड देनेवाले और जाँच-परखकर काम करनेवाले धीर पुरुषकी लक्ष्मी अत्यन्त सेवा करती है ॥ ५८ ॥

रथः शरीरं पुरुषस्य राज-
न्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-
र्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥ ५९ ॥

राजन्! मनुष्यका शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है और इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं। इनको वशमें करके सावधान रहनेवाला चतुर एवं धीर पुरुष काबूमें किये हुए घोड़ोंसे रथीकी भाँति सुखपूर्वक संसारपथका अतिक्रमण करता है ॥ ५९ ॥

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥ ६० ॥

शिक्षा न पाये हुए तथा काबूमें न आनेवाले घोड़े जैसे मूर्ख सारथिको मार्गमें मार गिराते हैं, वैसे ही ये इन्द्रियाँ वशमें न रहनेपर पुरुषको मार डालनेमें भी समर्थ होती हैं ॥ ६० ॥

अनर्थमर्थतः पश्यन्नर्थं चैवाप्यनर्थतः ।
इन्द्रियैरजितैर्बालः सुदुःखं मन्यते सुखम् ॥ ६१ ॥

इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण अर्थको अनर्थ और अनर्थको अर्थ समझकर अज्ञानी पुरुष बहुत बड़े दुःखको भी सुख मान बैठता है ॥ ६१ ॥

धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रियवशानुगः ।
श्रीप्राणधनदारेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ ६२ ॥

जो धर्म और अर्थका परित्याग करके इन्द्रियोंके वशमें हो जाता है, वह शीघ्र ही ऐश्वर्य, प्राण, धन तथा स्त्रीसे भी हाथ धो बैठता है ॥ ६२ ॥

अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः ।
इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद् भ्रश्यते हि सः ॥ ६३ ॥

जो अधिक धनका स्वामी होकर भी इन्द्रियोंपर अधिकार नहीं रखता, वह इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण ही ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ ६३ ॥

आत्मनाऽऽत्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः ।
आत्मा ह्येवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६४ ॥

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको अपने अधीन कर अपनेसे ही अपने आत्माको जाननेकी इच्छा करे; क्योंकि आत्मा ही अपना बन्धु और आत्मा ही अपना शत्रु है ॥ ६४ ॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनैवात्माऽऽत्मना जितः ।
स एव नियतो बन्धुः स एवानियतो रिपुः ॥ ६५ ॥

जिसने स्वयं अपने आत्माको ही जीत लिया है, उसका आत्मा ही उसका बन्धु है। वही आत्मा जीता गया होनेपर सच्चा बन्धु और वही न जीता हुआ होनेपर शत्रु है ॥ ६५ ॥

क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुरू ।
कामश्च राजन् क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुम्पतः ॥ ६६ ॥

राजन्! जिस प्रकार सूक्ष्म छेदवाले जालमें फँसी हुई दो बड़ी-बड़ी मछलियाँ मिलकर जालको काट डालती हैं, उसी प्रकार ये काम और क्रोध—दोनों विवेकको लुप्त कर देते हैं ॥ ६६ ॥

समवेक्ष्येह धर्मार्थौ सम्भारान् योऽधिगच्छति ।
स वै सम्भृतसम्भारः सततं सुखमेधते ॥ ६७ ॥

जो इस जगत्में धर्म तथा अर्थका विचार करके विजय-साधन-सामग्रीका संग्रह करता है, वही उस सामग्रीसे युक्त होनेके कारण सदा सुखपूर्वक समृद्धिशाली होता रहता है ॥ ६७ ॥

यः पञ्चाभ्यन्तराञ्छत्रूनविजित्य मनोमयान् ।
जिगीषति रिपूनन्यान् रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥ ६८ ॥

जो चित्तके विकारभूत पाँच इन्द्रियरूपी भीतरी शत्रुओंको जीते बिना ही दूसरे शत्रुओंको जीतना चाहता है, उसे शत्रु पराजित कर देते हैं ॥ ६८ ॥

दृश्यन्ते हि महात्मानो वध्यमानाः स्वकर्मभिः ।
इन्द्रियाणामनीशत्वाद् राजानो राज्यविभ्रमैः ॥ ६९ ॥

इन्द्रियोंपर अधिकार न होनेके कारण बड़े-बड़े साधु भी अपने कर्मोंसे तथा राजालोग राज्यके भोगविलासोंसे बँधे रहते हैं ॥ ६९ ॥

असंत्यागात् पापकृतामपापां-
स्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात् ।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावात्
तस्मात् पापैः सह सन्धिं न कुर्यात् ॥ ७० ॥

पापाचारी दुष्टोंका त्याग न करके उनके साथ मिले रहनेसे निरपराध सज्जनोंको भी उन (पापियों) के समान ही दण्ड प्राप्त होता है, जैसे सूखी लकड़ीमें मिल जानेसे गीली भी जल जाती है; इसलिये दुष्ट पुरुषोंके साथ कभी मेल न करे ॥ ७० ॥

निजानुत्पततः शत्रून् पञ्च पञ्चप्रयोजनान् ।
यो मोहान्न निगृह्णाति तमापद् ग्रसते नरम् ॥ ७१ ॥

जो पाँच विषयोंकी ओर दौड़नेवाले अपने पाँच इन्द्रियरूपी शत्रुओंको मोहके कारण वशमें नहीं करता, उस मनुष्यको विपत्ति ग्रस लेती है ॥ ७१ ॥

अनसूयाऽऽर्जवं शौचं संतोषः प्रियवादिता ।
दमः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम् ॥ ७२ ॥

गुणोंमें दोष न देखना, सरलता, पवित्रता, संतोष, प्रिय वचन बोलना, इन्द्रियदमन, सत्यभाषण तथा सरलता—ये गुण दुरात्मा पुरुषोंमें नहीं होते ॥ ७२ ॥

आत्मज्ञानमसंरम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
वाक् चैव गुप्ता दानं च नैतान्यन्त्येषु भारत ॥ ७३ ॥

भारत ! आत्मज्ञान, अक्रोध, सहनशीलता, धर्मपरायणता, वचनकी रक्षा तथा दान—ये गुण अधम पुरुषोंमें नहीं होते ॥ ७३ ॥

आक्रोशपरिवादाभ्यां विहिंसन्त्यबुधा बुधान्।
वक्ता पापमुपादत्ते क्षममाणो विमुच्यते ॥ ७४ ॥

मूर्ख मनुष्य विद्वानोंको गाली और निन्दासे कष्ट पहुँचाते हैं। गाली देनेवाला पापका भागी होता है और क्षमा करनेवाला पापसे मुक्त हो जाता है ॥ ७४ ॥

हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्बलम्।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ७५ ॥

दुष्ट पुरुषोंका बल है हिंसा, राजाओंका बल है दण्ड देना, स्त्रियोंका बल है सेवा और गुणवानोंका बल है क्षमा ॥ ७५ ॥

वाक्संयमो हि नृपते सुदुष्करतमो मतः।
अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहु भाषितुम् ॥ ७६ ॥

राजन् ! वाणीका पूर्ण संयम तो बहुत कठिन माना ही गया है; परंतु विशेष अर्थयुक्त और चमत्कारपूर्ण वाणी भी अधिक नहीं बोली जा सकती (इसलिये अत्यन्त दुष्कर होनेपर भी वाणीका संयम करना ही उचित है) ॥ ७६ ॥

अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते ॥ ७७ ॥

राजन् ! मधुर शब्दोंमें कही हुई बात अनेक प्रकारसे कल्याण करती है; किंतु वही यदि कटु शब्दोंमें कही जाय तो महान् अनर्थका कारण बन जाती है ॥ ७७ ॥

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम्।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥ ७८ ॥

बाणोंसे बिंधा हुआ तथा फरसेसे काटा हुआ वन भी अंकुरित हो जाता है; किंतु कटु वचन कहकर वाणीसे किया हुआ भयानक घाव नहीं भरता ॥ ७८ ॥

कर्णिनालीकनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥ ७९ ॥

कर्णि, नालीक और नाराच नामक बाणोंको शरीरसे निकाल सकते हैं, परंतु कटु वचनरूपी बाण नहीं निकाला जा सकता; क्योंकि वह हृदयके भीतर धँस जाता है ॥ ७९ ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः ॥ ८० ॥

कटु वचनरूपी बाण मुखसे निकलकर दूसरोंके मर्मस्थानपर ही चोट करते हैं; उनसे आहत मनुष्य रात-दिन घुलता रहता है। अतः विद्वान् पुरुष दूसरोंपर उनका प्रयोग न करे ॥ ८० ॥

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥ ८१ ॥

देवतालोग जिसे पराजय देते हैं, उसकी बुद्धिको पहले ही हर लेते हैं; इससे वह नीच कर्मोंपर ही अधिक दृष्टि रखता है ॥ ८१ ॥

बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ८२ ॥

विनाशकाल उपस्थित होनेपर बुद्धि मलिन हो जाती है; फिर तो न्यायके समान प्रतीत होनेवाला अन्याय हृदयसे बाहर नहीं निकलता ॥ ८२ ॥

सेयं बुद्धिः परीता ते पुत्राणां भरतर्षभ।
पाण्डवानां विरोधेन न चैनानवबुध्यसे ॥ ८३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपके पुत्रोंकी वह बुद्धि पाण्डवोंके प्रति विरोधसे व्याप्त हो गयी है; आप इन्हें पहचान नहीं रहे हैं ॥ ८३ ॥

राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत्।
शिष्यस्ते शासिता सोऽस्तु धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥ ८४ ॥

महाराज धृतराष्ट्र ! जो राजलक्षणोंसे सम्पन्न होनेके कारण त्रिभुवनका भी राजा हो सकता है, वह आपका आज्ञाकारी युधिष्ठिर ही इस पृथ्वीका शासक होने योग्य है ॥ ८४ ॥

अतीत्य सर्वान् पुत्रांस्ते भागधेयपुरस्कृतः।
तेजसा प्रज्ञया चैव युक्तो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ८५ ॥

वह धर्म तथा अर्थके तत्त्वको जाननेवाला, तेज और बुद्धिसे युक्त, पूर्ण सौभाग्यशाली तथा आपके सभी पुत्रोंसे बढ़-चढ़कर है ॥ ८५ ॥

अनुक्रोशादानृशंस्याद् योऽसौ धर्मभृतां वरः।
गौरवात् तव राजेन्द्र बहून् क्लेशांस्तितिक्षति ॥ ८६ ॥

राजेन्द्र ! धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर दया, सौम्यभाव तथा आपके प्रति गौरव-बुद्धिके कारण बहुत कष्ट सह रहा है ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके नीतिवाक्यविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

विदुरके द्वारा केशिनीके लिये सुधन्वाके साथ विरोचनके विवादका वर्णन करते हुए धृतराष्ट्रको धर्मोपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रूहि भूयो महाबुद्धे धर्मार्थसहितं वचः।
शृण्वतो नास्ति मे तृप्तिर्विचित्राणीह भाषसे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महाबुद्धे ! तुम पुनः धर्म और अर्थसे युक्त बातें कहो। इन्हें सुनकर मुझे तृप्ति नहीं होती। इस विषयमें तुम विलक्षण बातें कह रहे हो ॥ १ ॥

विदुर उवाच

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥ २ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! सब तीर्थोंमें स्नान और सब प्राणियोंके साथ कोमलताका बर्ताव—ये दोनों एक समान हैं; अथवा कोमलताके बर्तावका विशेष महत्त्व है ॥ २ ॥

आर्जवं प्रतिपद्यस्व पुत्रेषु सततं विभो।
इह कीर्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि ॥ ३ ॥

विभो ! आप अपने पुत्र कौरव, पाण्डव दोनोंके साथ (समानरूपसे) कोमलताका बर्ताव कीजिये। ऐसा करनेसे इस लोकमें महान् सुयश प्राप्त करके मरनेके पश्चात् ~~लोकमें~~ आप स्वर्गलोकमें जायँगे ॥ ३ ॥

यावत् कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोके प्रगीयते।
तावत् स पुरुषव्याघ्र स्वर्गलोके महीयते ॥ ४ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! इस लोकमें जबतक मनुष्यकी पावन कीर्तिका गान किया जाता है, तबतक वह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
विरोचनस्य संवादं केशिन्यर्थे सुधन्वना ॥ ५ ॥

इस विषयमें उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें 'केशिनी' के लिये सुधन्वाके साथ विरोचनके विवादका वर्णन है ॥ ५ ॥

स्वयंवरे स्थिता कन्या केशिनी नाम नामतः।
रूपेणाप्रतिमा राजन् विशिष्टपतिकाम्यया ॥ ६ ॥

राजन् ! एक समयकी बात है, केशिनी नामवाली एक अनुपम सुन्दरी कन्या सर्वश्रेष्ठ पतिको वरण करनेकी इच्छासे स्वयंवर-सभामें उपस्थित हुई ॥ ६ ॥

विरोचनोऽथ दैतेयस्तदा तत्राजगाम ह।
प्राप्तुमिच्छंस्ततस्तत्र दैत्येन्द्रं प्राह केशिनी ॥ ७ ॥

उसी समय दैत्यकुमार विरोचन उसे प्राप्त करनेकी इच्छासे वहाँ आया। तब केशिनीने वहाँ दैत्यराजसे इस प्रकार बातचीत की ॥ ७ ॥

केशिन्युवाच

किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांसो दितिजाः स्विद् विरोचन।
अथ केन स्म पर्यङ्कं सुधन्वा नाधिरोहति ॥ ८ ॥

केशिनी बोली—विरोचन ! ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं या दैत्य ? यदि ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं तो सुधन्वा ब्राह्मण ही मेरी शय्यापर क्यों न बैठे ? अर्थात् मैं सुधन्वासे ही विवाह क्यों न करूँ ? ॥ ८ ॥

विरोचन उवाच

प्राजापत्यास्तु वै श्रेष्ठा वयं केशिनि सत्तमाः।
अस्माकं खल्विमे लोकाः के देवाः के द्विजातयः ॥ ९ ॥

विरोचनने कहा—केशिनी ! हम प्रजापतिकी श्रेष्ठ संतानें हैं, अतः सबसे उत्तम हैं। यह सारा संसार हमलोगोंका ही है। हमारे सामने देवता क्या हैं ? और ब्राह्मण कौन चीज हैं ? ॥ ९ ॥

केशिन्युवाच

इहैवावां प्रतीक्षाव उपस्थाने विरोचन।
सुधन्वा प्रातरागन्ता पश्येयं वां समागतौ ॥ १० ॥

केशिनी बोली—विरोचन ! इसी जगह हम दोनों



प्रतीक्षा करें; कल प्रातःकाल सुधन्वा यहाँ आवेगा। फिर मैं तुम दोनोंको एकत्र उपस्थित देखूँगी ॥ १० ॥

विरोचन उवाच

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे।
सुधन्वानं च मां चैव प्रातर्द्रष्टासि संगतौ ॥ ११ ॥

विरोचन बोला—कल्याणी ! तुम जैसा कहती हो, वही करूँगा। भीरु ! प्रातःकाल तुम मुझे और सुधन्वाको एक साथ उपस्थित देखोगी ॥ ११ ॥

विदुर उवाच

अतीतायां च शर्वर्यामुदिते सूर्यमण्डले।
अथाजगाम तं देशं सुधन्वा राजसत्तम।
विरोचनो यत्र विभो केशिन्या सहितः स्थितः ॥ १२ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजाओंमें श्रेष्ठ धृतराष्ट्र ! इसके बाद जब रात बीती और सूर्यमण्डलका उदय हुआ, उस समय सुधन्वा उस स्थानपर आया, जहाँ विरोचन केशिनीके साथ उपस्थित था ॥ १२ ॥

सुधन्वा च समागच्छत् प्राह्लादिं केशिनीं तथा।
समागतं द्विजं दृष्ट्वा केशिनी भरतर्षभ।
प्रत्युत्थायासनं तस्मै पाद्यमर्घ्यं ददौ पुनः ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! सुधन्वा प्रह्लादकुमार विरोचन और केशिनी-के पास आया। ब्राह्मणको आया देख केशिनी उठ खड़ी हुई और उसने उसे आसन, पाद्य और अर्घ्य निवेदन किया ॥ १३ ॥

सुधन्वोवाच

अन्वालभे हिरण्मयं प्राह्लादे ते वरासनम्।
एकत्वमुपसम्पन्नो न त्वासेऽहं त्वया सह ॥ १४ ॥

सुधन्वा बोला—प्रह्लादनन्दन ! मैं तुम्हारे इस सुवर्ण-मय सुन्दर सिंहासनको केवल छू लेता हूँ, तुम्हारे साथ इसपर बैठ नहीं सकता; क्योंकि ऐसा होनेसे हम दोनों एक समान हो जायँगे ॥ १४ ॥

विरोचन उवाच

तवार्हते तु फलकं कूर्चं वाप्यथवा बृसी।
सुधन्वन् न त्वमर्होऽसि मया सह समासनम् ॥ १५ ॥

विरोचनने कहा—सुधन्वन् ! तुम्हारे लिये तो पीढ़ा, चटाई या कुशका आसन उचित है; तुम मेरे साथ बराबरके आसनपर बैठने योग्य हो ही नहीं ॥ १५ ॥

सुधन्वोवाच

पितापुत्रौ सहासीतां द्वौ विप्रौ क्षत्रियावपि।
वृद्धौ वैश्यौ च शूद्रौ च न त्वन्यावितरेतरम् ॥ १६ ॥

सुधन्वाने कहा—विरोचन ! पिता और पुत्र एक साथ एक आसनपर बैठ सकते हैं; दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वृद्ध, दो वैश्य और दो शूद्र भी एक साथ बैठ सकते हैं; किंतु दूसरे कोई दो व्यक्ति परस्पर एक साथ नहीं बैठ सकते ॥

पिता हि ते समासीनमुपासीतैव मामधः।
बालः सुखैधितो गेहे न त्वं किंचन बुध्यसे ॥ १७ ॥

तुम्हारे पिता प्रह्लाद नीचे बैठकर ही उच्चासनपर आसीन हुए मुझ सुधन्वाकी सेवा किया करते हैं। तुम अभी बालक हो, घरमें सुखसे पले हो; अतः तुम्हें इन बातोंका कुछ भी ज्ञान नहीं है ॥

विरोचन उवाच

हिरण्यं च गवाश्वं च यद् वित्तमसुरेषु नः।
सुधन्वन् विपणे तेन प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥ १८ ॥

विरोचन बोला—सुधन्वन् ! हम असुरोंके पास जो कुछ भी सोना, गौ, घोड़ा आदि धन है, उसकी मैं बाजी लगाता हूँ; हम-तुम दोनों चलकर जो इस विषयके जानकार हों, उनसे पूछें कि हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ? ॥ १८ ॥

सुधन्वोवाच

हिरण्यं च गवाश्वं च तवैवास्तु विरोचन।
प्राणयोस्तु पणं कृत्वा प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥ १९ ॥

सुधन्वा बोला—विरोचन ! सुवर्ण, गाय और घोड़ा तुम्हारे ही पास रहें। हम दोनों प्राणोंकी बाजी लगाकर जो जानकार हों, उनसे पूछें ॥ १९ ॥

विरोचन उवाच

आवां कुत्र गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते।
न तु देवेष्वहं स्थाता न मनुष्येषु कर्हिचित् ॥ २० ॥

विरोचनने कहा—अच्छा, प्राणोंकी बाजी लगानेके पश्चात् हम दोनों कहाँ चलेंगे ? मैं तो न देवताओंके पास जा सकता हूँ और न कभी मनुष्योंसे ही निर्णय करा सकता हूँ ॥ २० ॥

सुधन्वोवाच

पितरं ते गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते।
पुत्रस्यापि स हेतोर्हि प्रह्लादो नानृतं वदेत् ॥ २१ ॥

सुधन्वा बोला—प्राणोंकी बाजी लग जानेपर हम दोनों तुम्हारे पिताके पास चलेंगे। [मुझे विश्वास है कि] प्रह्लाद अपने बेटेके (जीवनके) लिये भी झूठ नहीं बोल सकते हैं ॥ २१ ॥

विदुर उवाच

एवं कृतपणौ क्रुद्धौ तत्राभिजग्मतुस्तदा।
विरोचनसुधन्वानौ प्रह्लादो यत्र तिष्ठति ॥ २२ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! इस तरह बाजी लगाकर परस्पर क्रुद्ध हो विरोचन और सुधन्वा दोनों उस समय वहाँ गये, जहाँ प्रह्लाद थे ॥ २२ ॥

प्रह्लाद उवाच

इमौ तौ सम्प्रदृश्येते याभ्यां न चरितं सह।
आशीविषाविव क्रुद्धावेकमार्गाविहागतौ ॥ २३ ॥

प्रह्लादने (मन-ही-मन) कहा—जो कभी भी एक साथ नहीं चले थे, वे ही दोनों ये सुधन्वा और विरोचन आज साँपकी तरह क्रुद्ध होकर एक ही राहसे आते दिखायी देते हैं ॥ २३ ॥

किं वै सहैवं चरथो न पुरा चरथः सह।
विरोचनैतत् पृच्छामि किं ते सख्यं सुधन्वना ॥ २४ ॥

[फिर प्रकटरूपमें विरोचनसे कहा—] विरोचन ! मैं तुमसे पूछता हूँ, क्या सुधन्वाके साथ तुम्हारी मित्रता हो गयी है? फिर कैसे एक साथ आ रहे हो ? पहले तो तुम दोनों कभी एक साथ नहीं चलते थे ॥ २४ ॥

विरोचन उवाच

न मे सुधन्वना सख्यं प्राणयोर्विपणावहे।
प्रह्लाद तत्त्वं पृच्छामि मा प्रश्नमनृतं वदेः ॥ २५ ॥

विरोचन बोला—पिताजी ! सुधन्वाके साथ मेरी मित्रता नहीं हुई है। हम दोनों प्राणोंकी बाजी लगाये आ रहे हैं। मैं आपसे यथार्थ बात पूछता हूँ। मेरे प्रश्नका झूठा उत्तर न दीजियेगा ॥ २५ ॥

प्रह्लाद उवाच

उदकं मधुपर्कं चाप्यानयन्तु सुधन्वने।
ब्रह्मन्नभ्यर्चनीयोऽसि श्वेता गौः पीवरी कृता ॥ २६ ॥

प्रह्लादने कहा—सेवको ! सुधन्वाके लिये जल और मधुपर्क भी लाओ। [फिर सुधन्वासे कहा—] ब्रह्मन् ! तुम मेरे पूजनीय अतिथि हो, मैंने तुम्हें दान करनेके लिये खूब मोटी-ताजी सफेद गौ रख रक्खी है ॥ २६ ॥

सुधन्वोवाच

उदकं मधुपर्कं च पथिष्वेवार्पितं मम।
प्रह्लाद त्वं तु मे तथ्यं प्रश्नं प्रब्रूहि पृच्छतः।
किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांस उताहो स्विद् विरोचनः॥२७॥

सुधन्वा बोला—प्रह्लाद ! जल और मधुपर्क तो मुझे मार्गमें ही मिल गया है। तुम तो जो मैं पूछ रहा हूँ, उस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर दो—ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं अथवा विरोचन ? ॥ २७ ॥

प्रह्लाद उवाच

पुत्र एको मम ब्रह्मंस्त्वं च साक्षादिहास्थितः।
तयोर्विवदतोः प्रश्नं कथमस्मद्विधो वदेत् ॥ २८ ॥

प्रह्लाद बोले—ब्रह्मन् ! मेरे एक ही पुत्र है और इधर तुम स्वयं उपस्थित हो; भला, तुम दोनोंके विवादमें मेरे-जैसा मनुष्य कैसे निर्णय दे सकता है ? ॥ २८ ॥

सुधन्वोवाच

गां प्रदद्यास्त्वौरसाय यद्वान्यत् स्यात् प्रियं धनम्।
द्वयोर्विवदतोस्तथ्यं वाच्यं च मतिमंस्त्वया ॥ २९ ॥

सुधन्वा बोला—मतिमन् ! तुम्हारे पास गौ तथा दूसरा जो कुछ भी प्रिय धन हो, वह सब अपने औरस पुत्र विरोचनको दे दो; परंतु हम दोनोंके विवादमें तो तुम्हें ठीक-ठीक उत्तर देना ही चाहिये ॥ २९ ॥

प्रह्लाद उवाच

अथ यो नैव प्रब्रूयात् सत्यं वा यदि वानृतम्।
एतत् सुधन्वन् पृच्छामि दुर्विवक्ता स्म किं वसेत्॥३०॥

प्रह्लादने कहा—सुधन्वन् ! अब मैं तुमसे यह बात पूछता हूँ—जो सत्य न बोले अथवा असत्य निर्णय करे, ऐसे दुष्ट वक्ताकी क्या स्थिति होती है ? ॥ ३० ॥

सुधन्वोवाच

यां रात्रिमधिविन्ना स्त्री यां चैवाक्षपराजितः।
यां च भाराभितप्ताङ्गो दुर्विवक्ता स तां वसेत् ॥ ३१ ॥

सुधन्वा बोला—सौतवाली स्त्री, जूएमें हारे हुए जुआरी और भार ढोनेसे व्यथित शरीरवाले मनुष्यकी रातमें जो स्थिति होती है, वही स्थिति उल्टा न्याय देनेवाले वक्ताकी भी होती है ॥ ३१ ॥

नगरे प्रतिरुद्धः सन् बहिर्द्वारे बुभुक्षितः।
अमित्रान् भूयसः पश्येद् यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ३२ ॥

जो झूठा निर्णय देता है, वह राजा नगरमें कैद होकर बाहरी दरवाजेपर भूखका कष्ट उठाता हुआ बहुत-से शत्रुओंको देखता है ॥ ३२ ॥

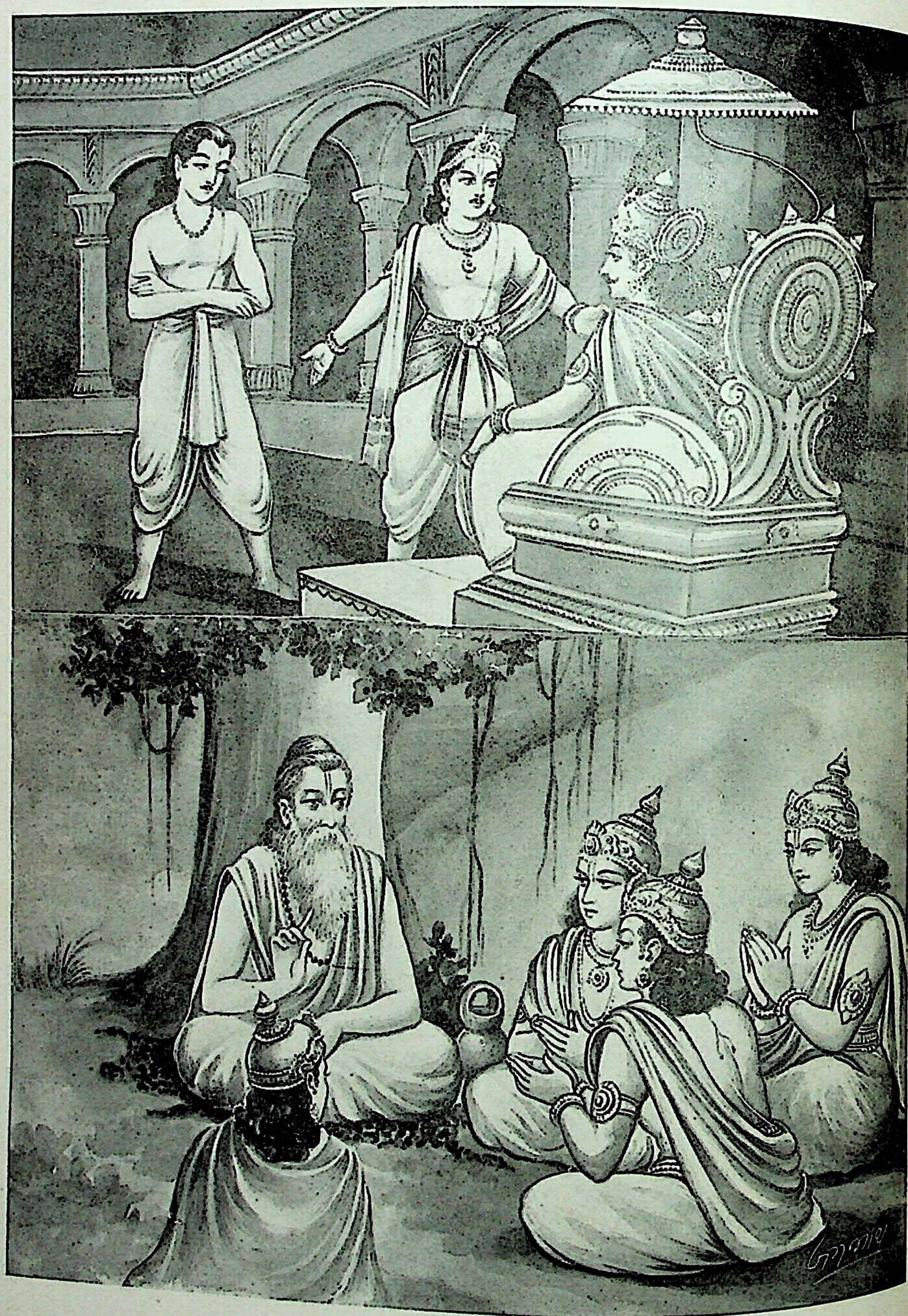
पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ३३ ॥

(अपने स्वार्थके वशीभूत हो) पशुके लिये झूठ बोलनेसे पाँच, गौके लिये झूठ बोलनेपर दस, घोड़ेके लिये असत्य-भाषण करनेपर सौ पीढ़ियोंको और मनुष्यके लिये झूठ बोलनेपर एक हजार पीढ़ियोंको मनुष्य नरकमें गिराता है ॥

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदेः ॥ ३४ ॥

सुवर्णके लिये झूठ बोलनेवाला अपनी भूत और भविष्य सभी पीढ़ियोंको नरकमें गिराता है। पृथ्वी तथा स्त्रीके लिये झूठ कहनेवाला तो अपना सर्वनाश ही कर लेता है; इसलिये तुम भूमि या स्त्रीके लिये कभी झूठ न बोलना ॥ ३४ ॥

प्रह्लादजीका न्याय



आत्रेय मुनि और साध्यगण

प्रह्लाद उवाच

मत्तः श्रेयानङ्गिरा वै सुधन्वा त्वद्विरोचन।
माताऽस्य श्रेयसी मातुस्तस्मात् त्वं तेन वै जितः॥ ३५॥

प्रह्लादने कहा—विरोचन! सुधन्वाके पिता अङ्गिरा



मुझसे श्रेष्ठ हैं; सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ है, इसकी माता तुम्हारी मातासे श्रेष्ठ है; अतः तुम आज सुधन्वाके द्वारा जीते गये ॥३५॥

विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव।
सुधन्वन् पुनरिच्छामि त्वया दत्तं विरोचनम्॥ ३६॥

विरोचन! अब सुधन्वा तुम्हारे प्राणोंका स्वामी है। सुधन्वन्! अब यदि तुम दे दो तो मैं विरोचनको पाना चाहता हूँ॥ ३६॥

सुधन्वोवाच

यद् धर्ममवृणीथास्त्वं न कामादनृतं वदीः।
पुनर्ददामि ते पुत्रं तस्मात् प्रह्लाद दुर्लभम्॥ ३७॥

सुधन्वा बोला—प्रह्लाद! तुमने धर्मको ही स्वीकार किया है, स्वार्थवश झूठ नहीं कहा है; इसलिये अब तुम्हारे इस दुर्लभ पुत्रको फिर तुम्हें दे रहा हूँ॥ ३७॥

एष प्रह्लाद पुत्रस्ते मया दत्तो विरोचनः।
पादप्रक्षालनं कुर्यात् कुमार्याः संनिधौ मम॥ ३८॥

प्रह्लाद! तुम्हारे इस पुत्र विरोचनको मैंने पुनः तुम्हें दे दिया; किंतु अब यह कुमारी केशिनीके निकट चलकर मेरे पैर धोवे॥ ३८॥

विदुर उवाच

तस्माद् राजेन्द्र भूम्यर्थे नानृतं वक्तुमर्हसि।
मा गमः ससुतामात्यो नाशं पुत्रार्थमब्रुवन्॥ ३९॥

विदुरजी कहते हैं—इसलिये राजेन्द्र! आप पृथ्वीके लिये झूठ न बोलें। बेटेके स्वार्थवश सच्ची बात न कहकर पुत्र और मन्त्रियोंके साथ विनाशके मुखमें न जायँ॥ ३९॥

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम्॥ ४०॥

देवतालोग चरवाहोंकी तरह डंडा लेकर किसीका पहरा नहीं देते। वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे उत्तम बुद्धिसे युक्त कर देते हैं॥ ४०॥

यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः।
तथा तथास्य सर्वार्थाः सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः॥ ४१॥

मनुष्य जैसे-जैसे कल्याणमें मन लगाता है, वैसे-ही-वैसे उसके सारे अभीष्ट सिद्ध होते हैं—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है॥ ४१॥

नैनं छन्दांसि वृजिनात् तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्तमानम्।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षा-
श्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले॥ ४२॥

कपटपूर्ण व्यवहार करनेवाले मायावीको वेद पापोंसे मुक्त नहीं करते; किंतु जैसे पंख निकल आनेपर चिड़ियोंके बच्चे घोंसला छोड़ देते हैं, उसी प्रकार वेद भी अन्तकालमें उस (मायावी) को त्याग देते हैं॥ ४२॥

मद्यपानं कलहं पूगवैरं
भार्यापत्योरन्तरं ज्ञातिभेदम्।
राजद्विष्टं स्त्रीपुंसयोर्विवादं
वर्ज्यान्याहुर्यश्च पन्थाः प्रदुष्टः॥ ४३॥

शराब पीना, कलह, समूहके साथ वैर, पति-पत्नीमें भेद पैदा करना, कुटुम्बवालोंमें भेदबुद्धि उत्पन्न करना, राजाके साथ द्वेष, स्त्री और पुरुषमें विवाद और बुरे रास्ते—ये सब त्याग देनेयोग्य बताये गये हैं॥ ४३॥

सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं
शलाकधूर्तं च चिकित्सकं च।
अरिं च मित्रं च कुशीलवं च
नैतान् साक्ष्ये त्वधिकुर्वीत सप्त॥ ४४॥

हस्तरेखा देखनेवाला, चोरी करके व्यापार करनेवाला, जुआरी, वैद्य, शत्रु, मित्र और नर्तक—इन सातोंको कभी भी गवाह न बनावे॥ ४४॥

मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः।
एतानि चत्वार्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि॥ ४५॥

आदरके साथ अग्निहोत्र, आदरपूर्वक मौनका पालन, आदरपूर्वक स्वाध्याय और आदरके साथ यज्ञका अनुष्ठान—

ये चार कर्म भयको दूर करनेवाले हैं; किंतु वे ही यदि ठीक तरहसे सम्पादित न हों तो भय प्रदान करनेवाले होते हैं ॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
पर्वकारश्च सूची च मित्रध्रुक् पारदारिकः ॥ ४६ ॥
भ्रूणहा गुरुतल्पी च यश्च स्यात् पानपो द्विजः ।
अतितीक्ष्णश्च काकश्च नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ ४७ ॥
स्रुवप्रग्रहणो व्रात्यः कीनाशश्चात्मवानपि ।
रक्षेत्युक्तश्च यो हिंस्यात् सर्वे ब्रह्महभिः समाः ॥ ४८ ॥

घरमें आग लगानेवाला, विष देनेवाला, जारज संतानकी कमाई खानेवाला, सोमरस बेचनेवाला, शस्त्र बनानेवाला, चुगली करनेवाला, मित्रद्रोही, परस्त्रीलम्पट, गर्भकी हत्या करनेवाला, गुरुस्त्रीगामी, ब्राह्मण होकर शराब पीनेवाला, अधिक तीखे स्वभाववाला, कौएकी तरह काँय-काँय करनेवाला, नास्तिक, वेदकी निन्दा करनेवाला, ग्रामपुरोहित, व्रात्य[1], क्रूर तथा शक्तिमान् होते हुए भी 'मेरी रक्षा करो', इस प्रकार कहनेवाले शरणागतका जो वध करता है—ये सबके सब ब्रह्म-हत्यारोंके समान हैं ॥ ४६–४८ ॥

तृणोल्कया ज्ञायते जातरूपं
वृत्तेन भद्रो व्यवहारेण साधुः ।
शूरो भयेष्वर्थकृच्छ्रेषु धीरः
कृच्छ्रेष्वापत्सु सुहृदश्चारयश्च ॥ ४९ ॥

जलती हुई आगसे सुवर्णकी पहचान होती है, सदाचारसे सत्पुरुषकी, व्यवहारसे श्रेष्ठ पुरुषकी, भय प्राप्त होनेपर शूरकी, आर्थिक कठिनाईमें धीरकी और कठिन आपत्तिमें शत्रु एवं मित्रकी परीक्षा होती है ॥ ४९ ॥

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया ।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा
ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ॥ ५० ॥

बुढ़ापा (सुन्दर) रूपको, आशा धीरताको, मृत्यु प्राणोंको, असूया (गुणोंमें दोष देखनेका स्वभाव) धर्माचरणको, क्रोध लक्ष्मीको, नीच पुरुषोंकी सेवा सत्स्वभावको, काम लज्जाको और अभिमान सर्वस्वको नष्ट कर देता है ॥ ५० ॥

श्रीर्मङ्गलात् प्रभवति प्रागल्भ्यात् सम्प्रवर्धते ।
दाक्ष्यात् तु कुरुते मूलं संयमात् प्रतितिष्ठति ॥ ५१ ॥

शुभ कर्मोंसे लक्ष्मीकी उत्पत्ति होती है, प्रगल्भतासे वह बढ़ती है, चतुरतासे जड़ जमा लेती है और संयमसे सुरक्षित रहती है ॥ ५१ ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ५२ ॥

आठ गुण पुरुषकी शोभा बढ़ाते हैं—बुद्धि, कुलीनता, दम, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, बहुत न बोलना, यथाशक्ति दान देना और कृतज्ञ होना ॥ ५२ ॥

एतान् गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं
सर्वान् गुणानेष गुणो विभाति ॥ ५३ ॥

तात ! एक गुण ऐसा है, जो इन सभी महत्त्वपूर्ण गुणों-पर हठात् अधिकार जमा लेता है । जिस समय राजा किसी मनुष्यका सत्कार करता है, उस समय यह एक ही गुण (राजसम्मान) सभी गुणोंसे बढ़कर शोभा पाता है ॥ ५३ ॥

अष्टौ नृपेमानि मनुष्यलोके
स्वर्गस्य लोकस्य निदर्शनानि ।
चत्वार्येषामन्ववेतानि सद्भि-
श्चत्वारि चैषामनुयान्ति सन्तः ॥ ५४ ॥

राजन् ! मनुष्यलोकमें ये आठ गुण स्वर्गलोकका दर्शन करानेवाले हैं; इनमेंसे चार तो संतोंके साथ नित्य सम्बद्ध हैं—उनमें सदा विद्यमान रहते हैं और चारका सज्जन पुरुष अनुसरण करते हैं ॥ ५४ ॥

यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च
चत्वार्येतान्यन्ववेतानि सद्भिः ।
दमः सत्यमार्जवमानृशंस्यं
चत्वार्येतान्यनुयान्ति सन्तः ॥ ५५ ॥

यज्ञ, दान, शास्त्रोंका अध्ययन और तप—ये चार सज्जनोंके साथ नित्य सम्बद्ध हैं; और इन्द्रियनिग्रह, सत्य, सरलता तथा कोमलता—इन चारोंका संतलोग अनुसरण करते हैं ॥ ५५ ॥

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ ५६ ॥

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया और निर्लोभता—ये धर्मके आठ प्रकारके मार्ग बताये गये हैं ॥

तत्र पूर्वचतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति ॥ ५७ ॥

इनमेंसे पहले चारोंका तो कोई (दम्भी पुरुष भी) दम्भके लिये सेवन कर सकता है, परंतु अन्तिम चार तो जो महात्मा नहीं हैं, उनमें रह ही नहीं सकते ॥ ५७ ॥

---

१. यज्ञोपवीतहीन पिताका पुत्र, उपनयन-संस्कारका समय व्यतीत होनेपर भी यज्ञोपवीतरहित, विवाहित होनेपर भी यज्ञोपवीत-हीन—ये तीन प्रकारके 'व्रात्य' कहे गये हैं ।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्॥ ५८॥

जिस सभामें बड़े-बूढ़े नहीं, वह सभा नहीं; जो धर्मकी बात न कहें, वे बूढ़े नहीं; जिसमें सत्य नहीं, वह धर्म नहीं और जो कपटसे पूर्ण हो, वह सत्य नहीं है॥ ५८॥

सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम्।
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः॥ ५९॥

सत्य, विनयकी मुद्रा, शास्त्रज्ञान, विद्या, कुलीनता, शील, बल, धन, शूरता और चमत्कारपूर्ण बात कहना—ये दस स्वर्गके हेतु हैं॥ ५९॥

पापं कुर्वन् पापकीर्तिः पापमेवाश्नुते फलम्।
पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः पुण्यमत्यन्तमश्नुते॥ ६०॥

पापकीर्तिवाला निन्दित मनुष्य पापाचरण करता हुआ पापके फलको ही प्राप्त करता है और पुण्य कीर्तिवाला (प्रशंसित) मनुष्य पुण्य करता हुआ अत्यन्त पुण्यफलका ही उपभोग करता है॥ ६०॥

तस्मात् पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः॥ ६१॥

इसलिये प्रशंसित व्रतका आचरण करनेवाले पुरुषको पाप नहीं करना चाहिये; क्योंकि बारंबार किया हुआ पाप बुद्धिको नष्ट कर देता है॥ ६१॥

नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः।
पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः॥ ६२॥

जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह मनुष्य सदा पाप ही करता रहता है। इसी प्रकार बारंबार किया हुआ पुण्य बुद्धिको बढ़ाता है॥ ६२॥

वृद्धप्रज्ञः पुण्यमेव नित्यमारभते नरः।
पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः पुण्यं स्थानं स्म गच्छति।
तस्मात् पुण्यं निषेवेत पुरुषः सुसमाहितः॥ ६३॥

जिसकी बुद्धि बढ़ जाती है, वह मनुष्य सदा पुण्य ही करता है। इस प्रकार पुण्यकर्मा मनुष्य पुण्य करता हुआ पुण्यलोकको ही जाता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह सदा एकाग्रचित्त होकर पुण्यका ही सेवन करे॥ ६३॥

असूयको दन्दशूको निष्ठुरो वैरकृच्छठः।
स कृच्छ्रं महदाप्नोति न चिरात् पापमाचरन्॥ ६४॥

गुणोंमें दोष देखनेवाला, मर्मपर आघात करनेवाला, निर्दयी, शत्रुता करनेवाला और शठ मनुष्य पापका आचरण करता हुआ शीघ्र ही महान् कष्टको प्राप्त होता है॥ ६४॥

अनसूयुः कृतप्रज्ञः शोभनान्याचरन् सदा।
नकृच्छ्रं महदाप्नोति सर्वत्र च विरोचते॥ ६५॥

दोषदृष्टिसे रहित शुद्ध बुद्धिवाला पुरुष सदा शुभकर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ महान् सुखको प्राप्त होता है और सर्वत्र उसका सम्मान होता है॥ ६५॥

प्रज्ञामेवागमयति यः प्राज्ञेभ्यः स पण्डितः।
प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौ शक्नोति सुखमेधितुम्॥ ६६॥

जो बुद्धिमान् पुरुषोंसे सद्बुद्धि प्राप्त करता है, वही पण्डित है; क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष ही धर्म और अर्थको प्राप्तकर अनायास ही अपनी उन्नति करनेमें समर्थ होता है॥ ६६॥

दिवसेनैव तत् कुर्याद् येन रात्रौ सुखं वसेत्।
अष्टमासेन तत् कुर्याद् येन वर्षाः सुखं वसेत्॥ ६७॥

दिनभरमें ही वह कार्य कर ले, जिससे रातमें सुखसे रह सके और आठ महीनोंमें वह कार्य कर ले, जिससे वर्षाके चार महीने सुखसे व्यतीत कर सके॥ ६८॥

पूर्वे वयसि तत् कुर्याद् येन वृद्धः सुखं वसेत्।
यावज्जीवेन तत् कुर्याद् येन प्रेत्य सुखं वसेत्॥ ६८॥

पहली अवस्थामें वह काम करे, जिससे वृद्धावस्थामें सुखपूर्वक रह सके और जीवनभर वह कार्य करे, जिससे मरनेके बाद भी (परलोकमें) सुखसे रह सके॥ ६८॥

जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति भार्यां च गतयौवनाम्।
शूरं विजितसंग्रामं गतपारं तपस्विनम्॥ ६९॥

सज्जन पुरुष पच जानेपर अन्नकी, (निष्कलङ्क) यौवन बीत जानेपर स्त्रीकी, संग्राम जीत लेनेपर शूरकी और संसारसागरको पार कर लेनेपर तपस्वीकी प्रशंसा करते हैं॥ ६९॥

धनेनाधर्मलब्धेन यच्छिद्रमपिधीयते।
असंवृतं तद् भवति ततोऽन्यदवदीर्यते॥ ७०॥

अधर्मसे प्राप्त हुए धनके द्वारा जो दोष छिपाया जाता है, वह तो छिपता नहीं; (परंतु दोष छिपानेके कारण) उससे भिन्न और नया दोष प्रकट हो जाता है॥ ७०॥

गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः॥ ७१॥

अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले शिष्योंके शासक गुरु हैं, दुष्टोंके शासक राजा हैं और छिपे-छिपे पाप करनेवालोंके शासक सूर्यपुत्र यमराज हैं॥ ७१॥

ऋषीणां च नदीनां च कुलानां च महात्मनाम्।
प्रभवो नाधिगन्तव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च॥ ७२॥

ऋषि, नदी, वंश एवं महात्माओंका तथा स्त्रियोंके दुश्चरित्रका उत्पत्तिस्थान नहीं जाना जा सकता ॥ ७२ ॥

द्विजातिपूजाभिरतो दाता ज्ञातिषु चार्जवी ।
क्षत्रियः शीलभाग् राजंश्चिरं पालयते महीम् ॥ ७३ ॥

राजन् ! ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजामें संलग्न रहनेवाला, दाता, कुटुम्बीजनोंके प्रति कोमलताका बर्ताव करनेवाला और शीलवान् राजा चिरकालतक पृथ्वीका पालन करता है ॥ ७३ ॥

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ७४ ॥

शूर, विद्वान् और सेवाधर्मको जाननेवाले—ये तीन प्रकारके मनुष्य पृथ्वीरूप लतासे सुवर्णरूपी पुष्पका संचय करते हैं ॥

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत ।
तानि जङ्घाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥ ७५ ॥

भारत ! बुद्धिसे विचारकर किये हुए कर्म श्रेष्ठ होते हैं, बाहुबलसे किये जानेवाले कर्म मध्यम श्रेणीके हैं, जङ्घासे किये जानेवाले कार्य अधम हैं और भार ढोनेका काम महान् अधम है ॥ ७५ ॥

दुर्योधनेऽथ शकुनौ मूढे दुःशासने तथा ।
कर्णे चैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥ ७६ ॥

राजन् ! अब आप दुर्योधन, शकुनि, मूर्ख दुःशासन तथा कर्णपर राज्यका भार रखकर उन्नति कैसे चाहते हैं ?॥

सर्वैर्गुणैरुपेतास्तु पाण्डवा भरतर्षभ ।
पितृवत् त्वयि वर्तन्ते तेषु वर्तस्व पुत्रवत् ॥ ७७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पाण्डव तो सभी उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हैं और आपमें पिताका-सा भाव रखकर बर्ताव करते हैं; आप भी उनपर पुत्रभाव रखकर उचित बर्ताव कीजिये ॥ ७७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके नीतिवाक्यविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

दत्तात्रेय और साध्य देवताओंके संवादका उल्लेख करके म..कुलीन लोगोंका लक्षण बतलाते हुए विदुरका धृतराष्ट्रको समझाना

विदुर उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
आत्रेयस्य च संवादं साध्यानां चेति नः श्रुतम् ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन् ! इस विषयमें लोग दत्तात्रेय और साध्यदेवताओंके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं; यह मेरा भी सुना हुआ है ॥ १ ॥

चरन्तं हंसरूपेण महर्षिं संशितव्रतम् ।
साध्या देवा महाप्राज्ञं पर्यपृच्छन्त वै पुरा ॥ २ ॥

प्राचीनकालकी बात है, उत्तम व्रतवाले महाबुद्धिमान् महर्षि दत्तात्रेयजी हंस (परमहंस) रूपसे विचर रहे थे; उस समय साध्यदेवताओंने उनसे पूछा॥ २ ॥

साध्या ऊचुः

साध्या देवा वयमेते महर्षे
दृष्ट्वा भवन्तं न शक्नुमोऽनुमातुम् ।
श्रुतेन धीरो बुद्धिमांस्त्वं मतो नः
काव्यां वाचं वक्तुमर्हस्युदाराम् ॥ ३ ॥

साध्य बोले—महर्षे ! हम सब लोग साध्यदेवता हैं, केवल आपको देखकर हम आपके विषयमें कुछ अनुमान नहीं कर सकते । हमें तो आप शास्त्रज्ञानसे युक्त, धीर एवं बुद्धिमान् जान पड़ते हैं; अतः हमलोगोंको अपनी विद्वत्तापूर्ण उदार वाणी सुनानेकी कृपा करें ॥ ३ ॥



हंस उवाच

एतत् कार्यममराः संश्रुतं मे
धृतिः शमः सत्यधर्मानुवृत्तिः।
ग्रन्थिं विनीय हृदयस्य सर्वं
प्रियाप्रिये चात्मसमं नयीत ॥ ४ ॥

परमहंसने कहा—साध्यदेवताओ ! मैंने सुना है कि धैर्य-धारण, मनोनिग्रह तथा सत्य-धर्मोंका पालन ही कर्तव्य है; इसके द्वारा पुरुषको चाहिये कि हृदयकी सारी गाँठ खोलकर प्रिय और अप्रियको अपने आत्माके समान समझे ॥ ४ ॥

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ ५ ॥

दूसरोंसे गाली सुनकर भी स्वयं उन्हें गाली न दे। (गालीको) सहन करनेवालेका रोका हुआ क्रोध ही गाली देनेवालेको जला डालता है और उसके पुण्यको भी ले लेता है ॥ ५ ॥

नाक्रोशी स्यान्नावमानी परस्य
मित्रद्रोही नोत नीचोपसेवी।
न चाभिमानी न च हीनवृत्तो
रूक्षां वाचं रुषतीं वर्जयीत ॥ ६ ॥

दूसरोंको न तो गाली दे और न उनका अपमान करे, मित्रोंसे द्रोह तथा नीच पुरुषोंकी सेवा न करे, सदाचारसे हीन एवं अभिमानी न हो, रूखी तथा रोषभरी वाणीका परित्याग करे ॥ ६ ॥

मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथासून्
रूक्षा वाचो निर्दहन्तीह पुंसाम्।
तस्माद् वाचमुषतीं रूक्षरूपां
धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ॥ ७ ॥

इस जगत्में रूखी बातें मनुष्योंके मर्मस्थान, हड्डी, हृदय तथा प्राणोंको दग्ध करती रहती हैं; इसलिये धर्मानुरागी पुरुष जलानेवाली रूखी बातोंका सदाके लिये परित्याग कर दे ॥ ७ ॥

अरुन्तुदं परुषं रूक्षवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान्।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वै वहन्तम्॥ ८ ॥

जिसकी वाणी रूखी और स्वभाव कठोर है, जो मर्मस्थानपर आघात करता और वाग्बाणोंसे मनुष्योंको पीड़ा पहुँचाता है, उसे ऐसा समझना चाहिये कि वह मनुष्योंमें महादरिद्र है और वह अपने मुखमें दरिद्रता अथवा मौतको बाँधे हुए ढो रहा है ॥ ८ ॥

परश्चेदेनमभिविध्येत बाणै-
र्भृशं सुतीक्ष्णैरनलार्कदीप्तैः।
स विध्यमानोऽप्यतिदह्यमानो
विद्यात् कविः सुकृतं मे दधाति ॥ ९ ॥

यदि दूसरा कोई इस मनुष्यको अग्नि और सूर्यके समान दग्ध करनेवाले अत्यन्त तीखे वाग्बाणोंसे बहुत चोट पहुँचावे तो वह विद्वान् पुरुष चोट खाकर अत्यन्त वेदना सहते हुए भी ऐसा समझे कि वह मेरे पुण्योंको पुष्ट कर रहा है ॥ ९ ॥

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव।
वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥ १० ॥

जैसे वस्त्र जिस रंगमें रँगा जाय, वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार यदि कोई सज्जन, असज्जन, तपस्वी अथवा चोरकी सेवा करता है तो वह उन्हींके वशमें हो जाता है—उसपर उन्हींका रंग चढ़ जाता है ॥ १० ॥

अतिवादं न प्रवदेन्न वादयेद्
योऽनाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत्।
हन्तुं च यो नेच्छति पापकं वै
तस्मै देवाः स्पृहयन्त्यागताय ॥ ११ ॥

जो स्वयं किसीके प्रति बुरी बात नहीं कहता, दूसरोंसे भी नहीं कहलाता, बिना मार खाये स्वयं न तो किसीको मारता है और न दूसरोंसे ही मरवाता है, मार खाकर भी अपराधीको जो मारना नहीं चाहता, (स्वर्गमें) देवता भी उसके आगमनकी बाट जोहते रहते हैं ॥ ११ ॥

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम्।
प्रियं वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं
धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥ १२ ॥

बोलनेसे न बोलना ही अच्छा बताया गया है, (यह वाणीकी प्रथम विशेषता है और यदि बोलना ही पड़े तो) सत्य बोलना वाणीकी दूसरी विशेषता है यानी मौनकी अपेक्षा भी अधिक लाभप्रद है। (सत्य और) प्रिय बोलना वाणीकी तीसरी विशेषता है। यदि सत्य और प्रियके साथ ही धर्मसम्मत भी कहा जाय, तो वह वचनकी चौथी विशेषता है। (इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है) ॥ १२ ॥

यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ॥ १३ ॥

मनुष्य जैसे लोगोंके साथ रहता है, जैसे लोगोंकी सेवा करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही हो जाता है ॥

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ १४ ॥

मनुष्य जिन-जिन विषयोंसे मनको हटाता जाता है, उन-उनसे उसकी मुक्ति होती जाती है; इस प्रकार यदि सब ओरसे निवृत्ति हो जाय तो उसे लेशमात्र दुःखका भी कभी अनुभव नहीं होता ॥ १४ ॥

न जीयते चानुजिगीषतेऽन्यान्
न वैरकृच्चाप्रतिघातकश्च ।
निन्दाप्रशंसासु समस्वभावो
न शोचते हृष्यति नैव चायम् ॥ १५ ॥

जो न तो स्वयं किसीसे जीता जाता, न दूसरोंको जीतनेकी इच्छा करता है, न किसीके साथ वैर करता और न दूसरोंको चोट पहुँचाना चाहता है, जो निन्दा और प्रशंसामें समानभाव रखता है, वह हर्ष-शोकसे परे हो जाता है ॥

भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः ।
सत्यवादी मृदुर्दान्तो यः स उत्तमपूरुषः ॥ १६ ॥

जो सबका कल्याण चाहता है, किसीके अकल्याणकी बात मनमें भी नहीं लाता, जो सत्यवादी, कोमल और जितेन्द्रिय है, वह उत्तम पुरुष माना गया है ॥ १६ ॥

नानर्थकं सान्त्वयति प्रतिज्ञाय ददाति च ।
रन्ध्रं परस्य जानाति यः स मध्यमपूरुषः ॥ १७ ॥

जो झूठी सान्त्वना नहीं देता, देनेकी प्रतिज्ञा करके दे ही देता है, दूसरोंके दोषोंको जानता है, वह मध्यम श्रेणीका पुरुष है ॥ १७ ॥

दुःशासनस्तूपहतोऽभिशस्तो
नावर्तते मन्युवशात् कृतघ्नः ।
न कस्यचिन्मित्रमथो दुरात्मा
कलाश्चैता अधमस्येह पुंसः ॥ १८ ॥

जिसका शासन अत्यन्त कठोर हो, जो अनेक दोषोंसे दूषित हो, कलङ्कित हो, जो क्रोधवश किसीकी बुराई करनेसे नहीं हटता हो, दूसरोंके किये हुए उपकारको नहीं मानता हो, जिसकी किसीके साथ मित्रता नहीं हो तथा जो दुरात्मा हो—ये अधम पुरुषके भेद हैं ॥ १८ ॥

न श्रद्दधाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्मशङ्कितः ।
निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपूरुषः ॥ १९ ॥

जो अपने ही ऊपर संदेह होनेके कारण दूसरोंसे भी कल्याण होनेका विश्वास नहीं करता, मित्रोंको भी दूर रखता है, वह अवश्य ही अधम पुरुष है ॥ १९ ॥

उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान् ।
अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ २० ॥

जो अपनी ऐश्वर्यवृद्धि चाहता है, वह उत्तम पुरुषोंकी ही सेवा करे, समय आ पड़नेपर मध्यम पुरुषोंकी भी सेवा कर ले, परंतु अधम पुरुषोंकी सेवा कदापि न करे ॥ २० ॥

प्राप्नोति वै वित्तमसद्बलेन
नित्योत्थानात् प्रज्ञया पौरुषेण ।
न त्वेव सम्यग् लभते प्रशंसां
न वृत्तमाप्नोति महाकुलानाम् ॥ २१ ॥

मनुष्य दुष्ट पुरुषोंके बलसे, निरन्तरके उद्योगसे, बुद्धिसे तथा पुरुषार्थसे धन भले ही प्राप्त कर ले; परंतु इससे उत्तम कुलीन पुरुषोंके सम्मान और सदाचारको वह पूर्णरूपसे कदापि नहीं प्राप्त कर सकता ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

महाकुलेभ्यः स्पृहयन्ति देवा
धर्मार्थनित्याश्च बहुश्रुताश्च ।
पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं
भवन्ति वै कानि महाकुलानि ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! धर्म और अर्थके अनुष्ठानमें परायण एवं बहुश्रुत देवता भी उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुषोंकी इच्छा करते हैं । इसलिये मैं तुमसे यह प्रश्न करता हूँ कि महान् (उत्तम) कुलीन कौन हैं ? ॥ २२ ॥

विदुर उवाच

तपो दमो ब्रह्मवित्तं वितानाः
पुण्या विवाहाः सततान्नदानम् ।
येष्वेवैते सप्त गुणा वसन्ति
सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि ॥ २३ ॥

विदुरजी बोले—राजन्! जिनमें तप, इन्द्रियसंयम, वेदोंका स्वाध्याय, यज्ञ, पवित्र विवाह, सदा अन्नदान और सदाचार-ये सात गुण वर्तमान हैं, उन्हें महान् (उत्तम) कुलीन कहते हैं ॥

येषां हि वृत्तं व्यथते न योनि-
श्चित्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम् ।
ते कीर्तिमिच्छन्ति कुले विशिष्टां
त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि ॥ २४ ॥

जिनका सदाचार शिथिल नहीं होता, जो अपने दोषोंसे माता-पिताको कष्ट नहीं पहुँचाते, प्रसन्न चित्तसे धर्मका आचरण करते हैं तथा असत्यका परित्याग कर अपने कुलकी विशेष कीर्ति चाहते हैं, वे ही महान् कुलीन हैं ॥ २४ ॥

अनिज्यया कुविवाहैर्वेदस्योत्सादनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमेण च ॥ २५ ॥

यज्ञ न होनेसे, निन्दित कुलमें विवाह करनेसे, वेदका त्याग और धर्मका उल्लङ्घन करनेसे उत्तम कुल भी अधम हो जाते हैं ॥ २५ ॥

देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ २६ ॥

देवताओंके धनका नाश, ब्राह्मणके धनका अपहरण और ब्राह्मणोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन करनेसे उत्तम कुल भी अधम हो जाते हैं ॥ २६ ॥

ब्राह्मणानां परिभवात् परिवादाच्च भारत।
कुलान्यकुलतां यान्ति न्यासापहरणेन च ॥ २७ ॥

भारत! ब्राह्मणोंके अनादर और निन्दासे तथा धरोहर रक्खी हुई वस्तुको छिपा लेनेसे अच्छे कुल भी निन्दनीय हो जाते हैं ॥ २७ ॥

कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः।
कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ २८ ॥

गौओं, मनुष्यों और धनसे सम्पन्न होकर भी जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे अच्छे कुलोंकी गणनामें नहीं आ सकते ॥ २८ ॥

वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः ॥ २९ ॥

थोड़े धनवाले कुल भी यदि सदाचारसे सम्पन्न हैं तो वे अच्छे कुलोंकी गणनामें आ जाते हैं और महान् यश प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ ३० ॥

सदाचारकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये; धन तो आता और जाता रहता है। धन क्षीण हो जानेपर भी सदाचारी मनुष्य क्षीण नहीं माना जाता; किंतु जो सदाचारसे भ्रष्ट हो गया, उसे तो नष्ट ही समझना चाहिये ॥ ३० ॥

गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया।
कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ ३१ ॥

जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे गौओं, पशुओं, घोड़ों तथा हरी-भरी खेतीसे सम्पन्न होनेपर भी उन्नति नहीं कर पाते ॥ ३१ ॥

मा नः कुले वैरकृत् कश्चिदस्तु
राजामात्यो मा परस्वापहारी।
मित्रद्रोही नैकृतिकोऽनृती वा
पूर्वाशी वा पितृदेवातिथिभ्यः ॥ ३२ ॥

हमारे कुलमें कोई वैर करनेवाला न हो, दूसरोंके धनका अपहरण करनेवाला राजा अथवा मन्त्री न हो और मित्रद्रोही, कपटी तथा असत्यवादी न हो। इसी प्रकार माता-पिता, देवता एवं अतिथियोंको भोजन करानेसे पहले भोजन करनेवाला भी न हो ॥ ३२ ॥

यश्च नो ब्राह्मणान् हन्याद् यश्च नो ब्राह्मणान् द्विषेत्।
न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत् पितॄन् ॥ ३३ ॥

हमलोगोंमेंसे जो ब्राह्मणोंकी हत्या करे, ब्राह्मणोंके साथ द्वेष करे तथा पितरोंको पिण्डदान एवं तर्पण न करे, वह हमारी सभामें न प्रवेश करे ॥ ३३ ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ३४ ॥

तृणका आसन, पृथ्वी, जल और चौथी मीठी वाणी—सज्जनोंके घरमें इन चार चीजोंकी कभी कमी नहीं होती ॥ ३४ ॥

श्रद्धया परया राजन्नुपनीतानि सत्कृतिम्।
प्रवृत्तानि महाप्राज्ञ धर्मिणां पुण्यकर्मिणाम् ॥ ३५ ॥

महाप्राज्ञ राजन्! पुण्यकर्म करनेवाले धर्मात्मा पुरुषोंके यहाँ ये (उपर्युक्त वस्तुएँ) बड़ी श्रद्धाके साथ सत्कारके लिये उपस्थित की जाती हैं ॥ ३५ ॥

सूक्ष्मोऽपि भारं नृपते स्यन्दनो वै
शक्तो वोढुं न तथान्ये महीजाः।
एवं युक्ता भारसहा भवन्ति
महाकुलीना न तथान्ये मनुष्याः ॥ ३६ ॥

नृपवर! रथ छोटा-सा होनेपर भी भार ढो सकता है, किंतु दूसरे काठ बड़े-बड़े होनेपर भी ऐसा नहीं कर सकते। इसी प्रकार उत्तम कुलमें उत्पन्न उत्साही पुरुष भार सह सकते हैं, दूसरे मनुष्य वैसे नहीं होते ॥ ३६ ॥

न तन्मित्रं यस्य कोपाद् बिभेति
यद् वा मित्रं शङ्कितेनोपचर्यम्।
यस्मिन् मित्रे पितरीवाश्वसीत
तद् वै मित्रं सङ्गतानीतराणि ॥ ३७ ॥

जिसके कोपसे भयभीत होना पड़े तथा शङ्कित होकर जिसकी सेवा की जाय, वह मित्र नहीं है। मित्र तो वही है, जिसपर पिताकी भाँति विश्वास किया जा सके; दूसरे तो साथीमात्र हैं ॥ ३७ ॥

यः कश्चिदप्यसम्बद्धो मित्रभावेन वर्तते।
स एव बन्धुस्तन्मित्रं सा गतिस्तत् परायणम् ॥ ३८ ॥

पहलेसे कोई सम्बन्ध न होनेपर भी जो मित्रताका बर्ताव करे, वही बन्धु, वही मित्र, वही सहारा और वही आश्रय है ॥ ३८ ॥

चलचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेवतः।
पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसंग्रहः ॥ ३९ ॥

जिसका चित्त चञ्चल है, जो वृद्धोंकी सेवा नहीं करता, उस अनिश्चितमति पुरुषके लिये मित्रोंका संग्रह स्थायी नहीं होता ॥ ३९ ॥

चलचित्तमनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम्।
अर्थाः समभिवर्तन्ते हंसाः शुष्कं सरो यथा ॥ ४० ॥

जैसे सूखे सरोवरके ऊपर ही हंस मँड़राकर रह जाते हैं, उसके भीतर नहीं प्रवेश करते, उसी प्रकार जिसका चित्त चञ्चल है, जो अज्ञानी और इन्द्रियोंका गुलाम है, अर्थ उसको त्याग देते हैं ॥ ४० ॥

अकस्मादेव कुप्यन्ति प्रसीदन्त्यनिमित्ततः।
शीलमेतदसाधूनामभ्रं पारिप्लवं यथा ॥ ४१ ॥

दुष्ट पुरुषोंका स्वभाव मेघके समान चञ्चल होता है, वे सहसा क्रोध कर बैठते हैं और अकारण ही प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान् नोपभुञ्जते ॥ ४२ ॥

जो मित्रोंसे सत्कार पाकर और उनकी सहायतासे कृतकार्य होकर भी उनके नहीं होते, ऐसे कृतघ्नोंके मरनेपर उनका मांस मांसभोजी जन्तु भी नहीं खाते ॥ ४२ ॥

अर्चयेदेव मित्राणि सति वासति वा धने।
नानर्थयन् प्रजानाति मित्राणां सारफल्गुताम् ॥ ४३ ॥

धन हो या न हो, मित्रोंसे कुछ भी न माँगते हुए उनका सत्कार तो करे ही। मित्रोंके सार-असारकी परीक्षा न करे ॥ ४३ ॥

संतापाद् भ्रश्यते रूपं संतापाद् भ्रश्यते बलम्।
संतापाद् भ्रश्यते ज्ञानं संतापाद् व्याधिमृच्छति ॥ ४४ ॥

संताप (शोक) से रूप नष्ट होता है, संतापसे बल नष्ट होता है, संतापसे ज्ञान नष्ट होता है और संतापसे मनुष्य रोगको प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

अनवाप्यं च शोकेन शरीरं चोपतप्यते।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति मा स्म शोके मनः कृथाः ॥ ४५ ॥

अभीष्ट वस्तु शोक करनेसे नहीं मिलती; उससे तो केवल शरीर संतप्त होता है और शत्रु प्रसन्न होते हैं। इसलिये आप मनमें शोक न करें ॥ ४५ ॥

पुनर्नरो म्रियते जायते च
पुनर्नरो हीयते वर्धते च।
पुनर्नरो याचति याच्यते च
पुनर्नरः शोचति शोच्यते च ॥ ४६ ॥

मनुष्य बार-बार मरता और जन्म लेता है, बार-बार क्षय और वृद्धिको प्राप्त होता है, बार-बार स्वयं दूसरेसे याचना करता है और दूसरे उससे याचना करते हैं तथा बारंबार वह दूसरोंके लिये शोक करता है और दूसरे उसके लिये शोक करते हैं ॥ ४६ ॥

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति
तस्माद् धीरो न च हृष्येन्न शोचेत् ॥ ४७ ॥

सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण--ये क्रमशः सबको प्राप्त होते रहते हैं; इसलिये धीर पुरुषको इनके लिये हर्ष और शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४७ ॥

चलानि हीमानि षडिन्द्रियाणि
तेषां यद् यद् वर्धते यत्र यत्र।
ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य
छिद्रोदकुम्भादिव नित्यमम्भः ॥ ४८ ॥

ये छः इन्द्रियाँ बहुत ही चञ्चल हैं; इनमेंसे जो-जो इन्द्रिय जिस-जिस विषयकी ओर बढ़ती है, वहाँ-वहाँ बुद्धि उसी प्रकार क्षीण होती है, जैसे फूटे घड़ेसे पानी सदा चू जाता है ॥ ४८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति ॥ ४९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! सूक्ष्म धर्मसे बँधे हुए, शिखासे सुशोभित होनेवाले राजा युधिष्ठिरके साथ मैंने मिथ्या व्यवहार किया है; अतः वे युद्ध करके मेरे मूर्ख पुत्रोंका नाश कर डालेंगे ॥ ४९ ॥

नित्योद्विग्नमिदं सर्वं नित्योद्विग्नमिदं मनः।
यत् तत् पदमनुद्विग्नं तन्मे वद महामते ॥ ५० ॥

महामते ! यह सब कुछ सदा ही भयसे उद्विग्न है, मेरा यह मन भी भयसे उद्विग्न है; इसलिये जो उद्वेगशून्य और शान्त पद (मार्ग) हो, वही मुझे बताओ ॥ ५० ॥

विदुर उवाच

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र लोभसंत्यागाच्छान्तिं पश्यामि तेऽनघ ॥ ५१ ॥

विदुरजी बोले—पापशून्य नरेश ! विद्या, तप, इन्द्रिय-निग्रह और लोभत्यागके सिवा और कोई आपके लिये शान्तिका उपाय मैं नहीं देखता ॥ ५१ ॥

बुद्ध्या भयं प्रणुदति तपसा विन्दते महत्।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति ॥ ५२ ॥

बुद्धिसे मनुष्य अपने भयको दूर करता है, तपस्यासे महत्पदको प्राप्त होता है, गुरुशुश्रूषासे ज्ञान और योगसे शान्ति पाता है ॥ ५२ ॥

अनाश्रिता दानपुण्यं वेदपुण्यमनाश्रिताः।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरन्तीह मोक्षिणः ॥ ५३ ॥

मोक्षकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य दानके पुण्यका आश्रय नहीं लेते, वेदके पुण्यका भी आश्रय नहीं लेते; किंतु निष्कामभावसे राग-द्वेषसे रहित हो इस लोकमें विचरते रहते हैं ॥ ५३ ॥

स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः।
तपसश्च सुतप्तस्य तस्यान्ते सुखमेधते ॥ ५४ ॥

सम्यक् अध्ययन, न्यायोचित युद्ध, पुण्यकर्म और अच्छी तरह की हुई तपस्याके अन्तमें सुखकी वृद्धि होती है ॥५४॥

स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना
न वै भिन्ना जातु निद्रां लभन्ते।
न स्त्रीषु राजन् रतिमाप्नुवन्ति
न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः ॥ ५५ ॥

राजन्! आपसमें फूट रखनेवाले लोग अच्छे बिछौनोंसे युक्त पलंग पाकर भी कभी सुखकी नींद नहीं सोने पाते; उन्हें स्त्रियोंके पास रहकर तथा सूत-मागधोंद्वारा की हुई स्तुति सुनकर भी प्रसन्नता नहीं होती ॥ ५५ ॥

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं
न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति
न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥ ५६ ॥

जो परस्पर भेदभाव रखते हैं, वे कभी धर्मका आचरण नहीं करते। वे सुख भी नहीं पाते। उन्हें गौरव नहीं प्राप्त होता तथा उन्हें शान्तिकी वार्ता भी नहीं सुहाती ॥ ५६ ॥

न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं
योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम्।
भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं
न विद्यते किंचिदन्यद् विनाशात् ॥५७॥

हितकी बात भी कही जाय तो उन्हें अच्छी नहीं लगती। उनके योगक्षेमकी भी सिद्धि नहीं हो पाती। राजन्! भेदभाववाले पुरुषोंकी विनाशके सिवा और कोई गति नहीं है ॥५७॥

सम्पन्नं गोषु सम्भाव्यं सम्भाव्यं ब्राह्मणे तपः।
सम्भाव्यं चापलं स्त्रीषु सम्भाव्यं ज्ञातितो भयम् ॥५८॥

जैसे गौओंमें दूध, ब्राह्मणमें तप और युवती स्त्रियोंमें चञ्चलताका होना अधिक सम्भव है, उसी प्रकार अपने जातिबन्धुओंसे भय होना भी सम्भव ही है ॥ ५८ ॥

तन्तवः प्यायिता नित्यं तनवो बहुलाः समाः।
बहून् बहुत्वादायासान् सहन्तीत्युपमा सताम् ॥ ५९ ॥

नित्य सींचकर बढ़ायी हुई पतली लताएँ बहुत होनेके कारण बहुत वर्षोंतक नाना प्रकारके झोंके सहती हैं; यही बात सत्पुरुषोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। (वे दुर्बल होनेपर भी सामूहिक शक्तिसे बलवान् हो जाते हैं) ॥ ५९ ॥

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥ ६० ॥

भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्र! जलती हुई लकड़ियाँ अलग-अलग होनेपर धुआँ फेंकती हैं और एक साथ होनेपर प्रज्वलित हो उठती हैं। इसी प्रकार जातिबन्धु भी (आपसमें) फूट होनेपर दुःख उठाते और एकता होनेपर सुखी रहते हैं ॥ ६० ॥

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥ ६१ ॥

धृतराष्ट्र! जो लोग ब्राह्मणों, स्त्रियों, जातिवालों और गौओंपर ही शूरता प्रकट करते हैं, वे डंठलसे पके हुए फलोंकी भाँति नीचे गिरते हैं ॥ ६१ ॥

महानप्येकजो वृक्षो बलवान् सुप्रतिष्ठितः।
प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितुं क्षणात् ॥ ६२ ॥

यदि वृक्ष अकेला है तो वह बलवान्, दृढ़मूल तथा बहुत बड़ा होनेपर भी एक ही क्षणमें आँधीके द्वारा बलपूर्वक शाखाओंसहित धराशायी किया जा सकता है ॥ ६२ ॥

अथ ये सहिता वृक्षाः सङ्घशः सुप्रतिष्ठिताः।
ते हि शीघ्रतमान् वातान् सहन्तेऽन्योन्यसंश्रयात् ॥ ६३ ॥

किंतु जो बहुत-से वृक्ष एक साथ रहकर समूहके रूपमें खड़े हैं, वे एक-दूसरेके सहारे बड़ी-से-बड़ी आँधीको भी सह सकते हैं ॥ ६३ ॥

एवं मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम्।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते वायुर्द्रुममिवैकजम् ॥ ६४ ॥

इसी प्रकार समस्त गुणोंसे सम्पन्न मनुष्यको भी अकेले होनेपर शत्रु अपनी शक्तिके अंदर समझते हैं, जैसे अकेले वृक्षको वायु ॥ ६४ ॥

अन्योन्यसमुपष्टम्भादन्योन्यापाश्रयेण च।
ज्ञातयः सम्प्रवर्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत ॥ ६५ ॥

किंतु परस्पर मेल होनेसे और एकसे दूसरेको सहारा मिलनेसे जातिवाले लोग इस प्रकार वृद्धिको प्राप्त होते हैं, जैसे तालाबमें कमल ॥ ६५ ॥

अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः।
येषां चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः॥ ६६ ॥

ब्राह्मण, गौ, कुटुम्बी, बालक, स्त्री, अन्नदाता और शरणागत—ये अवध्य होते हैं ॥ ६६ ॥

न मनुष्ये गुणः कश्चिद् राजन् सधनतामृते।
अनातुरत्वाद् भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः ॥ ६७ ॥

राजन्! आपका कल्याण हो, मनुष्यमें धन और आरोग्यको छोड़कर दूसरा कोई गुण नहीं है; क्योंकि रोगी तो मुर्देके समान है ॥ ६७ ॥

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि
पापानुबन्धं परुषं तीक्ष्णमुष्णम्।

सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ ६८ ॥

महाराज ! जो विना रोगके उत्पन्न, कड़वा, सिरमें दर्द पैदा करनेवाला, पापसे सम्बद्ध, कठोर, तीखा और गरम है, जो सज्जनोंद्वारा पान करने योग्य है और जिसे दुर्जन नहीं पी सकते—उस क्रोधको आप पी जाइये और शान्त होइये ॥

रोगार्दिता न फलान्याद्रियन्ते
न वै लभन्ते विषयेषु तत्त्वम् ।
दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव
न बुध्यन्ते धनभोगान् न सौख्यम् ॥ ६९ ॥

रोगसे पीड़ित मनुष्य मधुर फलोंका आदर नहीं करते, विषयोंमें भी उन्हें कुछ सुख या सार नहीं मिलता। रोगी सदा ही दुखी रहते हैं; वे न तो धनसम्बन्धी भोगोंका और न सुखका ही अनुभव करते हैं ॥ ६९ ॥

पुरा ह्युक्तं नाकरोस्त्वं वचो मे
द्यूते जितां द्रौपदीं प्रेक्ष्य राजन् ।
दुर्योधनं वारयेत्यक्षवत्यां
कितवत्वं पण्डिता वर्जयन्ति ॥ ७० ॥

राजन् ! पहले जूएमें द्रौपदीको जीती गयी देखकर मैंने आपसे कहा था—'आप द्यूतक्रीडामें आसक्त दुर्योधनको रोकिये, विद्वान्‌लोग इस प्रवञ्चनाके लिये मना करते हैं।' किंतु आपने मेरा कहना नहीं माना ॥ ७० ॥

न तद् बलं यन्मृदुना विरुध्यते
सूक्ष्मो धर्मस्तरसा सेवितव्यः ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्री-
र्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ ७१ ॥

वह बल नहीं, जिसका मृदुल स्वभावके साथ विरोध हो; सूक्ष्म धर्मका शीघ्र ही सेवन करना चाहिये। क्रूरतापूर्वक उपार्जित लक्ष्मी नश्वर होती है, यदि वह मृदुलतापूर्वक बढ़ायी गयी हो तो पुत्र-पौत्रोंतक स्थिर रहती है ॥ ७१ ॥

धार्तराष्ट्राः पाण्डवान् पालयन्तु
पाण्डोः सुतास्तव पुत्रांश्च पान्तु ।
एकारिमित्राः कुरवो ह्येककार्या
जीवन्तु राजन् सुखिनः समृद्धाः ॥ ७२ ॥

राजन् ! आपके पुत्र पाण्डवोंकी रक्षा करें और पाण्डुके पुत्र आपके पुत्रोंकी रक्षा करें। सभी कौरव एक-दूसरेके शत्रुको शत्रु और मित्रको मित्र समझें। सबका एक ही कर्तव्य हो, सभी सुखी और समृद्धिशाली होकर जीवन व्यतीत करें ॥ ७२ ॥

मेढीभूतः कौरवाणां त्वमद्य
त्वय्याधीनं कुरुकुलमाजमीढ ।
पार्थान् बालान् वनवासप्रतप्तान्
गोपायस्व स्वं यशस्तात रक्षन् ॥ ७३ ॥

अजमीढकुलनन्दन ! इस समय आप ही कौरवोंके आधारस्तम्भ हैं, कुरुवंश आपके ही अधीन है। तात ! कुन्तीके पुत्र अभी बालक हैं और वनवाससे बहुत कष्ट पा चुके हैं; इस समय उनका पालन करके अपने यशकी रक्षा कीजिये ॥ ७३ ॥

संधत्स्व त्वं कौरव पाण्डुपुत्रै-
र्मा तेऽन्तरं रिपवः प्रार्थयन्तु ।
सत्ये स्थितास्ते नरदेव सर्वे
दुर्योधनं स्थापय त्वं नरेन्द्र ॥ ७४ ॥

कुरुराज ! आप पाण्डवोंसे संधि कर लें, जिससे शत्रुओंको आपका छिद्र देखनेका अवसर न मिले। नरदेव ! समस्त पाण्डव सत्यपर डटे हुए हैं; अब आप अपने पुत्र दुर्योधनको रोकिये ॥ ७४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके हितवाक्यविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीका हितोपदेश

विदुर उवाच

सप्तदशेमान् राजेन्द्र मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
वैचित्रवीर्य पुरुषानाकाशं मुष्टिभिर्घ्नतः ॥ १ ॥
दानवेन्द्रस्य च धनुरनाम्यं नमतोऽब्रवीत् ।
अथो मरीचिनः पादानग्राह्यान् गृह्णतस्तथा ॥ २ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजेन्द्र ! विचित्रवीर्यनन्दन ! स्वायम्भुव मनुने इन सत्रह प्रकारके पुरुषोंको आकाशपर मुक्कोंसे प्रहार करनेवाले, न झुकाये जा सकनेवाले, वर्षाकालीन इन्द्रधनुषको झुकानेकी चेष्टा करनेवाले तथा पकड़में न आनेवाली सूर्यकी किरणोंको पकड़नेका प्रयास करनेवाले

बतलाया है (अर्थात् इनके सभी उद्यमोंको निष्फल कहा है) ॥ १-२ ॥

यश्चाशिष्यं शास्ति वै यश्च तुष्येद्
यश्चातिवेलं भजते द्विषन्तम्।
स्त्रियश्च यो रक्षति भद्रमश्नुते
यश्चायाच्यं याचते कत्थते च ॥ ३ ॥
यश्चाभिजातः प्रकरोत्यकार्यं
यश्चाबलो बलिना नित्यवैरी।
अश्रद्दधानाय च यो ब्रवीति
यश्चाकाम्यं कामयते नरेन्द्र ॥ ४ ॥
वध्वावहासं श्वशुरो मन्यते यो
वध्वा वसन्नभयो मानकामः।
परक्षेत्रे निर्वपति स्वबीजं
स्त्रियं च यः परिवदतेऽतिवेलम् ॥ ५ ॥
यश्चापि लब्ध्वा न स्मरामीति वादी
दत्त्वा च यः कत्थति याच्यमानः।
यश्चासतः सत्त्वमुपानयीत
एतान् नयन्ति निरयं पाशहस्ताः॥ ६ ॥

पाश हाथमें लिये यमराजके दूत इन सत्रह पुरुषोंको नरकमें ले जाते हैं, जो शासनके अयोग्य पुरुषपर शासन करता है, मर्यादाका उल्लङ्घन करके संतुष्ट होता है, शत्रुकी सेवा करता है, रक्षणके अयोग्य स्त्रीकी रक्षा करनेका प्रयत्न करता तथा उसके द्वारा अपने कल्याणका अनुभव करता है, याचना करनेके अयोग्य पुरुषसे याचना करता है तथा आत्मप्रशंसा करता है, अच्छे कुलमें उत्पन्न होकर भी नीच कर्म करता है, दुर्बल होकर भी सदा बलवान्से वैर रखता है, श्रद्धाहीनको उपदेश करता है, न चाहने योग्य (शास्त्रनिषिद्ध) वस्तुको चाहता है, श्वशुर होकर पुत्रवधूके साथ परिहास पसंद करता है तथा पुत्रवधूसे एकान्तवास करके भी निर्भय होकर समाजमें अपनी प्रतिष्ठा चाहता है, परस्त्रीमें अपने वीर्यका आधान करता है, मर्यादाके बाहर स्त्रीकी निन्दा करता है, किसीसे कोई वस्तु पाकर भी 'याद नहीं है', ऐसा कहकर उसे दबाना चाहता है, माँगनेपर दान देकर उसके लिये अपनी श्लाघा करता है और झूठको सही साबित करनेका प्रयास करता है ॥ ३–६ ॥

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य-
स्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥ ७ ॥

जो मनुष्य अपने साथ जैसा बर्ताव करे, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये—यही नीतिधर्म है। कपटका आचरण करनेवालेके साथ कपटपूर्ण बर्ताव करे और अच्छा बर्ताव करनेवालेके साथ साधुभावसे ही बर्ताव करना चाहिये ॥ ७ ॥

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया।
कामो ह्रियं वृत्तमनार्यसेवा
क्रोधः श्रियं सर्वमेवाभिमानः ॥ ८ ॥

बुढ़ापा रूपका, आशा धैर्यका, मृत्यु प्राणोंका, दूसरोंके गुणोंमें दोषदृष्टि धर्माचरणका, काम लज्जाका, नीच पुरुषोंकी सेवा सदाचारका, क्रोध लक्ष्मीका और अभिमान सर्वस्वका ही नाश कर देता है ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा।
नाप्नोत्यथ च तत् सर्वमायुः केनेह हेतुना ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! जब सभी वेदोंमें पुरुषको सौ वर्षकी आयुवाला बताया गया है, तब वह किस कारणसे अपनी पूर्ण आयुको नहीं पाता ? ॥ ९ ॥

विदुर उवाच

अतिमानोऽतिवादश्च तथात्यागो नराधिप।
क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट्॥ १० ॥
एत एवासयस्तीक्ष्णा कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम्।
एतानि मानवान् घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ॥ ११ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! आपका कल्याण हो। अत्यन्त अभिमान, अधिक बोलना, त्यागका अभाव, क्रोध, अपना ही पेट पालनेकी चिन्ता और मित्रद्रोह—ये छः तीखी तलवारें देहधारियोंकी आयुको काटती हैं। ये ही मनुष्योंका वध करती हैं, मृत्यु नहीं ॥ १०-११ ॥

विश्वस्तस्यैति यो दारान् यश्चापि गुरुतल्पगः।
वृषलीपतिर्द्विजो यश्च पानपश्चैव भारत ॥ १२ ॥
आदेशकृद् वृत्तिहन्ता द्विजानां प्रेषकश्च यः।
शरणागतहा चैव सर्वे ब्रह्महणः समाः।
एतैः समेत्य कर्तव्यं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः ॥ १३ ॥

भारत ! जो अपने ऊपर विश्वास करनेवाले पुरुषकी स्त्रीके साथ समागम करता है, जो गुरुस्त्रीगामी है, ब्राह्मण होकर शूद्रा स्त्रीके साथ विवाह करता है, शराब पीता है तथा जो ब्राह्मणपर आदेश चलानेवाला, ब्राह्मणोंकी जीविका नष्ट करनेवाला, ब्राह्मणोंको सेवाकार्यके लिये इधर-उधर भेजनेवाला और शरणागतकी हिंसा करनेवाला है—ये सबके सब ब्रह्महत्यारेके समान हैं; इनका सङ्ग हो जानेपर प्रायश्चित्त करे—यह वेदोंकी आज्ञा है ॥ १२-१३ ॥

गृहीतवाक्यो नयविद् वदान्यः
शेषान्नभोक्ता ह्यविहिंसकश्च।
नानर्थकृत्याकुलितः कृतज्ञः
सत्यो मृदुः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ १४ ॥

बड़ोंकी आज्ञा माननेवाला, नीतिज्ञ, दाता, यज्ञशेष अन्नका भोजन करनेवाला, हिंसारहित, अनर्थपूर्ण कार्योंसे दूर रहनेवाला, कृतज्ञ, सत्यवादी और कोमल स्वभाववाला विद्वान् स्वर्गगामी होता है ॥ १४ ॥

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ १५ ॥

राजन् ! सदा प्रिय वचन बोलनेवाले मनुष्य तो सहजमें ही मिल सकते हैं; किंतु जो अप्रिय होता हुआ हितकारी हो, ऐसे वचनके वक्ता और श्रोता दोनों ही दुर्लभ हैं ॥ १५ ॥

यो हि धर्मं समाश्रित्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥१६॥

जो धर्मका आश्रय लेकर तथा स्वामीको प्रिय लगेगा या अप्रिय—इसका विचार छोड़कर अप्रिय होनेपर भी हितकी बात कहता है, उसीसे राजाको सच्ची सहायता मिलती है ॥ १६ ॥

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥१७॥

कुलकी रक्षाके लिये एक मनुष्यका, ग्रामकी रक्षाके लिये कुलका, देशकी रक्षाके लिये गाँवका और आत्माके कल्याणके लिये सारी पृथ्वीका त्याग कर देना चाहिये ॥

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥१८॥

आपत्तिके लिये धनकी रक्षा करे, धनके द्वारा भी स्त्रीकी रक्षा करे और स्त्री एवं धन दोनोंके द्वारा सदा अपनी रक्षा करे ॥ १८ ॥

द्यूतमेतत् पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम् ।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥१९॥

पूर्वकालमें जूआ खेलना मनुष्योंमें वैर डालनेका कारण देखा गया है; अतः बुद्धिमान् मनुष्य हँसीके लिये भी जूआ न खेले ॥ १९ ॥

उक्तं मया द्यूतकालेऽपि राजन्
नेदं युक्तं वचनं प्रातिपेय ।
तदौषधं पथ्यमिवातुरस्य
न रोचते तव वैचित्रवीर्य ॥२०॥

प्रतीपनन्दन ! विचित्रवीर्यकुमार ! राजन् ! मैंने जूएका खेल आरम्भ होते समय भी कहा था कि यह ठीक नहीं है, किंतु रोगीको जैसे दवा और पथ्य अच्छे नहीं लगते, उसी तरह मेरी वह बात भी आपको अच्छी नहीं लगी ॥

काकैरिमांश्चित्रबर्हान् मयूरान्
पराजयेथाः पाण्डवान् धार्तराष्ट्रैः ।
हित्वा सिंहान् क्रोष्टुकान् गूहमानः
प्राप्ते काले शोचिता त्वं नरेन्द्र ॥२१॥

नरेन्द्र ! आप कौओंके समान अपने पुत्रोंके द्वारा विचित्र पंखवाले मोरोंके सदृश पाण्डवोंको पराजित करनेका प्रयत्न कर रहे हैं; सिंहोंको छोड़कर सियारोंकी रक्षा कर रहे हैं; समय आनेपर आपको इसके लिये पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ २१ ॥

यस्तात न क्रुध्यति सर्वकालं
भृत्यस्य भक्तस्य हिते रतस्य ।
तस्मिन् भृत्या भर्तरि विश्वसन्ति
न चैनमापत्सु परित्यजन्ति ॥२२॥

तात ! जो स्वामी सदा हितसाधनमें लगे रहनेवाले अपने भक्त सेवकपर कभी क्रोध नहीं करता, उसपर भृत्यगण विश्वास करते हैं और उसे आपत्तिके समय भी नहीं छोड़ते ॥ २२ ॥

न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन
राज्यं धनं संजिघृक्षेदपूर्वम् ।
त्यजन्ति ह्येनं वञ्चिता वै विरुद्धाः
स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः ॥२३॥

सेवकोंकी जीविका बंद करके दूसरोंके राज्य और धनके अपहरणका प्रयत्न नहीं करना चाहिये; क्योंकि अपनी जीविका छिन जानेसे भोगोंसे वञ्चित होकर पहलेके प्रेमी मन्त्री भी उस समय विरोधी बन जाते हैं और राजाका परित्याग कर देते हैं ॥ २३ ॥

कृत्यानि पूर्वं परिसंख्याय सर्वा-
ण्यायव्यये चानुरूपां च वृत्तिम् ।
संगृह्णीयादनुरूपान् सहायान्
सहायसाध्यानि हि दुष्कराणि ॥२४॥

पहले कर्तव्य एवं आय-व्यय और उचित वेतन आदिका निश्चय करके फिर सुयोग्य सहायकोंका संग्रह करे, क्योंकि कठिनसे कठिन कार्य भी सहायकोंद्वारा साध्य होते हैं ॥२४॥

अभिप्रायं यो विदित्वा तु भर्तुः
सर्वाणि कार्याणि करोत्यतन्द्री ।
वक्ता हितानामनुरक्त आर्यः
शक्तिज्ञ आत्मेव हि सोऽनुकम्प्यः ॥२५॥

जो सेवक स्वामीके अभिप्रायको समझकर आलस्यरहित हो समस्त कार्योंको पूरा करता है, जो हितकी बात कहनेवाला, स्वामिभक्त, सज्जन और राजाकी शक्तिको जाननेवाला है, उसे अपने समान समझकर उसपर कृपा करनी चाहिये॥२५॥

वाक्यं तु यो नाद्रियतेऽनुशिष्टः
प्रत्याह यश्चापि नियुज्यमानः ।
प्रज्ञाभिमानी प्रतिकूलवादी
त्याज्यः स तादृक् त्वरयैव भृत्यः ॥२६॥

जो सेवक स्वामीके आज्ञा देनेपर उनकी बातका आदर नहीं करता, किसी काममें लगाये जानेपर अस्वीकार कर देता है, अपनी बुद्धिपर गर्व करने और प्रतिकूल बोलनेवाले उस भृत्यको शीघ्र ही त्याग देना चाहिये ॥ २६ ॥

अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्रं
सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः ।
अरोगजातीयमुदारवाक्यं
दूतं वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम् ॥२७॥

अहंकाररहित, कायरताशून्य, शीघ्र काम पूरा करनेवाला, दयालु, शुद्धहृदय, दूसरोंके बहकावेमें न आनेवाला, नीरोग और उदार वचनवाला—इन आठ गुणोंसे युक्त मनुष्यको 'दूत' बनाने योग्य बताया गया है ॥ २७ ॥

न विश्वासाज्जातु परस्य गेहे
गच्छेन्नरश्चेतयानो विकाले ।
न चत्वरे निशि तिष्ठेन्निगूढो
न राजकाम्यां योषितं प्रार्थयीत ॥२८॥

सावधान मनुष्य विश्वास करके असमयमें कभी किसी दूसरेके घर न जाय, रातमें छिपकर चौराहेपर न खड़ा हो और राजा जिस स्त्रीको चाहता हो, उसे प्राप्त करनेका यत्न न करे ॥ २८ ॥

न निह्नवं मन्त्रगतस्य गच्छेत्
संसृष्टमन्त्रस्य कुसङ्गतस्य ।
न च ब्रूयान्नाश्वसिमि त्वयीति
सकारणं व्यपदेशं तु कुर्यात् ॥२९॥

दुष्ट सहायकोंवाला राजा जब बहुत लोगोंके साथ मन्त्रणा-समितिमें बैठकर सलाह ले रहा हो, उस समय उसकी बातका खण्डन न करे; 'मैं तुमपर विश्वास नहीं करता' ऐसा भी न कहे, अपितु कोई युक्तिसंगत बहाना बनाकर वहाँसे हट जाय ॥ २९ ॥

घृणी राजा पुंश्चली राजभृत्यः
पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा ।
सेनाजीवी चोद्धृतभूतिरेव
व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्युरेते ॥३०॥

अधिक दयालु राजा, व्यभिचारिणी स्त्री, राजकर्मचारी, पुत्र, भाई, छोटे बच्चोंवाली विधवा, सैनिक और जिसका अधिकार छीन लिया गया हो, वह पुरुष—इन सबके साथ लेन-देनका व्यवहार न करे ॥ ३० ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च श्रुतं दमश्च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥३१॥

ये आठ गुण पुरुषकी शोभा बढ़ाते हैं—बुद्धि, कुलीनता, शास्त्रज्ञान, इन्द्रियनिग्रह, पराक्रम, अधिक न बोलनेका स्वभाव, यथाशक्ति दान और कृतज्ञता ॥ ३१ ॥

एतान् गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं
सर्वान् गुणानेष गुणो बिभर्ति ॥३२॥

तात ! एक गुण ऐसा है, जो इन सभी महत्त्वपूर्ण गुणोंपर हठात् अधिकार कर लेता है । राजा जिस समय किसी मनुष्यका सत्कार करता है, उस समय यह गुण (राजसम्मान) उपर्युक्त सभी गुणोंसे बढ़कर शोभा पाता है॥

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते
बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः ।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च
श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥३३॥

नित्य स्नान करनेवाले मनुष्यको बल, रूप, मधुरस्वर, उज्ज्वल वर्ण, कोमलता, सुगन्ध, पवित्रता, शोभा, सुकुमारता और सुन्दरी स्त्रियाँ—ये दस लाभ प्राप्त होते हैं॥

गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजन्ते
आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च ।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं
न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति ॥३४॥

थोड़ा भोजन करनेवालेको निम्नाङ्कित छः गुण प्राप्त होते हैं—आरोग्य, आयु, बल और सुख तो मिलते ही हैं, उसकी संतान उत्तम होती है तथा 'यह बहुत खानेवाला है' ऐसा कहकर लोग उसपर आक्षेप नहीं करते ॥ ३४ ॥

अकर्मशीलं च महाशनं च
लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम् ।
अदेशकालज्ञमनिष्टवेष-
मेतान् गृहे न प्रतिवासयेत ॥३५॥

अकर्मण्य, बहुत खानेवाले, सब लोगोंसे वैर करनेवाले, अधिक मायावी, क्रूर, देश-कालका ज्ञान न रखनेवाले और निन्दित वेष धारण करनेवाले मनुष्यको कभी अपने घरमें न ठहरने दे ॥ ३५ ॥

कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च
वनौकसं धूर्तममान्यमानिनम् ।
निष्ठूरिणं कृतवैरं कृतघ्न-
मेतान् भृशार्तोऽपि न जातु याचेत् ॥३६॥

बहुत दुखी होनेपर भी कृपण, गाली बकनेवाले, मूर्ख, जंगलमें रहनेवाले, धूर्त, नीचसेवी, निर्दयी, वैर बाँधनेवाले और कृतघ्नसे कभी सहायताकी याचना नहीं करनी चाहिये॥

संक्लिष्टकर्माणमतिप्रमादं
नित्यानृतं चादृढभक्तिकं च।
विसृष्टरागं पटुमानिनं चा-
प्येतान् न सेवेत नराधमान् षट् ॥३७॥

क्लेशप्रद कर्म करनेवाले, अत्यन्त प्रमादी, सदा असत्यभाषण करनेवाले, अस्थिर भक्तिवाले, स्नेहसे रहित, अपनेको चतुर माननेवाले—इन छः प्रकारके अधम पुरुषोंकी सेवा न करे ॥ ३७ ॥

सहायबन्धना ह्यर्थाः सहायाश्चार्थबन्धनाः।
अन्योन्यबन्धनावेतौ विनान्योन्यं न सिद्ध्यतः ॥३८॥

धनकी प्राप्ति सहायककी अपेक्षा रखती है और सहायक धनकी अपेक्षा रखते हैं; ये दोनों एक-दूसरेके आश्रित हैं, परस्परके सहयोग बिना इनकी सिद्धि नहीं होती ॥ ३८ ॥

उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा
वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय कांचित्।
स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा
अरण्यसंस्थोऽथ मुनिर्बुभूषेत् ॥३९॥

पुत्रोंको उत्पन्न कर उन्हें ऋणके भारसे मुक्त करके उनके लिये किसी जीविकाका प्रबन्ध कर दे; अपनी सभी कन्याओंका योग्य वरके साथ विवाह कर दे तत्पश्चात् वनमें मुनिवृत्तिसे रहनेकी इच्छा करे ॥ ३९ ॥

हितं यत् सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम्।
तत् कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये ॥४०॥

जो सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये हितकर और अपने लिये भी सुखद हो, उसे ईश्वरार्पणबुद्धिसे करे; सम्पूर्ण सिद्धियोंका यही मूलमन्त्र है ॥ ४० ॥

वृद्धिः प्रभावस्तेजश्च सत्त्वमुत्थानमेव च।
व्यवसायश्च यस्य स्यात् तस्यावृत्तिभयं कुतः ॥४१॥

जिसमें बढ़नेकी शक्ति, प्रभाव, तेज, पराक्रम, उद्योग और (अपने कर्तव्यका) निश्चय है, उसे अपनी जीविकाके नाशका भय कैसे हो सकता है ? ॥ ४१ ॥

पश्य दोषान् पाण्डवैर्विग्रहे त्वं
यत्र व्यथेयुरपि देवाः सशक्राः।
पुत्रैर्वैरं नित्यमुद्विग्नवासो
यशःप्रणाशो द्विषतां च हर्षः ॥४२॥

पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेमें जो दोष हैं, उनपर दृष्टि डालिये; उनसे संग्राम छिड़ जानेपर इन्द्र आदि देवताओंको भी कष्ट ही उठाना पड़ेगा। इसके सिवा पुत्रोंके साथ वैर, नित्य उद्वेगपूर्ण जीवन, कीर्तिका नाश और शत्रुओंको आनन्द होगा ॥ ४२ ॥

भीष्मस्य कोपस्तव चैवेन्द्रकल्प
द्रोणस्य राज्ञश्च युधिष्ठिरस्य।
उत्सादयेल्लोकमिमं प्रवृद्धः
श्वेतो ग्रहस्तिर्यगिवापतन् खे ॥४३॥

इन्द्रके समान पराक्रमी महाराज ! आकाशमें तिरछा उदित हुआ धूमकेतु जैसे सारे संसारमें अशान्ति और उपद्रव खड़ा कर देता है, उसी तरह भीष्म, आप, द्रोणाचार्य और राजा युधिष्ठिरका बढ़ा हुआ कोप इस संसारका संहार कर सकता है ॥ ४३ ॥

तव पुत्रशतं चैव कर्णः पञ्च च पाण्डवाः।
पृथिवीमनुशासेयुरखिलां सागराम्बराम् ॥४४॥

आपके सौ पुत्र, कर्ण और पाँच पाण्डव—ये सब मिलकर समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन कर सकते हैं ॥ ४४ ॥

धार्तराष्ट्रा वनं राजन् व्याघ्राः पाण्डुसुता मताः।
मा वनं छिन्धि सव्याघ्रं मा व्याघ्रान् नीनशन् वनात् ॥४५॥

राजन् ! आपके पुत्र वनके समान हैं और पाण्डव उसमें रहनेवाले व्याघ्र हैं। आप व्याघ्रोंसहित समस्त वनको नष्ट न कीजिये तथा वनसे उन व्याघ्रोंको दूर न भगाइये ॥ ४५ ॥

न स्याद् वनमृते व्याघ्रान् व्याघ्रा न स्युर्ऋते वनम्।
वनं हि रक्ष्यते व्याघ्रैर्व्याघ्रान् रक्षति काननम् ॥४६॥

व्याघ्रोंके बिना वनकी रक्षा नहीं हो सकती तथा वनके बिना व्याघ्र नहीं रह सकते; क्योंकि व्याघ्र वनकी रक्षा करते हैं और वन व्याघ्रोंकी ॥ ४६ ॥

न तथेच्छन्ति कल्याणान् परेषां वेदितुं गुणान्।
यथैषां ज्ञातुमिच्छन्ति नैर्गुण्यं पापचेतसः ॥४७॥

जिनका मन पापोंमें लगा रहता है, वे लोग दूसरोंके कल्याणमय गुणोंको जाननेकी वैसी इच्छा नहीं रखते, जैसी कि उनके अवगुणोंको जाननेकी रखते हैं ॥ ४७ ॥

अर्थसिद्धिं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चरेत्।
न हि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवामृतम् ॥४८॥

जो अर्थकी पूर्ण सिद्धि चाहता हो, उसे पहले धर्मका ही आचरण करना चाहिये। जैसे स्वर्गसे अमृत दूर नहीं होता, उसी प्रकार धर्मसे अर्थ अलग नहीं होता ॥ ४८ ॥

यस्यात्मा विरतः पापात् कल्याणे च निवेशितः।
तेन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या ॥४९॥

जिसकी बुद्धि पापसे हटाकर कल्याणमें लगा दी गयी है, उसने संसारमें जो भी प्रकृति और विकृति है—उन सबको जान लिया है ॥ ४९ ॥

यो धर्ममर्थं कामं च यथाकालं निषेवते।
धर्मार्थकामसंयोगं सोऽमुत्रेह च विन्दति ॥५०॥

जो समयानुसार धर्म, अर्थ और कामका सेवन करता है, वह इस लोक और परलोकमें भी धर्म, अर्थ और कामको प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

संनियच्छति यो वेगमुत्थितं क्रोधहर्षयोः।
स श्रियो भाजनं राजन् यश्चापत्सु न मुह्यति ॥ ५१ ॥

राजन्! जो क्रोध और हर्षके उठे हुए वेगको रोक लेता है और आपत्तिमें भी मोहको प्राप्त नहीं होता, वही राजलक्ष्मीका अधिकारी होता है ॥ ५१ ॥

बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे।
यत् तु बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते ॥ ५२ ॥
अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते।
तृतीयं धनलाभं तु बलमाहुर्मनीषिणः ॥ ५३ ॥
यत् त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम्।
अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ॥ ५४ ॥
येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत।
यद् बलानां बलं श्रेष्ठं तत् प्रज्ञाबलमुच्यते ॥ ५५ ॥

राजन्! आपका कल्याण हो, मनुष्योंमें सदा पाँच प्रकारका बल होता है; उसे सुनिये। जो बाहुबल नामक प्रथम बल है, वह निकृष्ट बल कहलाता है; मन्त्रीका मिलना दूसरा बल है; मनीषीलोग धनके लाभको तीसरा बल बताते हैं; और राजन्! जो बाप-दादोंसे प्राप्त हुआ मनुष्यका स्वाभाविक बल (कुटुम्बका बल) है, वह 'अभिजात' नामक चौथा बल है। भारत! जिससे इन सभी बलोंका संग्रह हो जाता है तथा जो सब बलोंमें श्रेष्ठ बल है, वह पाँचवाँ 'बुद्धिका बल' कहलाता है ॥ ५२—५५ ॥

महते योऽपकाराय नरस्य प्रभवेन्नरः।
तेन वैरं समासज्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ॥ ५६ ॥

जो मनुष्यका बहुत बड़ा अपकार कर सकता है, उस पुरुषके साथ वैर ठानकर इस विश्वासपर निश्चिन्त न हो जाय कि मैं उससे दूर हूँ (वह मेरा कुछ नहीं कर सकता) ॥ ५६ ॥

स्त्रीषु राजसु सर्पेषु स्वाध्यायप्रभुशत्रुषु।
भोगेष्वायुषि विश्वासं कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति ॥ ५७ ॥

ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा, जो स्त्री, राजा, साँप, पढ़े हुए पाठ, सामर्थ्यशाली व्यक्ति, शत्रु, भोग और आयुपर पूर्ण विश्वास कर सकता है? ॥ ५७ ॥

प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य जन्तो-
श्चिकित्सकाः सन्ति न चौषधानि।
न होममन्त्रा न च मङ्गलानि
नाथर्वणा नाप्यगदाः सुसिद्धाः ॥ ५८ ॥

जिसको बुद्धिके बाणसे मारा गया है, उस जीवके लिये न कोई वैद्य है, न दवा है, न होम, न मन्त्र, न कोई माङ्गलिक कार्य, न अथर्ववेदोक्त प्रयोग और न भलीभाँति सिद्ध जड़ी-बूटी ही है ॥ ५८ ॥

सर्पश्चाग्निश्च सिंहश्च कुलपुत्रश्च भारत।
नावज्ञेया मनुष्येण सर्वे ह्येतेऽतितेजसः ॥ ५९ ॥

भारत! मनुष्योंको चाहिये कि वह साँप, अग्नि, सिंह और अपने कुलमें उत्पन्न व्यक्तिका अनादर न करे; क्योंकि ये सभी बड़े तेजस्वी होते हैं ॥ ५९ ॥

अग्निस्तेजो महल्लोके गूढस्तिष्ठति दारुषु।
न चोपयुङ्क्ते तद् दारु यावन्नोद्दीप्यते परैः ॥ ६० ॥

संसारमें अग्नि एक महान् तेज है, वह काठमें छिपी रहती है; किंतु जबतक दूसरे लोग उसे प्रज्वलित न कर दें, तबतक वह उस काठको नहीं जलाती ॥ ६० ॥

स एव खलु दारुभ्यो यदा निर्मथ्य दीप्यते।
तद् दारु च वनं चान्यन्निर्दहत्याशु तेजसा ॥ ६१ ॥

वही अग्नि यदि काष्ठसे मथकर उद्दीप्त कर दी जाती है तो वह अपने तेजसे उस काठको, जंगलको तथा दूसरी वस्तुओंको भी जल्दी ही जला डालती है ॥ ६१ ॥

एवमेव कुले जाताः पावकोपमतेजसः।
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ॥ ६२ ॥

इसी प्रकार अपने कुलमें उत्पन्न वे अग्निके समान तेजस्वी पाण्डव क्षमाभावसे युक्त और विकारशून्य हो काष्ठमें छिपी अग्निकी तरह गुप्तरूपसे (अपने गुण एवं प्रभावको छिपाये हुए) स्थित हैं ॥ ६२ ॥

लताधर्मा त्वं सपुत्रः शालाः पाण्डुसुता मताः।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥ ६३ ॥

अपने पुत्रोंसहित आप लताके समान हैं और पाण्डव महान् शालवृक्षके सदृश हैं; महान् वृक्षका आश्रय लिये बिना लता कभी बढ़ नहीं सकती ॥ ६३ ॥

वनं राजंस्तव पुत्रोऽऽम्बिकेय
सिंहान् वने पाण्डवांस्तात विद्धि।
सिंहैर्विहीनं हि वनं विनश्येत्
सिंहा विनश्येयुर्ऋते वनेन ॥ ६४ ॥

राजन्! अम्बिकानन्दन! आपके पुत्र एक वन हैं और पाण्डवोंको उसके भीतर रहनेवाले सिंह समझिये। तात! सिंहसे सूना हो जानेपर वन नष्ट हो जाता है और वनके बिना सिंह भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके हितवाक्यविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

विदुरजीका नीतियुक्त उपदेश

विदुर उवाच

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! जब कोई (माननीय) वृद्ध पुरुष निकट आता है, उस समय नवयुवक व्यक्तिके प्राण ऊपरको उठने लगते हैं; फिर जब वह वृद्धके स्वागतमें उठकर खड़ा होता और प्रणाम करता है, तब प्राणोंको पुनः वास्तविक स्थितिमें प्राप्त करता है ॥ १ ॥

पीठं दत्त्वा साधवेऽभ्यागताय
आनीयापः परिनिर्णिज्य पादौ ।
सुखं पृष्ट्वा प्रतिवेद्यात्मसंस्थां
ततो दद्यादन्नमवेक्ष्य धीरः ॥ २ ॥

धीर पुरुषको चाहिये, जब कोई साधु पुरुष अतिथिके रूपमें घरपर आवे, तब पहले आसन देकर एवं जल लाकर उसके चरण पखारे, फिर उसकी कुशल पूछकर अपनी स्थिति बतावे, तदनन्तर आवश्यकता समझकर अन्न भोजन करावे ॥ २ ॥

यस्योदकं मधुपर्कं च गां च
न मन्त्रवित् प्रतिगृह्णाति गेहे ।
लोभाद् भयादथ कार्पण्यतो वा
तस्यानर्थं जीवितमाहुरार्याः ॥ ३ ॥

वेदवेत्ता ब्राह्मण जिसके घर दाताके लोभ, भय या कंजूसीके कारण जल, मधुपर्क और गौको नहीं स्वीकार करता, श्रेष्ठ पुरुषोंने उस गृहस्थका जीवन व्यर्थ बताया है ॥ ३ ॥

चिकित्सकः शल्यकर्तावकीर्णी
स्तेनः क्रूरो मद्यपो भ्रूणहा च ।
सेनाजीवी श्रुतिविक्रायकश्च
भृशं प्रियोऽप्यतिथिर्नोदकार्हः ॥ ४ ॥

वैद्य, चीरफाड़ करनेवाला (जर्राह), ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट, चोर, क्रूर, शराबी, गर्भहत्यारा, सेनाजीवी और वेदविक्रेता—ये यद्यपि पैर धोनेके योग्य नहीं हैं, तथापि यदि अतिथि होकर आवें तो विशेष प्रिय यानी आदरके योग्य होते हैं ॥ ४ ॥

अविक्रयं लवणं पक्वमन्नं
दधि क्षीरं मधु तैलं घृतं च ।
तिला मांसं फलमूलानि शाकं
रक्तं वासः सर्वगन्धा गुडाश्च ॥ ५ ॥

नमक, पका हुआ अन्न, दही, दूध, मधु, तेल, घी, तिल, मांस, फल, मूल, साग, लाल कपड़ा, सब प्रकारकी गन्ध और गुड़—इतनी वस्तुएँ बेचने योग्य नहीं हैं ॥ ५ ॥

अरोषणो यः समलोष्टाश्मकाञ्चनः
प्रहीणशोको गतसन्धिविग्रहः ।
निन्दाप्रशंसोपरतः प्रियाप्रिये
त्यजन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥ ६ ॥

जो क्रोध न करनेवाला, लोष्ट[1], पत्थर और सुवर्णको एक-सा समझनेवाला, शोकहीन, सन्धि-विग्रहसे रहित, निन्दा-प्रशंसासे शून्य, प्रिय-अप्रियका त्याग करनेवाला तथा उदासीन है, वही भिक्षुक (संन्यासी) है ॥ ६ ॥

नीवारमूलेङ्गुदशाकवृत्तिः
सुसंयतात्माग्निकार्येषु चोद्यः ।
वने वसन्नतिथिष्वप्रमत्तो
धुरन्धरः पुण्यकृदेष तापसः ॥ ७ ॥

जो नीवार (जंगली चावल), कन्द-मूल, इङ्गुदीफल और साग खाकर निर्वाह करता है, मनको वशमें रखता है, अग्निहोत्र करता है, वनमें रहकर भी अतिथिसेवामें सदा सावधान रहता है, वही पुण्यात्मा तपस्वी (वानप्रस्थी) श्रेष्ठ माना गया है ॥ ७ ॥

अपकृत्य बुद्धिमतो दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् पुरुषकी बुराई करके इस विश्वासपर निश्चिन्त न रहे कि मैं दूर हूँ । बुद्धिमान्‌की (बुद्धिरूप) बाँहें बड़ी लंबी होती हैं, सताया जानेपर वह उन्हीं बाँहोंसे बदला लेता है ॥ ८ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ९ ॥

जो विश्वासका पात्र नहीं है, उसका तो विश्वास करे ही नहीं; किंतु जो विश्वासपात्र है, उसपर भी अधिक विश्वास न करे । विश्वाससे जो भय उत्पन्न होता है, वह मूलका भी उच्छेद कर डालता है ॥ ९ ॥

अनीर्षुर्गुप्तदारश्च संविभागी प्रियंवदः ।
श्लक्ष्णो मधुरवाक् स्त्रीणां न चासां वशगो भवेत् ॥ १० ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह ईर्ष्यारहित, स्त्रियोंका रक्षक, सम्पत्तिका न्यायपूर्वक विभाग करनेवाला, प्रियवादी, स्वच्छ

[1] मिट्टी और गोबरको मिलाकर कच्चे घरोंको जो लीपा-पोता जाता है, उससे बचे हुए व्यर्थ लोंदेको 'लोष्ट' कहते हैं।

तथा स्त्रियोंके निकट मीठे वचन बोलनेवाला हो, परंतु उनके वशमें कभी न हो ॥ १० ॥

पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद् रक्ष्या विशेषतः ॥ ११ ॥

स्त्रियाँ घरकी लक्ष्मी कही गयी हैं। ये अत्यन्त सौभाग्यशालिनी, आदरके योग्य, पवित्र तथा घरकी शोभा हैं; अतः इनकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये ॥ ११ ॥

पितुरन्तःपुरं दद्यान्मातुर्दद्यान्महानसम् ।
गोषु चात्मसमं दद्यात् स्वयमेव कृषिं व्रजेत् ॥ १२ ॥
भृत्यैर्वाणिज्यचारं च पुत्रैः सेवेत च द्विजान् ।

अन्तःपुरकी रक्षाका कार्य पिताको सौंप दे, रसोईघरका प्रबन्ध माताके हाथमें दे दे, गौओंकी सेवामें अपने समान व्यक्तिको नियुक्त करे और कृषिका कार्य स्वयं ही करे। इसी प्रकार सेवकोंद्वारा वाणिज्य—व्यापार करे और पुत्रोंके द्वारा ब्राह्मणोंकी सेवा करे ॥ १२½ ॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ॥ १३ ॥
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ।

जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय और पत्थरसे लोहा पैदा हुआ है। इनका तेज सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी अपने उत्पत्तिस्थानमें शान्त हो जाता है ॥ १३½ ॥

नित्यं सन्तः कुले जाताः पावकोपमतेजसः ॥ १४ ॥
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ।

अच्छे कुलमें उत्पन्न, अग्निके समान तेजस्वी, क्षमाशील और विकारशून्य संत पुरुष सदा काष्ठमें अग्निकी भाँति शान्तभावसे स्थित रहते हैं ॥ १४½ ॥

यस्य मन्त्रं न जानन्ति बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ये ॥ १५ ॥
स राजा सर्वतश्चक्षुश्चिरमैश्वर्यमश्नुते ।

जिस राजाकी मन्त्रणाको उसके बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग कोई भी मनुष्य नहीं जानते, सब ओर दृष्टि रखनेवाला वह राजा चिरकालतक ऐश्वर्यका उपभोग करता है ॥ १५½ ॥

करिष्यन् न प्रभाषेत कृतान्येव तु दर्शयेत् ॥ १६ ॥
धर्मकामार्थकार्याणि तथा मन्त्रो न भिद्यते ।

धर्म, काम और अर्थसम्बन्धी कार्योंको करनेसे पहले न बतावे, करके ही दिखावे। ऐसा करनेसे अपनी मन्त्रणा दूसरोंपर प्रकट नहीं होती ॥ १६½ ॥

गिरिपृष्ठमुपारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ॥ १७ ॥
अरण्ये निःशलाके वा तत्र मन्त्रोऽभिधीयते ।

पर्वतकी चोटी अथवा राजमहलपर चढ़कर एकान्त स्थानमें जाकर या जंगलमें तृण आदिसे अनावृत स्थानपर मन्त्रणा करनी चाहिये ॥ १७½ ॥

नासुहृत् परमं मन्त्रं भारतार्हति वेदितुम् ॥ १८ ॥
अपण्डितो वापि सुहृत् पण्डितो वाप्यनात्मवान् ।

भारत ! जो मित्र न हो, मित्र होनेपर भी पण्डित न हो, पण्डित होनेपर भी जिसका मन वशमें न हो, वह अपनी गुप्त मन्त्रणा जाननेके योग्य नहीं है ॥ १८½ ॥

नापरीक्ष्य महीपालः कुर्यात् सचिवमात्मनः ॥ १९ ॥
अमात्ये ह्यर्थलिप्सा च मन्त्ररक्षणमेव च ।
कृतानि सर्वकार्याणि यस्य पारिषदा विदुः ॥ २० ॥
धर्मे चार्थे च कामे च स राजा राजसत्तमः ।
गूढमन्त्रस्य नृपतेस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥ २१ ॥

राजा अच्छी तरह परीक्षा किये बिना किसीको अपना मन्त्री न बनावे; क्योंकि धनकी प्राप्ति और मन्त्रकी रक्षाका भार मन्त्रीपर ही रहता है। जिसके धर्म, अर्थ और कामविषयक सभी कार्योंको पूर्ण होनेके बाद ही सभासद्गण जान पाते हैं, वही राजा समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ है। अपने मन्त्रको गुप्त रखनेवाले उस राजाको निःसंदेह सिद्धि प्राप्त होती है ॥ १९-२१ ॥

अप्रशस्तानि कार्याणि यो मोहादनुतिष्ठति ।
स तेषां विपरिभ्रंशाद् भ्रंश्यते जीवितादपि ॥ २२ ॥

जो मोहवश बुरे (शास्त्रनिषिद्ध) कर्म करता है, वह उन कार्योंका विपरीत परिणाम होनेसे अपने जीवनसे भी हाथ धो बैठता है ॥ २२ ॥

कर्मणां तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।
तेषामेवाननुष्ठानं पश्चात्तापकरं मतम् ॥ २३ ॥

उत्तम कर्मोंका अनुष्ठान तो सुख देनेवाला होता है, किंतु उन्हींका अनुष्ठान न किया जाय तो वह पश्चात्तापका कारण माना गया है ॥ २३ ॥

अनधीत्य यथा वेदान् न विप्रः श्राद्धमर्हति ।
एवमश्रुतषाड्गुण्यो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ २४ ॥

जैसे वेदोंको पढ़े बिना ब्राह्मण श्राद्धकर्म करवानेका अधिकारी नहीं होता, उसी प्रकार (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय नामक) छः गुणोंको जाने बिना कोई गुप्त मन्त्रणा सुननेका अधिकारी नहीं होता ॥ २४ ॥

स्थानवृद्धिक्षयज्ञस्य षाड्गुण्यविदितात्मनः ।
अनवज्ञातशीलस्य स्वाधीना पृथिवी नृप ॥ २५ ॥

राजन् ! जो सन्धि-विग्रह आदि छः गुणोंकी जानकारीके कारण प्रसिद्ध है, स्थिति, वृद्धि और ह्रासको जानता है तथा जिसके स्वभावकी सब लोग प्रशंसा करते हैं, उसी राजाके अधीन पृथ्वी रहती है ॥ २५ ॥

अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्यान्ववेक्षिणः ।
आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदैव वसुन्धरा ॥ २६ ॥

जिसके क्रोध और हर्ष व्यर्थ नहीं जाते, जो आवश्यक

कार्योंकी स्वयं देखभाल करता है और खजानेकी भी स्वयं जानकारी रखता है, उसकी पृथ्वी पर्याप्त धन देनेवाली ही होती है ॥ २६ ॥

नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः ।
भृत्येभ्यो विसृजेदर्थान् नैकः सर्वहरो भवेत् ॥ २७ ॥

भूपतिको चाहिये कि अपने 'राजा' नामसे और राजोचित 'छत्र'के धारणसे संतुष्ट रहे। सेवकोंको पर्याप्त धन दे, सब अकेला ही न हड़प ले ॥ २७ ॥

ब्राह्मणं ब्राह्मणो वेद भर्ता वेद स्त्रियं तथा ।
अमात्यं नृपतिर्वेद राजा राजानमेव च ॥ २८ ॥

ब्राह्मणको ब्राह्मण जानता है, स्त्रीको उसका पति जानता है, मन्त्रीको राजा जानता है और राजाको भी राजा ही जानता है ॥ २८ ॥

न शत्रुर्वशमापन्नो मोक्तव्यो वध्यतां गतः ।
न्यग्भूत्वा पर्युपासीत वध्यं हन्याद् बले सति ।
अहताद्धि भयं तस्माज्जायते नचिरादिव ॥ २९ ॥

वशमें आये हुए वधके योग्य शत्रुको कभी छोड़ना नहीं चाहिये । यदि अपना बल अधिक न हो तो नम्र होकर उसके पास समय बिताना चाहिये और बल होनेपर उसे मार ही डालना चाहिये; क्योंकि यदि शत्रु मारा न गया तो उससे शीघ्र ही भय उपस्थित होता है ॥ २९ ॥

दैवतेषु प्रयत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च ।
नियन्तव्यः सदा क्रोधो वृद्धबालातुरेषु च ॥ ३० ॥

देवता, ब्राह्मण, राजा, वृद्ध, बालक और रोगीपर होनेवाले क्रोधको प्रयत्नपूर्वक सदा रोकना चाहिये ॥ ३० ॥

निरर्थं कलहं प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम् ।
कीर्तिं च लभते लोके न चानर्थेन युज्यते ॥ ३१ ॥

मूर्खोंद्वारा सेवित निरर्थक कलहका बुद्धिमान् पुरुषको त्याग कर देना चाहिये। ऐसा करनेसे उसे लोकमें यश मिलता है और अनर्थका सामना नहीं करना पड़ता ॥ ३१ ॥

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥ ३२ ॥

जिसके प्रसन्न होनेका कोई फल नहीं तथा जिसका क्रोध भी व्यर्थ होता है, ऐसे राजाको प्रजा उसी भाँति नहीं चाहती, जैसे स्त्री नपुंसक पतिको ॥ ३२ ॥

न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये ।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ३३ ॥

बुद्धिसे धन प्राप्त होता है और मूर्खता दरिद्रताका कारण है—ऐसा कोई नियम नहीं है । संसारचक्रके वृत्तान्तको केवल विद्वान् पुरुष ही जानते हैं, दूसरे लोग नहीं ॥ ३३ ॥

विद्याशीलवयोवृद्धान् बुद्धिवृद्धांश्च भारत ।
धनाभिजातवृद्धांश्च नित्यं मूढोऽवमन्यते ॥ ३४ ॥

भारत ! मूर्ख मनुष्य विद्या, शील, अवस्था, बुद्धि, धन और कुलमें बड़े माननीय पुरुषोंका सदा अनादर किया करता है ॥ ३४ ॥

अनार्यवृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम् ।
अनर्थाः क्षिप्रमायान्ति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ॥ ३५ ॥

जिसका चरित्र निन्दनीय है, जो मूर्ख, गुणोंमें दोष देखनेवाला, अधार्मिक, बुरे वचन बोलनेवाला और क्रोधी है, उसके ऊपर शीघ्र ही अनर्थ (संकट) टूट पड़ते हैं ॥ ३५ ॥

अविसंवादनं दानं समयस्याव्यतिक्रमः ।
आवर्तयन्ति भूतानि सम्यक्प्रणिहिता च वाक् ॥ ३६ ॥

ठगी न करना, दान देना, प्रतिज्ञाका उल्लङ्घन न करना और अच्छी तरह कही हुई बात—ये सब सम्पूर्ण भूतोंको अपना बना लेते हैं ॥ ३६ ॥

अविसंवादको दक्षः कृतज्ञो मतिमानृजुः ।
अपि संक्षीणकोशोऽपि लभते परिवारणम् ॥ ३७ ॥

किसीको भी धोखा न देनेवाला, चतुर, कृतज्ञ, बुद्धिमान् और कोमल स्वभाववाला राजा खजाना समाप्त हो जानेपर भी सहायकोंको पा जाता है अर्थात् उसे सहायक मिल जाते हैं ॥ ३७ ॥

धृतिः शमो दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ॥ ३८ ॥

धैर्य, मनोनिग्रह, इन्द्रियसंयम, पवित्रता, दया, कोमल वाणी और मित्रसे द्रोह न करना—ये सात बातें लक्ष्मीको बढ़ानेवाली हैं ॥ ३८ ॥

असंविभागी दुष्टात्मा कृतघ्नो निरपत्रपः ।
तादृङ्नराधिपो लोके वर्जनीयो नराधिप ॥ ३९ ॥

राजन् ! जो अपने आश्रितोंमें धनका ठीक-ठीक बँटवारा नहीं करता तथा जो दुष्ट स्वभाववाला, कृतघ्न और निर्लज्ज है, ऐसा राजा इस लोकमें त्याग देने योग्य है ॥ ३९ ॥

न च रात्रौ सुखं शेते ससर्पे इव वेश्मनि ।
यः कोपयति निर्दोषं सदोषोऽभ्यन्तरं जनम् ॥ ४० ॥

जो स्वयं दोषी होकर भी निर्दोष आत्मीय व्यक्तिको कुपित करता है, वह सर्पयुक्त घरमें रहनेवाले मनुष्यकी भाँति रातमें सुखसे नहीं सो सकता ॥ ४० ॥

येषु दुष्टेषु दोषः स्याद् योगक्षेमस्य भारत ।
सदा प्रसादनं तेषां देवतानामिवाचरेत् ॥ ४१ ॥

भारत ! जिनके ऊपर दोषारोपण करनेसे योग-क्षेममें बाधा आती हो, उन लोगोंको देवताकी भाँति सदा प्रसन्न रखना चाहिये ॥ ४१ ॥

येऽर्थाः स्त्रीषु समायुक्ताः प्रमत्तपतितेषु च ।
ये चानार्ये समासक्ताः सर्वे ते संशयं गताः ॥ ४२ ॥

जो धन आदि पदार्थ स्त्री, प्रमादी, पतित और नीच पुरुषोंके हाथमें सौंप दिये जाते हैं, वे संशयमें पड़ जाते हैं ॥४२॥

यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता ।
मज्जन्ति तेऽवशा राजन् नद्यामश्मप्लवा इव ॥ ४३ ॥

राजन्! जहाँका शासन स्त्री, जुआरी और बालकके हाथमें होता है, वहाँके लोग नदीमें पत्थरकी नावपर बैठनेवालोंकी भाँति विवश होकर विपत्तिके समुद्रमें डूब जाते हैं ॥ ४३ ॥

प्रयोजनेषु ये सक्ता न विशेषेषु भारत ।
तानहं पण्डितान् मन्ये विशेषा हि प्रसङ्गिनः ॥ ४४ ॥

भारत! जो लोग जितना आवश्यक है, उतने ही काममें लगे रहते हैं, अधिकमें हाथ नहीं डालते, उन्हें मैं पण्डित मानता हूँ; क्योंकि अधिकमें हाथ डालना संघर्षका कारण होता है ॥ ४४ ॥

यं प्रशंसन्ति कितवा यं प्रशंसन्ति चारणाः ।
यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो न स जीवति मानवः ॥ ४५ ॥

(केवल) जुआरी जिसकी प्रशंसा करते हैं, नर्तक जिसकी प्रशंसाका गान करते हैं और वेश्याएँ जिसकी बड़ाई किया करती हैं, वह मनुष्य जीता ही मुर्देके समान है ॥४५॥

हित्वा तान् परमेष्वासान् पाण्डवानमितौजसः ।
आहितं भारतैश्वर्यं त्वया दुर्योधने महत् ॥ ४६ ॥

भारत! आपने उन महान् धनुर्धर और अत्यन्त तेजस्वी पाण्डवोंको छोड़कर यह महान् ऐश्वर्यका भार दुर्योधनके ऊपर रख दिया है ॥ ४६ ॥

तं द्रक्ष्यसि परिभ्रष्टं तस्मात् त्वमचिरादिव ।
ऐश्वर्यमदसम्मूढं बलिं लोकत्रयादिव ॥ ४७ ॥

इसलिये आप शीघ्र ही उस ऐश्वर्यमदसे मूढ दुर्योधनको त्रिभुवनके साम्राज्यसे गिरे हुए बलिकी भाँति इस राज्यसे भ्रष्ट होते देखियेगा ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीका नीतियुक्त उपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

अनीश्वरोऽयं पुरुषो भवाभवे
सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे कृतोऽयं
तस्माद् वद त्वं श्रवणे धृतोऽहम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! यह पुरुष ऐश्वर्यकी प्राप्ति और नाशमें स्वतन्त्र नहीं है। ब्रह्माने धागेसे बँधी हुई कठपुतलीकी भाँति इसे प्रारब्धके अधीन कर रक्खा है; इसलिये तुम कहते चलो, मैं सुननेके लिये धैर्य धारण किये बैठा हूँ ॥

विदुर उवाच

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बुद्ध्यवज्ञानमवमानं च भारत ॥ २ ॥

विदुरजी बोले—भारत! समयके विपरीत यदि बृहस्पति भी कुछ बोलें तो उनका अपमान ही होगा और उनकी बुद्धिकी भी अवज्ञा ही होगी ॥ २ ॥

प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।
मन्त्रमूलबलेनान्यो यः प्रियः प्रिय एव सः ॥ ३ ॥

संसारमें कोई मनुष्य दान देनेसे प्रिय होता है, दूसरा प्रिय वचन बोलनेसे प्रिय होता है और तीसरा मन्त्र तथा औषधके बलसे प्रिय होता है; किंतु जो वास्तवमें प्रिय है, वह तो सदा प्रिय ही है ॥ ३ ॥

द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पण्डितः ।
प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह ॥ ४ ॥

जिससे द्वेष हो जाता है, वह न साधु, न विद्वान् और न बुद्धिमान् ही जान पड़ता है। प्रिय व्यक्ति (मित्र आदि) के तो सभी कर्म शुभ ही प्रतीत होते हैं और शत्रुके सभी कार्य पापमय ॥४॥

उक्तं मया जातमात्रेऽपि राजन्
दुर्योधनं त्यज पुत्रं त्वमेकम् ।
तस्य त्यागात् पुत्रशतस्य वृद्धि-
रस्यात्यागात् पुत्रशतस्य नाशः ॥ ५ ॥

राजन्! दुर्योधनके जन्म लेते ही मैंने कहा था कि केवल इसी एक पुत्रको आप त्याग दें। इसके त्यागसे सौ पुत्रोंकी वृद्धि होगी और इसका त्याग न करनेसे सौ पुत्रोंका नाश होगा ॥ ५ ॥

न वृद्धिर्बहु मन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत् ।
क्षयोऽपि बहु मन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ॥ ६ ॥

जो वृद्धि भविष्यमें नाशका कारण बने, उसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये और उस क्षयका भी बहुत आदर

करना चाहिये, जो आगे चलकर अभ्युदयका कारण हो ॥ ६ ॥

न स क्षयो महाराज यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ।
क्षयः स त्विह मन्तव्यो यं लब्ध्वा बहु नाशयेत् ॥ ७ ॥

महाराज ! वास्तवमें जो क्षय वृद्धिका कारण होता है, वह क्षय नहीं है; किंतु उस लाभको भी क्षय ही मानना चाहिये, जिसे पानेसे बहुत-से लाभोंका नाश हो जाय ॥ ७ ॥

समृद्धा गुणतः केचिद् भवन्ति धनतोऽपरे ।
धनवृद्धान् गुणैर्हीनान् धृतराष्ट्र विवर्जय ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र ! कुछ लोग गुणसे समृद्ध होते हैं और कुछ लोग धनसे । जो धनके धनी होते हुए भी गुणोंसे हीन हैं, उन्हें सर्वथा त्याग दीजिये ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वं त्वमायतीयुक्तं भाषसे प्राज्ञसम्मतम् ।
न चोत्सहे सुतं त्यक्तुं यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! तुम जो कुछ कह रहे हो, परिणाममें हितकर है; बुद्धिमान् लोग इसका अनुमोदन करते हैं । यह भी ठीक है कि जिस ओर धर्म होता है, उसी पक्षकी जीत होती है, तो भी मैं अपने बेटेका त्याग नहीं कर सकता॥

विदुर उवाच

अतीवगुणसम्पन्नो न जातु विनयान्वितः ।
सुसूक्ष्ममपि भूतानामुपमर्दमुपेक्षते ॥ १० ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! जो अधिक गुणोंसे सम्पन्न और विनयी है, वह प्राणियोंका तनिक भी संहार होते देख उसकी कभी उपेक्षा नहीं कर सकता ॥ १० ॥

परापवादनिरताः परदुःखोदयेषु च ।
परस्परविरोधे च यतन्ते सततोत्थिताः ॥ ११ ॥
सदोषं दर्शनं येषां संवासे सुमहद् भयम् ।
अर्थादाने महान् दोषः प्रदाने च महद् भयम् ॥ १२ ॥

जो दूसरोंकी निन्दामें ही लगे रहते हैं, दूसरोंको दुःख देने और आपसमें फूट डालनेके लिये सदा उत्साहके साथ प्रयत्न करते हैं, जिनका दर्शन दोषसे भरा (अशुभ) है और जिनके साथ रहनेमें भी बहुत बड़ा खतरा है, ऐसे लोगोंसे धन लेनेमें महान् दोष है और उन्हें देनेमें बहुत बड़ा भय है ॥ ११-१२ ॥

ये वै भेदनशीलास्तु सकामा निस्त्रपाः शठाः ।
ये पापा इति विख्याताः संवासे परिगर्हिताः ॥ १३ ॥

दूसरोंमें फूट डालनेका जिनका स्वभाव है, जो कामी, निर्लज्ज, शठ और प्रसिद्ध पापी हैं, वे साथ रखनेके अयोग्य—निन्दित माने गये हैं ॥ १३ ॥

युक्ताश्चान्यैर्महादोषैर्ये नरास्तान् विवर्जयेत् ।
निवर्तमाने सौहार्दे प्रीतिर्नीचे प्रणश्यति ॥ १४ ॥
या चैव फलनिर्वृत्तिः सौहृदे चैव यत् सुखम् ।

उपर्युक्त दोषोंके अतिरिक्त और भी जो महान् दोष हैं, उनसे युक्त मनुष्योंका त्याग कर देना चाहिये । सौहार्दभाव निवृत्त हो जानेपर नीच पुरुषोंका प्रेम नष्ट हो जाता है, उस सौहार्दसे होनेवाले फलकी सिद्धि और सुखका भी नाश हो जाता है ॥ १४½ ॥

यतते चापवादाय यत्नमारभते क्षये ॥ १५ ॥
अल्पेऽप्यपकृते मोहान्न शान्तिमधिगच्छति ।

फिर वह नीच पुरुष निन्दा करनेके लिये यत्न करता है, थोड़ा भी अपराध हो जानेपर मोहवश विनाशके लिये उद्योग आरम्भ कर देता है । उसे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती ॥

तादृशैः संगतं नीचैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥ १६ ॥
निशम्य निपुणं बुद्ध्या विद्वान् दूराद् विवर्जयेत् ।

वैसे नीच, क्रूर तथा अजितेन्द्रिय पुरुषोंसे होनेवाले सङ्गपर अपनी बुद्धिसे पूर्ण विचार करके विद्वान् पुरुष उसे दूरसे ही त्याग दे ॥ १६½ ॥

यो ज्ञातिमनुगृह्णाति दरिद्रं दीनमातुरम् ॥ १७ ॥
स पुत्रपशुभिर्वृद्धिं श्रेयश्चानन्त्यमश्नुते ।

जो अपने कुटुम्बी, दरिद्र, दीन तथा रोगीपर अनुग्रह करता है, वह पुत्र और पशुओंसे वृद्धिको प्राप्त होता और अनन्त कल्याणका अनुभव करता है ॥ १७½ ॥

ज्ञातयो वर्धनीयास्तैर्य इच्छन्त्यात्मनः शुभम् ॥ १८ ॥
कुलवृद्धिं च राजेन्द्र तस्मात् साधु समाचर ।

राजेन्द्र ! जो लोग अपने भलेकी इच्छा करते हैं, उन्हें अपने जातिभाइयोंको उन्नतिशील बनाना चाहिये; इसलिये आप भलीभाँति अपने कुलकी वृद्धि करें ॥ १८½ ॥

श्रेयसा योक्ष्यते राजन् कुर्वाणो ज्ञातिसत्क्रियाम् ॥ १९ ॥

राजन् ! जो अपने कुटुम्बीजनोंका सत्कार करता है, वह कल्याणका भागी होता है ॥ १९ ॥

विगुणा ह्यपि संरक्ष्या ज्ञातयो भरतर्षभ ।
किं पुनर्गुणवन्तस्ते त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणः ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! अपने कुटुम्बके लोग गुणहीन हों, तो भी उनकी रक्षा करनी चाहिये । फिर जो आपके कृपाभिलाषी एवं गुणवान् हैं, उनकी तो बात ही क्या है ॥ २० ॥

प्रसादं कुरु वीराणां पाण्डवानां विशाम्पते ।
दीयन्तां ग्रामकाः केचित् तेषां वृत्त्यर्थमीश्वर ॥ २१ ॥

राजन् ! आप समर्थ हैं, वीर पाण्डवोंपर कृपा कीजिये और उनकी जीविकाके लिये कुछ गाँव दे दीजिये ॥ २१ ॥

एवं लोके यशः प्राप्तं भविष्यति नराधिप ।
वृद्धेन हि त्वया कार्यं पुत्राणां तात शासनम् ॥ २२ ॥

नरेश्वर ! ऐसा करनेसे आपको इस संसारमें यश प्राप्त होगा। तात ! आप वृद्ध हैं, इसलिये आपको अपने पुत्रोंपर शासन करना चाहिये ॥ २२ ॥

मया चापि हितं वाच्यं विद्धि मां त्वद्धितैषिणम्।
ज्ञातिभिर्विग्रहस्तात न कर्तव्यः शुभार्थिना।
सुखानि सह भोज्यानि ज्ञातिभिर्भरतर्षभ ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मुझे भी आपके हितकी ही बात कहनी चाहिये। आप मुझे अपना हितैषी समझें। तात ! शुभ चाहनेवालेको अपने जातिभाइयोंके साथ झगड़ा नहीं करना चाहिये; बल्कि उनके साथ मिलकर सुखका उपभोग करना चाहिये ॥ २३ ॥

सम्भोजनं संकथनं सम्प्रीतिश्च परस्परम्।
ज्ञातिभिः सह कार्याणि न विरोधः कदाचन ॥ २४ ॥

जाति-भाइयोंके साथ परस्पर भोजन, बातचीत एवं प्रेम करना ही कर्तव्य है; उनके साथ कभी विरोध नहीं करना चाहिये ॥ २४ ॥

ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च।
सुवृत्तास्तारयन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ॥ २५ ॥

इस जगत्‌में जाति-भाई ही तारते और जाति-भाई ही डुबाते भी हैं। उनमें जो सदाचारी हैं, वे तो तारते हैं और दुराचारी डुबा देते हैं ॥ २५ ॥

सुवृत्तो भव राजेन्द्र पाण्डवान् प्रति मानद।
अधर्षणीयः शत्रूणां तैर्वृतस्त्वं भविष्यसि ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! आप पाण्डवोंके प्रति सद्‌व्यवहार करें। मानद ! उनसे सुरक्षित होकर आप शत्रुओंके लिये दुर्धर्ष हो जायँ ॥

श्रीमन्तं ज्ञातिमासाद्य यो ज्ञातिरवसीदति।
दिग्धहस्तं मृग इव स एनस्तस्य विन्दति ॥ २७ ॥

विषैले बाण हाथमें लिये हुए व्याधके पास पहुँचकर जैसे मृगको कष्ट भोगना पड़ता है, उसी प्रकार जो जातीय बन्धु अपने धनी बन्धुके पास पहुँचकर दुःख पाता है, उसके पापका भागी वह धनी होता है ॥ २७ ॥

पश्चादपि नरश्रेष्ठ तव तापो भविष्यति।
तान् वा हतान् सुतान् वापि श्रुत्वा तदनुचिन्तय ॥ २८ ॥

नरश्रेष्ठ ! आप पाण्डवोंको अथवा अपने पुत्रोंको मारे गये सुनकर पीछे संताप करेंगे; अतः इस बातका पहले ही विचार कर लीजिये ॥ २८ ॥

येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा।
आदावेव न तत् कुर्यादध्रुवे जीविते सति ॥ २९ ॥

इस जीवनका कोई ठिकाना नहीं है अतएव जिस कर्मके करनेसे (अन्तमें) खटियापर बैठकर पछताना पड़े, उसको पहलेसे ही नहीं करना चाहिये ॥ २९ ॥

न कश्चिन्नापनयते पुमानन्यत्र भार्गवात्।
शेषसम्प्रतिपत्तिस्तु बुद्धिमत्स्वेव तिष्ठति ॥ ३० ॥

शुक्राचार्यके सिवा दूसरा कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जो नीतिका उल्लङ्घन नहीं करता; अतः जो बीत गया, सो बीत गया, शेष कर्तव्यका विचार (आप-जैसे) बुद्धिमान् पुरुषोंपर ही निर्भर है ॥ ३० ॥

दुर्योधनेन यद्येतत् पापं तेषु पुराकृतम्।
त्वया तत् कुलवृद्धेन प्रत्यानेयं नरेश्वर ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! दुर्योधनने पहले यदि पाण्डवोंके प्रति यह अपराध किया है तो आप इस कुलमें बड़े-बूढ़े हैं; आपके द्वारा उसका मार्जन हो जाना चाहिये ॥ ३१ ॥

तांस्त्वं पदे प्रतिष्ठाप्य लोके विगतकल्मषः।
भविष्यसि नरश्रेष्ठ पूजनीयो मनीषिणाम् ॥ ३२ ॥

नरश्रेष्ठ ! यदि आप उनको राजपदपर स्थापित कर देंगे तो संसारमें आपका कलङ्क धुल जायगा और आप बुद्धिमान् पुरुषोंके माननीय हो जायँगे ॥ ३२ ॥

सुव्याहृतानि धीराणां फलतः परिचिन्त्य यः।
अध्यवस्यति कार्येषु चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३३ ॥

जो धीर पुरुषोंके वचनोंके परिणामपर विचार करके उन्हें कार्यरूपमें परिणत करता है, वह चिरकालतक यशका भागी बना रहता है ॥ ३३ ॥

असम्यगुपयुक्तं हि ज्ञानं सुकुशलैरपि।
उपलभ्यं चाविदितं विदितं चाननुष्ठितम् ॥ ३४ ॥

अत्यन्त कुशल विद्वानोंके द्वारा भी उपदेश किया हुआ ज्ञान व्यर्थ ही है, यदि उससे कर्तव्यका ज्ञान न हुआ अथवा ज्ञान होनेपर भी उसका अनुष्ठान न हुआ ॥ ३४ ॥

पापोदयफलं विद्वान् यो नारभति वर्धते।
यस्तु पूर्वकृतं पापमविमृश्यानुवर्तते।
अगाधपङ्के दुर्मेधा विषमे विनिपात्यते ॥ ३५ ॥

जो विद्वान् पापरूप फल देनेवाले कर्मोंका आरम्भ नहीं करता, वह बढ़ता है; किंतु जो पूर्वमें किये हुए पापोंका विचार न करके उन्हींका अनुसरण करता है, वह खोटी बुद्धिवाला मनुष्य अगाध कीचड़से भरे हुए घोर नरकमें गिराया जाता है ॥ ३५ ॥

मन्त्रभेदस्य षट् प्राज्ञो द्वाराणीमानि लक्षयेत्।
अर्थसंततिकामश्च रक्षेदेतानि नित्यशः ॥ ३६ ॥
मदं स्वप्नमविज्ञानमाकारं चात्मसम्भवम्।
दुष्टामात्येषु विश्रम्भं दूताच्चाकुशलादपि ॥ ३७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष मन्त्रभेदके इन छः द्वारोंको जाने और धनको रक्षित रखनेकी इच्छासे इन्हें सदा बंद रक्खे— मादक वस्तुओंका सेवन, निद्रा, आवश्यक बातोंकी जानकारी

न रखना; अपने नेत्र-मुख आदिका विकार; दुष्ट मन्त्रियोंपर विश्वास और कार्यमें अकुशल दूतपर भी भरोसा रखना ॥

द्वाराण्येतानि यो ज्ञात्वा संवृणोति सदा नृप ।
त्रिवर्गाचरणे युक्तः स शत्रूनधितिष्ठति ॥ ३८ ॥

राजन् ! जो इन द्वारोंको जानकर सदा बंद किये रहता है, वह अर्थ, धर्म और कामके सेवनमें लगा रहकर शत्रुओंको वशमें कर लेता है ॥ ३८ ॥

न वै श्रुतमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य वा ।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ॥ ३९ ॥

बृहस्पतिके समान मनुष्य भी शास्त्रज्ञान अथवा वृद्धोंकी सेवा किये बिना धर्म और अर्थका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते ॥ ३९ ॥

नष्टं समुद्रे पतितं नष्टं वाक्यमशृण्वति ।
अनात्मनि श्रुतं नष्टं नष्टं हुतमनग्निकम् ॥ ४० ॥

समुद्रमें गिरी हुई वस्तु विनाशको प्राप्त हो जाती है; जो सुनता नहीं, उससे कही हुई बात भी विनष्ट हो जाती है; अजितेन्द्रिय पुरुषका शास्त्रज्ञान और राखमें किया हुआ हवन भी नष्ट ही है ॥ ४० ॥

मत्या परीक्ष्य मेधावी बुद्ध्या सम्पाद्य चासकृत्।
श्रुत्वा दृष्ट्वाथ विज्ञाय प्राज्ञैर्मैत्रीं समाचरेत् ॥ ४१ ॥

बुद्धिमान् पुरुष बुद्धिसे जाँचकर अपने अनुभवसे बारंबार उनकी योग्यताका निश्चय करे; फिर दूसरोंसे सुनकर और स्वयं देखकर भलीभाँति विचार करके विद्वानोंके साथ मित्रता करे ॥ ४१ ॥

अकीर्तिं विनयो हन्ति हन्त्यनर्थं पराक्रमः ।
हन्ति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥ ४२ ॥

विनयभाव अपयशका नाश करता है, पराक्रम अनर्थको दूर करता है, क्षमा सदा ही क्रोधका नाश करती है और सदाचार कुलक्षणका अन्त करता है ॥ ४२ ॥

परिच्छदेन क्षेत्रेण वेश्मना परिचर्यया ।
परीक्षेत कुलं राजन् भोजनाच्छादनेन च ॥ ४३ ॥

राजन् ! नाना प्रकारके परिच्छद[1], माता, घर, सेवा-शुश्रूषा और भोजन तथा वस्त्रके द्वारा कुलकी परीक्षा करे ॥

उपस्थितस्य कामस्य प्रतिवादो न विद्यते ।
अपि निर्मुक्तदेहस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥ ४४ ॥

देहाभिमानसे रहित पुरुषके पास भी यदि न्याययुक्त पदार्थ स्वतः उपस्थित हो तो वह उसका विरोध नहीं करता, फिर कामासक्त मनुष्यके लिये तो कहना ही क्या है ! ॥४४॥

प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं धार्मिकं प्रियदर्शनम् ।
मित्रवन्तं सुवाक्यं च सुहृदं परिपालयेत् ॥ ४५ ॥

जो विद्वानोंकी सेवामें रहनेवाला, वैद्य, धार्मिक, देखनेमें सुन्दर, मित्रोंसे युक्त तथा मधुरभाषी हो, ऐसे सुहृद्की सर्वथा रक्षा करनी चाहिये ॥ ४५ ॥

दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लङ्घयेत् ।
धर्मापेक्षी मृदुर्ह्रीमान् स कुलीनशताद् वरः ॥ ४६ ॥

अधम कुलमें उत्पन्न हुआ हो या उत्तम कुलमें—जो मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करता, धर्मकी अपेक्षा रखता है, कोमल स्वभाववाला तथा सलज्ज है, वह सैकड़ों कुलीनोंसे बढ़कर है ॥ ४६ ॥

ययोश्चित्तेन वा चित्तं निभृतं निभृतेन वा ।
समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यति ॥ ४७ ॥

जिन दो मनुष्योंका चित्तसे चित्त, गुप्त रहस्यसे गुप्त रहस्य और बुद्धिसे बुद्धि मिल जाती है, उनकी मित्रता कभी नष्ट नहीं होती ॥ ४७ ॥

दुर्बुद्धिमकृतप्रज्ञं छन्नं कूपं तृणैरिव ।
विवर्जयीत मेधावी तस्मिन् मैत्री प्रणश्यति ॥ ४८ ॥

मेधावी पुरुषको चाहिये कि तृणसे ढँके हुए कुएँकी भाँति दुर्बुद्धि एवं विचारशक्तिसे हीन पुरुषका परित्याग कर दे; क्योंकि उसके साथ की हुई मित्रता नष्ट हो जाती है ॥४८॥

अवलिप्तेषु मूर्खेषु रौद्रसाहसिकेषु च ।
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद् बुधः ॥ ४९ ॥

विद्वान् पुरुषको उचित है कि अभिमानी, मूर्ख, क्रोधी, साहसिक और धर्महीन पुरुषोंके साथ मित्रता न करे ॥४९॥

कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम् ।
जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते॥ ५० ॥

मित्र तो ऐसा होना चाहिये, जो कृतज्ञ, धार्मिक, सत्यवादी, उदार, दृढ़ अनुराग रखनेवाला, जितेन्द्रिय, मर्यादाके भीतर रहनेवाला और मैत्रीका त्याग न करनेवाला हो ॥ ५० ॥

इन्द्रियाणामनुत्सर्गो मृत्युनापि विशिष्यते ।
अत्यर्थं पुनरुत्सर्गः सादयेद् दैवतान्यपि ॥ ५१ ॥

इन्द्रियोंको सर्वथा रोक रखना तो मृत्युसे भी बढ़कर कठिन है और उन्हें बिलकुल खुली छोड़ देना देवताओंका भी नाश कर देता है ॥ ५१ ॥

मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः ।
आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चाविमानना ॥ ५२ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति कोमलताका भाव, गुणोंमें दोष न देखना, क्षमा, धैर्य और मित्रोंका अपमान न करना—ये सब गुण आयुको बढ़ानेवाले हैं—ऐसा विद्वान्‌लोग कहते हैं ॥

आप्नीतं सुनीतेन योऽर्थं प्रत्यानिनीषते ।
मतिमास्थाय सुदृढां तदकापुरुषव्रतम् ॥ ५३ ॥

१. हाथी, घोड़े, रथ आदि ।

जो नष्ट हुए धनको स्थिर बुद्धिका आश्रय ले अच्छी नीतिसे पुनः लौटा लानेकी इच्छा करता है, वह वीर पुरुषोंका-सा आचरण करता है ॥ ५३ ॥

आयत्यां प्रतिकारज्ञस्तदात्वे दृढनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञो नरोऽर्थैर्न प्रहीयते ॥ ५४ ॥

जो आनेवाले दुःखको रोकनेका उपाय जानता है, वर्तमानकालिक कर्तव्यके पालनमें दृढ़ निश्चय रखनेवाला है और अतीतकालमें जो कर्तव्य शेष रह गया है, उसे भी जानता है, वह मनुष्य कभी अर्थसे हीन नहीं होता ॥ ५४ ॥

कर्मणा मनसा वाचा यदभीक्ष्णं निषेवते ।
तदेवापहरत्येनं तस्मात् कल्याणमाचरेत् ॥ ५५ ॥

मनुष्य मन, वाणी और कर्मसे जिसका निरन्तर सेवन करता है, वह कार्य उस पुरुषको अपनी ओर खींच लेता है। इसलिये सदा कल्याणकारी कार्योंको ही करे ॥ ५५ ॥

मङ्गलालम्भनं योगः श्रुतमुत्थानमार्जवम् ।
भूतिमेतानि कुर्वन्ति सतां चाभीक्ष्णदर्शनम् ॥ ५६ ॥

माङ्गलिक पदार्थोंका स्पर्श, चित्तवृत्तियोंका निरोध, शास्त्रका अभ्यास, उद्योगशीलता, सरलता और सत्पुरुषोंका बारंबार दर्शन—ये सब कल्याणकारी हैं ॥ ५६ ॥

अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च ।
महान् भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानन्त्यमश्नुते ॥ ५७ ॥

उद्योगमें लगे रहना—उससे विरक्त न होना धन, लाभ और कल्याणका मूल है। इसलिये उद्योग न छोड़नेवाला मनुष्य महान् हो जाता है और अनन्त सुखका उपभोग करता है ॥ ५७ ॥

नातः श्रीमत्तरं किंचिदन्यत् पथ्यतमं मतम् ।
प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वदा ॥ ५८ ॥

तात ! समर्थ पुरुषके लिये सब जगह और सब समयमें क्षमाके समान हितकारक और अत्यन्त श्रीसम्पन्न बनानेवाला उपाय दूसरा नहीं माना गया है ॥ ५८ ॥

क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान् धर्मकारणात् ।
अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता ॥ ५९ ॥

जो शक्तिहीन है, वह तो सबपर क्षमा करे ही; जो शक्तिमान् है, वह भी धर्मके लिये क्षमा करे तथा जिसकी दृष्टिमें अर्थ और अनर्थ दोनों समान हैं, उसके लिये तो क्षमा सदा ही हितकारिणी होती है ॥ ५९ ॥

यत् सुखं सेवमानोऽपि धर्मार्थाभ्यां न हीयते ।
कामं तदुपसेवेत न मूढव्रतमाचरेत् ॥ ६० ॥

जिस सुखका सेवन करते रहनेपर भी मनुष्य धर्म और अर्थसे भ्रष्ट नहीं होता, उसका यथेष्ट सेवन करे; किंतु मूढव्रत (निद्रा-प्रमादादिका सेवन) न करे ॥ ६० ॥

दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च ।
न श्रीर्वसत्यदान्तेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ॥ ६१ ॥

जो दुःखसे पीड़ित, प्रमादी, नास्तिक, आलसी, अजितेन्द्रिय और उत्साहरहित हैं, उनके यहाँ लक्ष्मीका वास नहीं होता ॥ ६१ ॥

आर्जवेन नरं युक्तमार्जवात् सव्यपत्रपम् ।
अशक्तं मन्यमानास्तु धर्षयन्ति कुबुद्धयः ॥ ६२ ॥

दुष्ट बुद्धिवाले लोग सरलतासे युक्त और सरलताके ही कारण लज्जाशील मनुष्यको अशक्त मानकर उसका तिरस्कार करते हैं ॥ ६२ ॥

अत्यार्यमतिदातारमतिशूरमतिव्रतम् ।
प्रज्ञाभिमानिनं चैव श्रीर्भयान्नोपसर्पति ॥ ६३ ॥

अत्यन्त श्रेष्ठ, अतिशय दानी, अतीव शूरवीर, अधिक व्रत-नियमोंका पालन करनेवाले और बुद्धिके घमंडमें चूर रहनेवाले मनुष्यके पास लक्ष्मी भयके मारे नहीं जाती ॥ ६३ ॥

न चातिगुणवत्स्वेषा नात्यन्तं निर्गुणेषु च ।
नैषा गुणान् कामयते नैर्गुण्यान्नानुरज्यते ।
उन्मत्ता गौरिवान्धा श्रीः क्वचिदेवावतिष्ठते ॥ ६४ ॥

लक्ष्मी न तो अत्यन्त गुणवानोंके पास रहती है और न बहुत निर्गुणोंके पास। यह न तो बहुत-से गुणोंको चाहती है और न गुणहीनताके प्रति ही अनुराग रखती है। उन्मत्त गौकी भाँति यह अन्धी लक्ष्मी कहीं-कहीं ही ठहरती है ॥

अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ।
रतिपुत्रफला नारी दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ ६५ ॥

वेदोंका फल है अग्निहोत्र करना, शास्त्राध्ययनका फल है सुशीलता और सदाचार, स्त्रीका फल है रतिसुख और पुत्रकी प्राप्ति तथा धनका फल है दान और उपभोग ॥ ६५ ॥

अधर्मोपार्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।
न स तस्य फलं प्रेत्य भुङ्क्तेऽर्थस्य दुरागमात् ॥ ६६ ॥

जो अधर्मके द्वारा कमाये हुए धनसे पारलौकिक कर्म करता है, वह मरनेके पश्चात् उसके फलको नहीं पाता; क्योंकि उसका धन बुरे रास्तेसे आया होता है ॥ ६६ ॥

कान्तारे वनदुर्गेषु कृच्छ्रास्वापत्सु सम्भ्रमे ।
उद्यतेषु च शस्त्रेषु नास्ति सत्त्ववतां भयम् ॥ ६७ ॥

घोर जंगलमें, दुर्गम मार्गमें, कठिन आपत्तिके समय, घबराहटमें और प्रहारके लिये शस्त्र उठे रहनेपर भी सत्त्वसम्पन्न अर्थात् आत्मबलसे युक्त पुरुषोंको भय नहीं होता ॥

उत्थानं संयमो दाक्ष्यमप्रमादो धृतिः स्मृतिः ।
समीक्ष्य च समारम्भो विद्धि मूलं भवस्य तु ॥ ६८ ॥

उद्योग, संयम, दक्षता, सावधानी, धैर्य, स्मृति और सोच-विचारकर कार्यारम्भ करना—इन्हें उन्नतिका मूलमन्त्र समझिये ॥ ६८ ॥

तपो बलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ६९ ॥

तपस्वियोंका बल है तप, वेदवेत्ताओंका बल है वेद, पापियोंका बल है हिंसा और गुणवानोंका बल है क्षमा ॥ ६९ ॥

अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः ।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ॥ ७० ॥

जल, मूल, फल, दूध, घी, ब्राह्मणकी इच्छापूर्ति, गुरुका वचन और औषध—ये आठ व्रतके नाशक नहीं होते ॥ ७० ॥

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।
संग्रहेणैष धर्मः स्यात् कामादन्यः प्रवर्तते ॥ ७१ ॥

जो अपने प्रतिकूल जान पड़े, उसे दूसरोंके प्रति भी न करे । थोड़ेमें धर्मका यही स्वरूप है । इसके विपरीत जिसमें कामनासे प्रवृत्ति होती है, वह तो अधर्म है ॥ ७१ ॥

अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत् ।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ॥ ७२ ॥

अक्रोधसे क्रोधको जीते, असाधुको सद्व्यवहारसे वशमें करे, कृपणको दानसे जीते और झूठपर सत्यसे विजय प्राप्त करे ॥ ७२ ॥

स्त्रीधूर्तकेऽलसे भीरौ चण्डे पुरुषमानिनि ।
चौरे कृतघ्ने विश्वासो न कार्यो न च नास्तिके ॥ ७३ ॥

स्त्रीलम्पट, आलसी, डरपोक, क्रोधी, पुरुषत्वके अभिमानी, चोर, कृतघ्न और नास्तिकका विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ७३ ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते कीर्तिरायुर्यशो बलम् ॥ ७४ ॥

जो नित्य गुरुजनोंको प्रणाम करता है और वृद्ध पुरुषोंकी सेवामें लगा रहता है, उसकी कीर्ति, आयु, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं ॥ ७४ ॥

अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण वा ।
अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ ७५ ॥

जो धन अत्यन्त क्लेश उठानेसे, धर्मका उल्लङ्घन करनेसे अथवा शत्रुके सामने सिर झुकानेसे प्राप्त होता हो, उसमें आप मन न लगाइये ॥ ७५ ॥

अविद्यः पुरुषः शोच्यः शोच्यं मैथुनमप्रजम् ।
निराहाराः प्रजाः शोच्याः शोच्यं राष्ट्रमराजकम् ॥ ७६ ॥

विद्याहीन पुरुष, संतानोत्पत्तिरहित स्त्रीप्रसङ्ग, आहार न पानेवाली प्रजा और बिना राजाके राष्ट्रके लिये शोक करना चाहिये ॥ ७६ ॥

अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा ।
असम्भोगो जरा स्त्रीणां वाक्शल्यं मनसो जरा ॥ ७७ ॥

अधिक राह चलना देहधारियोंके लिये दुःखरूप बुढ़ापा है, बराबर पानी गिरना पर्वतोंका बुढ़ापा है, सम्भोगसे वञ्चित रहनेका दुःख स्त्रियोंके लिये बुढ़ापा है और वचनरूपी बाणोंका आघात मनके लिये बुढ़ापा है ॥ ७७ ॥

अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ॥ ७८ ॥
मलं पृथिव्या बाह्लीकाः पुरुषस्यानृतं मलम् ।
कौतूहलमला साध्वी विप्रवासमलाः स्त्रियः ॥ ७९ ॥

अभ्यास न करना वेदोंका मल है; ब्राह्मणोचित नियमोंका पालन न करना ब्राह्मणका मल है, बाह्लीकदेश (बलख-बुखारा) पृथ्वीका मल है तथा झूठ बोलना पुरुषका मल है, क्रीडा एवं हास-परिहासकी उत्सुकता पतिव्रता स्त्रीका मल है और पतिके बिना परदेशमें रहना स्त्रीमात्रका मल है ॥

सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु ।
ज्ञेयं त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम् ॥ ८० ॥

सोनेका मल है चाँदी, चाँदीका मल है राँगा, राँगेका मल है सीसा और सीसेका भी मल है मैलापन ॥ ८० ॥

न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन जयेत् स्त्रियः ।
नेन्धनेन जयेदग्निं न पानेन सुरां जयेत् ॥ ८१ ॥

अधिक सोकर नींदको जीतनेका प्रयास न करे, कामोपभोगके द्वारा स्त्रीको जीतनेकी इच्छा न करे, लकड़ी डालकर आगको जीतनेकी आशा न रक्खे और अधिक पीकर मदिरा पीनेकी आदतको जीतनेका प्रयास न करे ॥ ८१ ॥

यस्य दानजितं मित्रं शत्रवो युधि निर्जिताः ।
अन्नपानजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम् ॥ ८२ ॥

जिसका मित्र धन-दानके द्वारा वशमें आ चुका है, शत्रु युद्धमें जीत लिये गये हैं और स्त्रियाँ खान-पानके द्वारा वशीभूत हो चुकी हैं, उसका जीवन सफल है अर्थात् सुखमय है ॥ ८२ ॥

सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा ।
धृतराष्ट्र विमुञ्चेच्छां न कथञ्चिन्न जीव्यते ॥ ८३ ॥

जिनके पास हजार (रुपये) हैं, वे भी जीवित हैं तथा जिनके पास सौ (रुपये) हैं, वे भी जीवित हैं; अतः महाराज धृतराष्ट्र ! आप अधिकका लोभ छोड़ दीजिये, इससे भी किसी तरह जीवन नहीं रहेगा, यह बात नहीं है ॥ ८३ ॥

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति पश्यन् न मुह्यति ॥ ८४ ॥

इस पृथ्वीपर जो भी धान, जौ, सोना, पशु और स्त्रियाँ

हैं, वे सबके सब एक पुरुषके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं (अर्थात् उनसे किसीकी भी तृप्ति नहीं हो सकती)। ऐसा विचार करनेवाला मनुष्य मोहमें नहीं पड़ता ॥ ८४ ॥

राजन् भूयो ब्रवीमि त्वां पुत्रेषु सममाचर।
समता यदि ते राजन् स्वेषु पाण्डुसुतेषु वा ॥८५॥

राजन्! मैं फिर कहता हूँ, यदि आपका अपने पुत्रों और पाण्डवोंमें समानभाव है तो उन सभी पुत्रोंके साथ एक-सा बर्ताव कीजिये ॥ ८५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

धर्मकी महत्ताका प्रतिपादन तथा ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके धर्मका संक्षिप्त वर्णन

विदुर उवाच

योऽभ्यर्चितः सद्भिरसज्जमानः
करोत्यर्थं शक्तिमहापयित्वा।
क्षिप्रं यशस्तं समुपैति सन्त-
मलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्तः ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! जो सज्जन पुरुषोंसे आदर पाकर आसक्तिरहित हो अपनी शक्तिके अनुसार (न्यायपूर्वक) अर्थ-साधन करता रहता है, उस श्रेष्ठ पुरुषको शीघ्र ही सुयशकी प्राप्ति होती है; क्योंकि संत जिसपर प्रसन्न होते हैं, वह सदा सुखी रहता है ॥ १ ॥

महान्तमप्यर्थमधर्मयुक्तं
यः संत्यजत्यनपाकृष्ट एव।
सुखं सुदुःखान्यवमुच्य शेते
जीर्णां त्वचं सर्प इवावमुच्य ॥ २ ॥

जो अधर्मसे उपार्जित महान् धनराशिको भी उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना ही त्याग देता है, वह जैसे साँप अपनी पुरानी केंचुलको छोड़ता है, उसी प्रकार दुःखोंसे मुक्त हो सुखपूर्वक शयन करता है ॥ २ ॥

अनृते च समुत्कर्षो राजगामि च पैशुनम्।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ३ ॥

झूठ बोलकर उन्नति करना, राजाके पासतक चुगली करना, गुरुजनपर भी झूठा दोषारोपण करनेका आग्रह करना—ये तीन कार्य ब्रह्महत्याके समान हैं ॥ ३ ॥

असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः।
अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ॥ ४ ॥

गुणोंमें दोष देखना एकदम मृत्युके समान है, निन्दा करना लक्ष्मीका वध है तथा सेवाका अभाव, उतावलापन और आत्मप्रशंसा—ये तीन विद्याके शत्रु हैं ॥ ४ ॥

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥ ५ ॥

आलस्य, मद-मोह, चञ्चलता, गोष्ठी, उद्दण्डता, अभिमान और स्वार्थत्यागका अभाव—ये सात विद्यार्थियोंके लिये सदा ही दोष माने गये हैं ॥ ५ ॥

सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥ ६ ॥

सुख चाहनेवालेको विद्या कहाँसे मिले ? विद्या चाहनेवालेके लिये सुख नहीं है; सुखकी चाह हो तो विद्याको छोड़े और विद्या चाहे तो सुखका त्याग करे ॥ ६ ॥

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ ७ ॥

ईंधनसे आगकी, नदियोंसे समुद्रकी, समस्त प्राणियोंसे मृत्युकी और पुरुषोंसे कुलटा स्त्रीकी कभी तृप्ति नहीं होती ॥

आशा धृतिं हन्ति समृद्धिमन्तकः
क्रोधः श्रियं हन्ति यशः कदर्यता।
अपालनं हन्ति पशूंश्च राज-
न्नेकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम् ॥ ८ ॥

आशा धैर्यको, यमराज समृद्धिको, क्रोध लक्ष्मीको, कृपणता यशको और सार-सँभालका अभाव पशुओंको नष्ट कर देता है, परंतु राजन्! ब्राह्मण यदि अकेला ही क्रुद्ध हो जाय तो सम्पूर्ण राष्ट्रका नाश कर देता है ॥ ८ ॥

अजाश्च कांस्यं रजतं च नित्यं
मध्वाकर्षः शकुनिः श्रोत्रियश्च।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीन
एतानि ते सन्तु गृहे सदैव ॥ ९ ॥

बकरियाँ, काँसेका पात्र, चाँदी, मधु, धनुष, पक्षी, वेदवेत्ता ब्राह्मण, बूढ़ा कुटुम्बी और विपत्तिग्रस्त कुलीन पुरुष—ये सब आपके घरमें सदा मौजूद रहें ॥ ९ ॥

अजोक्षा चन्दनं वीणा आदर्शो मधुसर्पिषी।
विषमौदुम्बरं शङ्खः स्वर्णनाभोऽथ रोचना ॥ १० ॥
गृहे स्थापयितव्यानि धन्यानि मनुरब्रवीत्।
देवब्राह्मणपूजार्थमतिथीनां च भारत ॥ ११ ॥

भारत! मनुजीने कहा है कि देवता, ब्राह्मण तथा अतिथियोंकी पूजाके लिये बकरी, बैल, चन्दन, वीणा, दर्पण, मधु, घी, जल, ताँबेके बर्तन, शङ्ख, शालग्राम और गोरोचन—ये सब वस्तुएँ घरपर रखनी चाहिये ॥ १०-११ ॥

इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि
पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम्।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ॥ १२ ॥
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।
त्यक्त्वानित्यं प्रतितिष्ठस्व नित्ये
संतुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः ॥ १३ ॥

तात! अब मैं तुम्हें यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं सर्वोपरि पुण्यजनक बात बता रहा हूँ—कामनासे, भयसे, लोभसे तथा इस जीवनके लिये भी कभी धर्मका त्याग न करे। धर्म नित्य है, किंतु सुख-दुःख अनित्य हैं। जीव नित्य है, पर इसका कारण अनित्य है। आप अनित्यको छोड़कर नित्यमें स्थित होइये और संतोष धारण कीजिये; क्योंकि संतोष ही सबसे बड़ा लाभ है ॥ १२-१३ ॥

महाबलान् पश्य महानुभावान्
प्रशास्य भूमिं धनधान्यपूर्णाम्।
राज्यानि हित्वा विपुलांश्च भोगान्
गतान् नरेन्द्रान् वशमन्तकस्य ॥ १४ ॥

धन-धान्यादिसे परिपूर्ण पृथ्वीका शासन करके अन्तमें समस्त राज्य और विपुल भोगोंको यहीं छोड़कर यमराजके वशमें गये हुए बड़े-बड़े बलवान् एवं महानुभाव राजाओंकी ओर दृष्टि डालिये ॥ १४ ॥

मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या
उत्क्षिप्य राजन् स्वगृहान्निर्हरन्ति।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्ति
चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपन्ति ॥ १५ ॥

राजन्! जिसको बड़े कष्टसे पाला-पोसा था, वही पुत्र जब मर जाता है, तब मनुष्य उसे उठाकर तुरंत अपने घरसे बाहर कर देते हैं। पहले तो उसके लिये बाल छितराये करुणाभरे स्वरमें विलाप करते हैं, फिर साधारण काठकी भाँति उसे जलती चितामें झोंक देते हैं ॥ १५ ॥

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते
वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून्।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र
पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥ १६ ॥

मरे हुए मनुष्यका धन दूसरे लोग भोगते हैं, उसके शरीरकी धातुओंको पक्षी खाते हैं या आग जलाती है। यह मनुष्य पुण्य-पापसे बँधा हुआ इन्हीं दोनोंके साथ परलोकमें गमन करता है ॥ १६ ॥

उत्सृज्य विनिवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदः सुताः।
अपुष्पानफलान् वृक्षान् यथा तात पतत्रिणः ॥ १७ ॥

तात! बिना फल-फूलके वृक्षको जैसे पक्षी छोड़ देते हैं, उसी प्रकार उस प्रेतको उसके जातिवाले, सुहृद् और पुत्र चितामें छोड़कर लौट आते हैं ॥ १७ ॥

अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयंकृतम्।
तस्मात् तु पुरुषो यत्नाद् धर्मं संचिनुयाच्छनैः ॥ १८ ॥

अग्निमें डाले हुए उस पुरुषके पीछे तो केवल उसका अपना किया हुआ बुरा या भला कर्म ही जाता है। इसलिये पुरुषको चाहिये कि वह धीरे-धीरे प्रयत्नपूर्वक धर्मका ही संग्रह करे ॥ १८ ॥

अस्माल्लोकादूर्ध्वममुष्य चाधो
महत् तमस्तिष्ठति ह्यन्धकारम्।
तद् वै महामोहनमिन्द्रियाणां
बुध्यस्व मा त्वां प्रलभेत राजन् ॥ १९ ॥

इस लोक और परलोकसे ऊपर और नीचेतक सर्वत्र अज्ञानरूप महान् अन्धकार फैला हुआ है। वह इन्द्रियोंको महान् मोहमें डालनेवाला है। राजन्! आप इसको जान लीजिये, जिससे यह आपका स्पर्श न कर सके ॥ १९ ॥

इदं वचः शक्ष्यसि चेद् यथाव-
न्निशम्य सर्वं प्रतिपत्तुमेव।
यशः परं प्राप्स्यसि जीवलोके
भयं न चामुत्र न चेह तेऽस्ति ॥ २० ॥

मेरी इस बातको सुनकर यदि आप सब ठीक-ठीक समझ सकेंगे तो इस मनुष्यलोकमें आपको महान् यश प्राप्त होगा और इहलोक तथा परलोकमें आपके लिये भय नहीं रहेगा ॥ २० ॥

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था
सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा
पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव ॥ २१ ॥

भारत! यह जीवात्मा एक नदी है। इसमें पुण्य ही तीर्थ है। सत्यस्वरूप परमात्मासे इसका उद्गम हुआ है। धैर्य ही इसके किनारे हैं। दया इसकी लहरें हैं। पुण्यकर्म करनेवाला मनुष्य इसमें स्नान करके पवित्र होता है; क्योंकि लोभरहित आत्मा सदा पवित्र ही है ॥ २१ ॥

कामक्रोधग्राहवतीं पञ्चेन्द्रियजलां नदीम्।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥ २२ ॥

काम-क्रोधादिरूप ग्राहसे भरी, पाँच इन्द्रियोंके जलसे

पूर्ण इस संसारनदीके जन्म-मरणरूप दुर्गम प्रवाहको धैर्यकी नौका बनाकर पार कीजिये ॥ २२ ॥

प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुं
विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम्।
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य
यः सम्पृच्छेन्न स मुह्येत् कदाचित् ॥२३॥

जो बुद्धि, धर्म, विद्या और अवस्थामें बड़े अपने बन्धुको आदर-सत्कारसे प्रसन्न करके उससे कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें प्रश्न करता है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता ॥ २३ ॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा ॥ २४ ॥

शिश्न और उदरकी धैर्यसे रक्षा करे, अर्थात् कामवेग और भूखकी ज्वालाको धैर्यपूर्वक सहे। इसी प्रकार हाथ-पैरकी नेत्रोंसे, नेत्र और कानोंकी मनसे तथा मन और वाणीकी सत्कर्मोंसे रक्षा करे ॥ २४ ॥

नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती
नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी।
सत्यं ब्रुवन् गुरवे कर्म कुर्वन्
न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ॥ २५ ॥

जो प्रतिदिन जलसे स्नान-संध्या-तर्पण आदि करता है, नित्य यज्ञोपवीत धारण किये रहता है, नित्य स्वाध्याय करता है, पतितोंका अन्न त्याग देता है, सत्य बोलता और गुरुकी सेवा करता है, वह ब्राह्मण कभी ब्रह्मलोकसे भ्रष्ट नहीं होता ॥ २५ ॥

अधीत्य वेदान् परिसंस्तीर्य चाग्नी-
निष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च।
गोब्राह्मणार्थे शस्त्रपूतान्तरात्मा
हतः संग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति ॥ २६ ॥

वेदोंको पढ़कर, अग्निहोत्रके लिये अग्निके चारों ओर कुश बिछाकर नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा यजन कर और प्रजाजनोंका पालन करके गौ और ब्राह्मणोंके हितके लिये संग्राममें मृत्युको प्राप्त हुआ क्षत्रिय शस्त्रसे अन्तःकरण पवित्र हो जानेके कारण ऊर्ध्वलोकको जाता है ॥ २६ ॥

वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च
धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं
प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ॥२७॥

वैश्य यदि वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करके ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा आश्रितजनोंको समय-समयपर धन देकर उनकी सहायता करे और यज्ञोंद्वारा तीनों[1] अग्नियोंके पवित्र धूमकी सुगन्ध लेता रहे तो वह मरनेके पश्चात् स्वर्गलोकमें दिव्य सुख भोगता है॥ २७॥

ब्रह्म क्षत्रं वैश्यवर्णं च शूद्रः
क्रमेणैतान् न्यायतः पूजयानः।
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपाप-
स्त्यक्त्वा देहं स्वर्गसुखानि भुङ्क्ते ॥ २८ ॥

शूद्र यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी क्रमसे न्यायपूर्वक सेवा करके इन्हें संतुष्ट करता है तो वह व्यथासे रहित हो पापोंसे मुक्त होकर देह-त्यागके पश्चात् स्वर्गसुखका उपभोग करता है ॥ २८ ॥

चातुर्वर्ण्यस्यैष धर्मस्तवोक्तो
हेतुं चानुब्रुवतो मे निबोध।
क्षात्राद् धर्माद्धीयते पाण्डुपुत्र-
स्तं त्वं राजन् राजधर्मे नियुङ्क्ष्व ॥२९॥

महाराज! आपसे यह मैंने चारों वर्णोंका धर्म बताया है; इसे बतानेका कारण भी सुनिये। आपके कारण पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर क्षत्रियधर्मसे गिर रहे हैं, अतः आप उन्हें पुनः राजधर्ममें नियुक्त कीजिये ॥ २९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एवमेतद् यथा त्वं मामनुशाससि नित्यदा।
ममापि च मतिः सौम्य भवत्येवं यथाऽऽत्थ माम् ॥३०॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! तुम प्रतिदिन मुझे जिस प्रकार उपदेश दिया करते हो, वह बहुत ठीक है। सौम्य! तुम मुझसे जो कुछ भी कहते हो, ऐसा ही मेरा भी विचार है ॥ ३० ॥

सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पाण्डवान् प्रति मे सदा।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते ॥ ३१ ॥

यद्यपि मैं पाण्डवोंके प्रति सदा ऐसी ही बुद्धि रखता हूँ, तथापि दुर्योधनसे मिलनेपर फिर बुद्धि पलट जाती है ॥ ३१ ॥

न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित्।
दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥ ३२ ॥

प्रारब्धका उल्लङ्घन करनेकी शक्ति किसी भी प्राणीमें नहीं है। मैं तो प्रारब्धको ही अचल मानता हूँ, उसके सामने पुरुषार्थ तो व्यर्थ है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

१. गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि—ये तीन अग्नियाँ हैं।

(सनत्सुजातपर्व)

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

विदुरजीके द्वारा स्मरण करनेपर आये हुए सनत्सुजात ऋषिसे धृतराष्ट्रको उपदेश देनेके लिये उनकी प्रार्थना

धृतराष्ट्र उवाच

अनुक्तं यदि ते किंचिद् वाचा विदुर विद्यते ।
तन्मे शुश्रूषतो ब्रूहि विचित्राणि हि भाषसे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! यदि तुम्हारी वाणीसे कुछ और कहना शेष रह गया हो तो कहो, मुझे उसे सुननेकी बड़ी इच्छा है; क्योंकि तुम्हारे कहनेका ढंग विलक्षण है ॥ १ ॥

विदुर उवाच

धृतराष्ट्र कुमारो वै यः पुराणः सनातनः ।
सनत्सुजातः प्रोवाच मृत्युर्नास्तीति भारत ॥ २ ॥

विदुरने कहा—भरतवंशी धृतराष्ट्र! कुमार 'सनत्सुजात' नामसे विख्यात जो (ब्रह्माजीके पुत्र) परम प्राचीन सनातन ऋषि हैं, उन्होंने (एक बार) कहा था—'मृत्यु है ही नहीं' ॥

स ते गुह्यान् प्रकाशांश्च सर्वान् हृदयसंश्रयान् ।
प्रवक्ष्यति महाराज सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ ३ ॥

महाराज ! वे समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं, वे ही आपके हृदयमें स्थित व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकारके प्रश्नोंका उत्तर देंगे ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

किं त्वं न वेद तद् भूयो यन्मे ब्रूयात् सनातनः ।
त्वमेव विदुर ब्रूहि प्रज्ञाशेषोऽस्ति चेत् तव ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! क्या तुम उस तत्त्वको नहीं जानते, जिसे अब पुनः सनातन ऋषि मुझे बतावेंगे ? यदि तुम्हारी बुद्धि कुछ भी काम देती हो तो तुम्हीं मुझे उपदेश करो ॥ ४ ॥

विदुर उवाच

शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद् वक्तुमुत्सहे ।
कुमारस्य तु या बुद्धिर्वेद तां शाश्वतीमहम् ॥ ५ ॥

विदुर बोले—राजन् ! मेरा जन्म शूद्रा स्त्रीके गर्भसे हुआ है, अतः (मेरा अधिकार न होनेसे) इसके अतिरिक्त और कोई उपदेश देनेका मैं साहस नहीं कर सकता, किंतु कुमार सनत्सुजातकी बुद्धि सनातन है, मैं उसे जानता हूँ ॥ ५ ॥

ब्राह्मीं हि योनिमापन्नः सुगुह्यमपि यो वदेत् ।
न तेन गर्ह्यो देवानां तस्मादेतद् ब्रवीमि ते ॥ ६ ॥

ब्राह्मणयोनिमें जिसका जन्म हुआ है, वह यदि गोपनीय तत्त्वका प्रतिपादन कर दे तो देवताओंकी निन्दाका पात्र नहीं बनता । इसी कारण मैं आपको ऐसा कह रहा हूँ ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रवीहि विदुर त्वं मे पुराणं तं सनातनम् ।
कथमेतेन देहेन स्यादिहैव समागमः ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! उन परम प्राचीन सनातन ऋषिका पता मुझे बताओ । भला, इसी देहसे यहाँ ही उनका समागम कैसे हो सकता है ? ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

चिन्तयामास विदुरस्तमृषिं शंसितव्रतम् ।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा दर्शयामास भारत ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर विदुरजीने उत्तम व्रतवाले उन सनातन ऋषिका स्मरण किया । उन्होंने भी यह जानकर कि विदुर मेरा स्मरण कर रहे हैं, प्रत्यक्ष दर्शन दिया ॥ ८ ॥

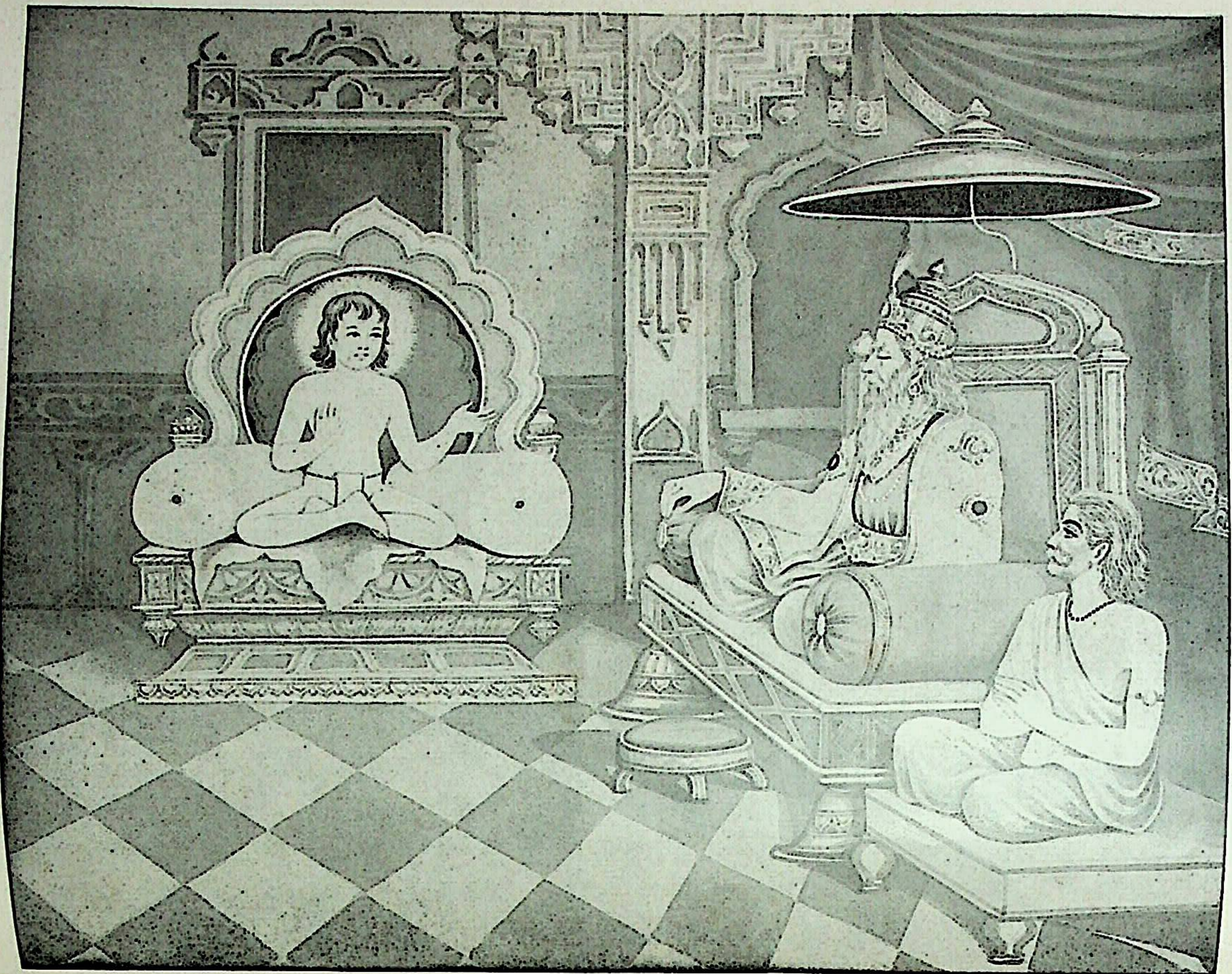
स चैनं प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ।
सुखोपविष्टं विश्रान्तमथैनं विदुरोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

विदुरने शास्त्रोक्त विधिसे पाद्य, अर्घ्य एवं मधुपर्क आदि अर्पण करके उनका स्वागत किया । इसके बाद जब वे सुखपूर्वक बैठकर विश्राम करने लगे, तब विदुरने उनसे कहा—॥ ९ ॥

भगवन् संशयः कश्चिद् धृतराष्ट्रस्य मानसः ।
यो न शक्यो मया वक्तुं त्वमस्मै वक्तुमर्हसि॥ १० ॥

'भगवन् ! धृतराष्ट्रके हृदयमें कुछ संशय है, जिसका समाधान मेरे द्वारा किया जाना उचित नहीं है । आप ही इस विषयका निरूपण करने योग्य हैं ॥ १० ॥

यं श्रुत्वायं मनुष्येन्द्रः सर्वदुःखातिगो भवेत् ।
लाभालाभौ प्रियद्वेष्यौ यथैनं न जरान्तकौ ॥ ११ ॥



श्रीसनत्सुजात और महाराज धृतराष्ट्र

विषहेरन् भयामर्षौ क्षुत्पिपासे मदोद्भवौ ।
अरतिश्चैव तन्द्री च कामक्रोधौ क्षयोदयौ ॥ १२ ॥

जिसे सुनकर ये नरेश सब दुःखोंसे पार हो जायँ और लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय, जरा-मृत्यु, भय-अमर्ष, भूख-प्यास, मद-ऐश्वर्य, चिन्ता-आलस्य, काम-क्रोध तथा अवनति-उन्नति—ये इन्हें कष्ट न पहुँचा सकें ॥ ११-१२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि विदुरकृतसनत्सुजातप्रार्थने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें विदुरजीके द्वारा सनत्सुजातकी प्रार्थनाविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

सनत्सुजातजीके द्वारा धृतराष्ट्रके विविध प्रश्नोंका उत्तर

वैशम्पायन उवाच

ततो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी
सम्पूज्य वाक्यं विदुरेरितं तत् ।
सनत्सुजातं रहिते महात्मा
पप्रच्छ बुद्धिं परमां बुभूषन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर बुद्धिमान् एवं महामना राजा धृतराष्ट्रने विदुरके कहे हुए उस वचनका भलीभाँति आदर करके उत्कृष्ट ज्ञानकी इच्छासे एकान्तमें सनत्सुजात मुनिसे प्रश्न किया ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सनत्सुजात यदिदं शृणोमि
न मृत्युरस्तीति तव प्रवादम् ।
देवासुरा ह्याचरन् ब्रह्मचर्य-
ममृत्यवे तत् कतरन्नु सत्यम् ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—सनत्सुजातजी ! मैं यह सुना करता हूँ कि मृत्यु है ही नहीं, ऐसा आपका सिद्धान्त है । साथ ही यह भी सुना है कि देवता और असुरोंने मृत्युसे बचनेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन किया था । इन दोनोंमें कौन-सी बात यथार्थ है ? ॥ २ ॥

सनत्सुजात उवाच

अमृत्युः कर्मणा केचिन्मृत्युर्नास्तीति चापरे ।
शृणु मे ब्रुवतो राजन् यथैतन्मा विशङ्किथाः ॥ ३ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! (इस विषयमें दो पक्ष हैं) मृत्यु है और वह (ब्रह्मचर्यपालनरूप) कर्मसे दूर होती है—यह एक पक्ष है और 'मृत्यु है ही नहीं'—यह दूसरा पक्ष है । परंतु यह बात जैसी है, वह मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो और मेरे कथनमें संदेह न करना ॥ ३ ॥



उभे सत्ये क्षत्रियैतस्य विद्धि
मोहान्मृत्युः सम्मतोऽयं कवीनाम् ।
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि
तथाप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ॥ ४ ॥

क्षत्रिय ! इस प्रश्नके उक्त दोनों ही पहलुओंको सत्य समझो । कुछ विद्वानोंने मोहवश इस मृत्युकी सत्ता स्वीकार की है; किंतु मेरा कहना तो यह है कि प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद ही अमृत है ॥ ४ ॥

प्रमादाद् वै असुराः पराभव-
न्नप्रमादाद् ब्रह्मभूताः सुराश्च ।
नैव मृत्युर्व्याघ्र इवात्ति जन्तून्
न ह्यस्य रूपमुपलभ्यते हि ॥ ५ ॥

प्रमादके ही कारण असुरगण (आसुरी सम्पत्तिवाले) मृत्युसे पराजित हुए और अप्रमादसे ही देवगण (दैवी सम्पत्तिवाले) ब्रह्मस्वरूप हुए । यह निश्चय है कि मृत्यु व्याघ्रके समान प्राणियोंका भक्षण नहीं करती, क्योंकि उसका कोई रूप देखनेमें नहीं आता ॥ ५ ॥

यमं त्वेके मृत्युमतोऽन्यमाहु-
रात्मावसन्नममृतं ब्रह्मचर्यम् ।
पितृलोके राज्यमनुशास्ति देवः
शिवः शिवानामशिवोऽशिवानाम् ॥ ६ ॥

कुछ लोग इस प्रमादसे भिन्न 'यम' को मृत्यु कहते हैं और हृदयसे दृढ़तापूर्वक पालन किये हुए ब्रह्मचर्यको ही अमृत मानते हैं । यमदेव पितृलोकमें राज्य-शासन करते हैं । वे पुण्यात्माओंके लिये मङ्गलमय और पापियोंके लिये अमङ्गलमय हैं ॥ ६ ॥

अस्यादेशान्निःसरते नराणां
क्रोधः प्रमादो लोभरूपश्च मृत्युः ।
अहंगतेनैव चरन् विमार्गान्
न चात्मनो योगमुपैति कश्चित् ॥ ७ ॥

इन यमकी आज्ञासे ही क्रोध, प्रमाद और लोभरूपी मृत्यु मनुष्योंके विनाशमें प्रवृत्त होती है । अहंकारके वशीभूत होकर विपरीत मार्गपर चलता हुआ कोई भी मनुष्य परमात्माका साक्षात्कार नहीं कर पाता ॥ ७ ॥

ते मोहितास्तद्वशे वर्तमाना
इतः प्रेतास्तत्र पुनः पतन्ति ।
ततस्तान् देवा अनुविप्लवन्ते
अतो मृत्युर्मरणाख्यामुपैति ॥ ८ ॥

मनुष्य (क्रोध, प्रमाद और लोभसे) मोहित होकर अहंकारके अधीन हो इस लोकसे जाकर पुनः-पुनः जन्म-मरणके चक्करमें पड़ते हैं । मरनेके बाद उनके मन, इन्द्रिय और प्राण भी साथ जाते हैं । शरीरसे प्राणरूपी इन्द्रियोंका वियोग होनेके कारण मृत्यु 'मरण' संज्ञाको प्राप्त होती है ॥

कर्मोदये कर्मफलानुरागा-
स्तत्रानुयान्ति न तरन्ति मृत्युम् ।
सदर्थयोगानवगमात् समन्तात्
प्रवर्तते भोगयोगेन देही ॥ ९ ॥

प्रारब्ध कर्मका उदय होनेपर कर्मके फलमें आसक्ति रखनेवाले लोग (देहत्यागके पश्चात्) परलोकका अनुगमन करते हैं; इसीलिये वे मृत्युको पार नहीं कर पाते । देहाभिमानी जीव परमात्मसाक्षात्कारके उपायको न जाननेसे विषयोंके उपभोगके कारण सब ओर (नाना प्रकारकी योनियोंमें) भटकता रहता है ॥ ९ ॥

तद् वै महामोहनमिन्द्रियाणां
मिथ्यार्थयोगस्य गतिर्हि नित्या ।
मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा
स्मरन्नुपास्ते विषयान् समन्तात् ॥ १० ॥

इस प्रकार विषयोंका जो भोग है, वह अवश्य ही इन्द्रियोंको महान् मोहमें डालनेवाला है और इन झूठे विषयोंमें राग रखनेवाले मनुष्यकी उनकी ओर प्रवृत्ति होनी स्वाभाविक है । मिथ्याभोगोंमें आसक्ति होनेसे जिसके अन्तःकरणकी ज्ञानशक्ति नष्ट हो गयी है, वह सब ओर विषयोंका ही चिन्तन करता हुआ मन-ही-मन उनका आस्वादन करता है ॥ १० ॥

अभिध्या वै प्रथमं हन्ति लोकान्
कामक्रोधावनुगृह्याशु पश्चात् ।
एते बालान् मृत्यवे प्रापयन्ति
धीरास्तु धैर्येण तरन्ति मृत्युम् ॥ ११ ॥

पहले तो विषयोंका चिन्तन ही लोगोंको मारे डालता है । इसके बाद वह काम और क्रोधको साथ लेकर पुनः जल्दी ही प्रहार करता है । इस प्रकार ये विषय-चिन्तन (काम और क्रोध) ही विवेकहीन मनुष्योंको मृत्युके निकट पहुँचाते हैं; परंतु जो स्थिर बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे धैर्यसे मृत्युके पार हो जाते हैं ॥ ११ ॥

सोऽभिध्यायन्नुत्पतितान् निहन्या-
दनादरेणाप्रतिबुध्यमानः ।
नैनं मृत्युर्मृत्युरिवात्ति भूत्वा
एवं विद्वान् यो विनिहन्ति कामान् ॥ १२ ॥

(अतः जो मृत्युको जीतनेकी इच्छा रखता है,) उसे चाहिये कि परमात्माका ध्यान करके विषयोंको तुच्छ मानकर उन्हें कुछ भी न गिनते हुए उनकी कामनाओंको उत्पन्न होते ही नष्ट कर डाले । इस प्रकार जो विद्वान् विषयोंकी इच्छाको मिटा देता है, उसको [साधारण प्राणियोंकी] मृत्युकी भाँति मृत्यु नहीं मारती (अर्थात् वह जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है) ॥ १२ ॥

कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति ।
कामान् व्युदस्य धुनुते यत् किंचित् पुरुषो रजः ॥ १३ ॥

कामनाओंके पीछे चलनेवाला मनुष्य कामनाओंके साथ ही नष्ट हो जाता है; परंतु ज्ञानी पुरुष कामनाओंका त्याग कर देनेपर जो कुछ भी जन्म-मरणरूप दुःख है, उन सबको वह नष्ट कर देता है ॥ १३ ॥

तमोऽप्रकाशो भूतानां नरकोऽयं प्रदृश्यते ।
मुह्यन्त इव धावन्ति गच्छन्तः श्वभ्रवत् सुखम् ॥ १४ ॥

काम ही समस्त प्राणियोंके लिये मोहक होनेके कारण तमोमय और अज्ञानरूप है तथा नरकके समान दुःखदायी देखा जाता है । जैसे मद्यपानसे मोहित हुए पुरुष चलते-चलते गड्ढेकी ओर दौड़ पड़ते हैं, वैसे ही कामी पुरुष भोगोंमें सुख मानकर उनकी ओर दौड़ते हैं ॥ १४ ॥

अमूढवृत्तेः पुरुषस्येह कुर्यात्
किं वै मृत्युस्तार्ण इवास्य व्याघ्रः ।
अमन्यमानः क्षत्रिय किंचिदन्य-
न्नाधीयीत निर्णुदन्निवास्य चायुः ॥ १५ ॥

जिसके चित्तकी वृत्तियाँ विषयभोगोंसे मोहित नहीं हुई हैं, उस ज्ञानी पुरुषका इस लोकमें तिनकोंके बनाये हुए व्याघ्रके समान मृत्यु क्या बिगाड़ सकती है ? इसलिये राजन् ! विषयभोगोंके मूल कारणरूप अज्ञानको नष्ट करनेकी इच्छासे दूसरे किसी भी सांसारिक पदार्थको कुछ भी न गिनकर उसका चिन्तन त्याग देना चाहिये ॥ १५ ॥

स क्रोधलोभौ मोहवानन्तरात्मा
स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः ।
एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा
ज्ञाने तिष्ठन् न बिभेतीह मृत्योः ।
विनश्यते विषये तस्य मृत्यु-
र्मृत्योर्यथा विषयं प्राप्य मर्त्यः ॥ १६ ॥

यह जो तुम्हारे शरीरके भीतर अन्तरात्मा है, मोहके वशीभूत होकर यही क्रोध, लोभ (प्रमाद) और मृत्युरूप हो जाता है । इस प्रकार मोहसे होनेवाली मृत्युको जानकर जो ज्ञाननिष्ठ हो जाता है, वह इस लोकमें मृत्युसे कभी नहीं डरता । उसके समीप आकर मृत्यु उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे मृत्युके अधिकारमें आया हुआ मरण-धर्मा मनुष्य ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यानेवाहुरिज्यया साधुलोकान्
द्विजातीनां पुण्यतमान् सनातनान् ।
तेषां परार्थं कथयन्तीह वेदा
एतद् विद्वान् नोपैति कथं नु कर्म ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्र बोले—द्विजातियोंके लिये यज्ञोंद्वारा जिन पवित्रतम सनातन एवं श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति बतायी गयी है, यहाँ वेद उन्हींको परम पुरुषार्थ कहते हैं । इस बातको जाननेवाला विद्वान् उत्तम कर्मोंका आश्रय क्यों न लें ॥ १७ ॥

सनत्सुजात उवाच

एवं ह्यविद्वानुपयाति तत्र
तत्रार्थजातं च वदन्ति वेदाः ।
अनीह आयाति परं परात्मा
प्रयाति मार्गेण निहत्य मार्गान् ॥ १८ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! अज्ञानी पुरुष इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोकोंमें गमन करता है तथा वेद कर्मके बहुत-से प्रयोजन भी बताते हैं; परंतु जो निष्काम पुरुष है, वह ज्ञानमार्गके द्वारा अन्य सभी मार्गोंका बाध करके परमात्मस्वरूप होता हुआ ही परमात्माको प्राप्त होता है ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कोऽसौ नियुङ्क्ते तमजं पुराणं
स चेदिदं सर्वमनुक्रमेण ।
किं वास्य कार्यमथवा सुखं च
तन्मे विद्वन् ब्रूहि सर्वं यथावत् ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन् ! यदि वह परमात्मा ही क्रमशः इस सम्पूर्ण जगत्‌के रूपमें प्रकट होता है तो उस अजन्मा और पुरातन पुरुषपर कौन शासन करता है ? अथवा उसे इस रूपमें आनेकी क्या आवश्यकता है और क्या सुख मिलता है ?—यह सब मुझे ठीक-ठीक बताइये ॥ १९ ॥

सनत्सुजात उवाच

दोषो महानत्र विभेदयोगे
ह्यनादियोगेन भवन्ति नित्याः ।
तथास्य नाधिक्यमपैति किंचि-
दनादियोगेन भवन्ति पुंसः ॥ २० ॥

सनत्सुजातने कहा—तुम्हारे इस प्रश्नके अनुसार जीव और ब्रह्मका विशेष भेद प्राप्त होता है, जिसे स्वीकार कर लेनेपर वेदविरोधरूप महान् दोषकी प्राप्ति होती है । अतएव अनादि मायाके सम्बन्धसे जीवोंका कामसुख आदिसे सम्बन्ध होता रहता है । ऐसा होनेपर भी जीवकी महत्ता नष्ट नहीं होती; क्योंकि मायाके सम्बन्धसे जीवके देहादि पुनः उत्पन्न होते रहते हैं ॥ २० ॥

य एतद् वा भगवान् स नित्यो
विकारयोगेन करोति विश्वम् ।
तथा च तच्छक्तिरिति स्म मन्यते
तथार्थयोगे च भवन्ति वेदाः ॥ २१ ॥

जो नित्यस्वरूप भगवान् हैं, वे ही परब्रह्म मायाके सहयोगसे इस विश्वब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं । वह माया उन्हीं परब्रह्मकी शक्ति है । महात्मा पुरुष इसे मानते हैं । इस प्रकारके अर्थके प्रतिपादनमें वेद भी प्रमाण हैं ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

येऽस्मिन् धर्मान् नाचरन्तीह केचित्
तथा धर्मान् केचिदिहाचरन्ति ।
धर्मः पापेन प्रतिहन्यते स्वि-
दुताहो धर्मः प्रतिहन्ति पापम् ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्र बोले—इस जगत्‌में कुछ लोग ऐसे हैं, जो धर्मका आचरण नहीं करते तथा कुछ लोग उसका आचरण करते हैं, अतः धर्म पापके द्वारा नष्ट होता है या धर्म ही पापको नष्ट कर देता है ? ॥ २२ ॥

सनत्सुजात उवाच

उभयमेव तत्रोपयुज्यते फलं धर्मस्यैवेतरस्य च ॥ २३ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन्! धर्म और पाप दोनोंके पृथक्-पृथक् फल होते हैं और उन दोनोंका ही उपभोग करना पड़ता है ॥ २३ ॥

तस्मिन् स्थितो वाप्युभयं हि नित्यं
ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति सिद्धम्।
तथान्यथा पुण्यमुपैति देही
तथागतं पापमुपैति सिद्धम् ॥ २४ ॥

किंतु परमात्मामें स्थित होनेपर विद्वान् पुरुष उस (परमात्माके) ज्ञानके द्वारा अपने पूर्वकृत पाप और पुण्य दोनोंका नाश कर देता है; यह बात सदा प्रसिद्ध है। यदि ऐसी स्थिति नहीं हुई तो देहाभिमानी मनुष्य कभी पुण्यफलको प्राप्त करता है और कभी क्रमशः प्राप्त हुए पूर्वोपार्जित पापके फलका अनुभव करता है ॥ २४ ॥

गत्वोभयं कर्मणा युज्यतेऽस्थिरं
शुभस्य पापस्य स चापि कर्मणा।
धर्मेण पापं प्रणुदतीह विद्वान्
धर्मो बलीयानिति तस्य सिद्धिः ॥ २५ ॥

इस प्रकार पुण्य और पापके जो स्वर्ग-नरकरूप दो अस्थिर फल हैं, उनका भोग करके वह (इस जगत्में जन्म ले) पुनः तदनुसार कर्मोंमें लग जाता है; किंतु कर्मोंके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष निष्कामधर्मरूप कर्मके द्वारा अपने पूर्वपापका यहाँ ही नाश कर देता है। इस प्रकार धर्म ही अत्यन्त बलवान् है। इसलिये निष्कामभावसे धर्माचरण करनेवालोंको समयानुसार अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है॥

धृतराष्ट्र उवाच

यानिहाहुः स्वस्य धर्मस्य लोकान्
द्विजातीनां पुण्यकृतां सनातनान्।
तेषां क्रमान् कथय ततोऽपि चान्यान्
नैतद् विद्वन् वेत्तुमिच्छामि कर्म ॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! पुण्यकर्म करनेवाले द्विजातियोंको अपने-अपने धर्मके फलस्वरूप जिन सनातन लोकोंकी प्राप्ति बतायी गयी है, उनका क्रम बतलाइये तथा उनसे भिन्न जो अन्यान्य लोक हैं, उनका भी निरूपण कीजिये। अब मैं सकाम कर्मकी बात नहीं जानना चाहता॥

सनत्सुजात उवाच

येषां व्रतेऽथ विस्पर्धा बले बलवतामिव।
ते ब्राह्मणा इतः प्रेत्य ब्रह्मलोकप्रकाशकाः ॥ २७ ॥

सनत्सुजातने कहा—जैसे दो बलवान् वीरोंमें अपना बल बढ़ानेके निमित्त एक दूसरेसे स्पर्धा रहती है, उसी प्रकार जो निष्कामभावसे यम-नियमादिके पालनमें दूसरोंसे बढ़नेका प्रयास करते हैं, वे ब्राह्मण यहाँसे मरकर जानेके बाद ब्रह्मलोकमें अपना प्रकाश फैलाते हैं।

येषां धर्मे च विस्पर्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम्।
ते ब्राह्मणा इतो मुक्ताः स्वर्गं यान्ति त्रिविष्टपम् ॥ २८ ॥

जिनकी धर्मके पालनमें स्पर्धा है, उनके लिये वह ज्ञानका साधन है; किंतु वे ब्राह्मण (यदि सकामभावसे उसका अनुष्ठान करें) तो मृत्युके पश्चात् यहाँसे देवताओंके निवासस्थान स्वर्गमें जाते हैं ॥ २८ ॥

तस्य सम्यक् समाचारमाहुर्वेदविदो जनाः।
नैनं मन्येत भूयिष्ठं बाह्यमाभ्यन्तरं जनम् ॥ २९ ॥
यत्र मन्येत भूयिष्ठं प्रावृषीव तृणोपलम्।
अन्नं पानं ब्राह्मणस्य तज्जीवेन्नानुसंज्वरेत् ॥ ३० ॥

ब्राह्मणके सम्यक् आचारकी वेदवेत्ता पुरुष प्रशंसा करते हैं, किंतु जो धर्मपालनमें बहिर्मुख है, उसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये। जो (निष्कामभावपूर्वक) धर्मका पालन करनेसे अन्तर्मुख हो गया है, ऐसे पुरुषको श्रेष्ठ समझना चाहिये। जैसे वर्षाऋतुमें तृण-घास आदिकी बहुतायत होती है, उसी प्रकार जहाँ ब्राह्मणके योग्य अन्न-पान आदिकी अधिकता मालूम पड़े, उसी देशमें रहकर वह जीवननिर्वाह करे। भूख-प्याससे अपनेको कष्ट नहीं पहुँचावे ॥ २९-३० ॥

यत्राकथयमानस्य प्रयच्छत्यशिवं भयम्।
अतिरिक्तमिवाकुर्वन् स श्रेयान् नेतरो जनः ॥ ३१ ॥

किंतु जहाँ अपना माहात्म्य प्रकाशित न करनेपर भय और अमङ्गल प्राप्त हो, वहाँ रहकर भी जो अपनी विशेषता प्रकट नहीं करता, वही श्रेष्ठ पुरुष है; दूसरा नहीं ॥ ३१ ॥

यो वा कथयमानस्य ह्यात्मानं नानुसंज्वरेत्।
ब्रह्मस्वं नोपभुञ्जीत तदन्नं सम्मतं सताम् ॥ ३२ ॥

जो किसीको आत्मप्रशंसा करते देख जलता नहीं तथा ब्राह्मणके स्वत्वका उपभोग नहीं करता, उसके अन्नको स्वीकार करनेमें सत्पुरुषोंकी सम्मति है ॥ ३२ ॥

यथा स्वं वान्तमश्नाति श्वा वै नित्यमभूतये।
एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्यस्योपसेवनात् ॥ ३३ ॥

जैसे कुत्ता अपना वमन किया हुआ भी खा लेता है, उसी प्रकार जो अपने (ब्राह्मणत्वके) प्रभावका प्रदर्शन करके जीविका चलाते हैं, वे ब्राह्मण वमनका भोजन करनेवाले हैं और इससे उनकी सदा ही अवनति होती है ॥ ३३ ॥

नित्यमज्ञातचर्या मे इति मन्येत ब्राह्मणः।
ज्ञातीनां तु वसन् मध्ये तं विदुर्ब्राह्मणं बुधाः ॥ ३४ ॥

जो कुटुम्बीजनोंके बीचमें रहकर भी अपनी साधनाको उनसे सदा गुप्त रखनेका प्रयत्न करता है, ऐसे ब्राह्मणको ही विद्वान् पुरुष ब्राह्मण मानते हैं ॥ ३४ ॥

को ह्यनन्तरमात्मानं ब्राह्मणो हन्तुमर्हति।
निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्वद्वैतविवर्जितम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार जो भेदशून्य, चिह्नरहित, अविचल, शुद्ध एवं सब प्रकारके द्वैतसे रहित आत्मा है, उसके स्वरूपको जाननेवाला कौन ब्रह्मवेत्ता पुरुष उसका हनन (अधःपतन) करना चाहेगा ? ॥ ३५ ॥

तस्माद्धि क्षत्रियस्यापि ब्रह्मावसति पश्यति ॥ ३६ ॥

इसलिये उपर्युक्तरूपसे जीवन वितानेवाला क्षत्रिय भी ब्रह्मके स्वरूपका अनुभव करता है तथा ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥ ३७ ॥

जो उक्त प्रकारसे वर्तमान आत्माको उसके विपरीत रूपसे समझता है, आत्माका अपहरण करनेवाले उस चोरने कौन-सा पाप नहीं किया ? ॥ ३७ ॥

अश्रान्तः स्यादनादाता सम्मतो निरुपद्रवः।
शिष्टो न शिष्टवत् स स्याद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित् कविः॥३८॥

जो कर्तव्य-पालनमें कभी थकता नहीं, दान नहीं लेता, सत्पुरुषोंमें सम्मानित और उपद्रवरहित है तथा शिष्ट होकर भी शिष्टताका विज्ञापन नहीं करता, वही ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता एवं विद्वान् है ॥ ३८ ॥

अनाढ्या मानुषे वित्ते आढ्या दैवे तथा क्रतौ।
ते दुर्धर्षा दुष्प्रकम्प्यास्तान् विद्याद् ब्रह्मणस्तनुम्॥३९॥

जो लौकिक धनकी दृष्टिसे निर्धन होकर भी दैवी सम्पत्ति तथा यज्ञ-उपासना आदिसे सम्पन्न हैं, वे दुर्धर्ष हैं और किसी भी विषयसे चलायमान नहीं होते। उन्हें ब्रह्मकी साक्षात् मूर्ति समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

सर्वान् स्विष्टकृतो देवान् विद्याद् य इह कश्चन।
न समानो ब्राह्मणस्य तस्मिन् प्रयतते स्वयम् ॥ ४० ॥

यदि कोई इस लोकमें अभीष्ट सिद्ध करनेवाले सम्पूर्ण देवताओंको जान ले, तो भी वह ब्रह्मवेत्ताके समान नहीं होता; क्योंकि वह तो अभीष्ट फलकी सिद्धिके लिये ही प्रयत्न कर रहा है ॥ ४० ॥

यमप्रयतमानं तु मानयन्ति स मानितः।
न मान्यमानो मन्येत न मान्यमभिसंज्वरेत् ॥ ४१ ॥

जो दूसरोंसे सम्मान पाकर भी अभिमान न करे और सम्माननीय पुरुषको देखकर जले नहीं तथा प्रयत्न न करनेपर भी विद्वान्‌लोग जिसे आदर दें, वही वास्तवमें सम्मानित है ॥ ४१ ॥

लोकः स्वभाववृत्तिर्हि निमेषोन्मेषवत् सदा।
विद्वांसो मानयन्तीह इति मन्येत मानितः ॥ ४२ ॥

जगत्‌में जब विद्वान् पुरुष आदर दें, तब सम्मानित व्यक्तिको ऐसा मानना चाहिये कि आँखोंको खोलने-मीचनेके समान अच्छे लोगोंकी यह स्वाभाविक वृत्ति है, जो आदर देते हैं ॥ ४२ ॥

अधर्मनिपुणा मूढा लोके मायाविशारदाः।
न मान्यं मानयिष्यन्ति मान्यानामवमानिनः ॥ ४३ ॥

किंतु इस संसारमें जो अधर्ममें निपुण, छल-कपटमें चतुर और माननीय पुरुषोंका अपमान करनेवाले मूढ़ मनुष्य हैं, वे आदरणीय व्यक्तियोंका भी आदर नहीं करते॥

न वै मानं च मौनं च सहितौ वसतः सदा।
अयं हि लोको मानस्य असौ मौनस्य तद् विदुः ॥ ४४ ॥

यह निश्चित है कि मान और मौन सदा एक साथ नहीं रहते; क्योंकि मानसे इस लोकमें सुख मिलता है और मौनसे परलोकमें। ज्ञानीजन इस बातको जानते हैं ॥ ४४ ॥

श्रीः सुखस्येह संवासः सा चापि परिपन्थिनी।
ब्राह्मी सुदुर्लभा श्रीर्हि प्रज्ञाहीनेन क्षत्रिय ॥ ४५ ॥

राजन्! लोकमें ऐश्वर्यरूपा लक्ष्मी सुखका घर मानी गयी है, पर वह भी (कल्याणमार्गमें) लुटेरोंकी भाँति विघ्न डालनेवाली है; किंतु ब्रह्मज्ञानमयी लक्ष्मी प्रज्ञाहीन मनुष्यके लिये सर्वथा दुर्लभ है ॥ ४५ ॥

द्वाराणि तस्येह वदन्ति सन्तो
बहुप्रकाराणि दुराधराणि।
सत्यार्जवे ह्रीर्दमशौचविद्या
यथा न मोहप्रतिबोधनानि ॥ ४६ ॥

संत पुरुष यहाँ उस ब्रह्मज्ञानमयी लक्ष्मीकी प्राप्तिके अनेकों द्वार बतलाते हैं, जो कि मोहको जगानेवाले नहीं हैं तथा जिनको कठिनतासे धारण किया जाता है। उनके नाम हैं—सत्य, सरलता, लज्जा, दम, शौच और विद्या ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्मज्ञानमें उपयोगी मौन, तप, त्याग, अप्रमाद एवं दम आदिके लक्षण तथा मदादि दोषोंका निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

कस्यैष मौनः कतरन्नु मौनं
प्रब्रूहि विद्वन्निह मौनभावम्।
मौनेन विद्वानुत याति मौनं
कथं मुने मौनमिहाचरन्ति ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! यह मौन किसका नाम है? [वाणीका संयम और परमात्माका स्वरूप] इन दोनोंमेंसे कौन-सा मौन है? यहाँ मौनभावका वर्णन कीजिये। क्या विद्वान् पुरुष मौनके द्वारा मौनरूप परमात्माको प्राप्त होता है? मुने! संसारमें लोग मौनका आचरण किस प्रकार करते हैं? ॥ १ ॥

सनत्सुजात उवाच

यतो न वेदा मनसा सहैन-
मनुप्रविशन्ति ततोऽथमौनम्।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं
स तन्मयत्वेन विभाति राजन् ॥ २ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन्! जहाँ मनके सहित वाणीरूप वेद नहीं पहुँच पाते, उस परमात्माका ही नाम मौन है; इसलिये वही मौनस्वरूप है। वैदिक तथा लौकिक शब्दोंका जहाँसे प्रादुर्भाव हुआ है, वे परमेश्वर तन्मयतापूर्वक ध्यान करनेसे प्रकाशमें आते हैं ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ऋचो यजूंषि यो वेद सामवेदं च वेद यः।
पापानि कुर्वन् पापेन लिप्यते किं न लिप्यते ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! जो ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदको जानता है तथा पाप करता है, वह उस पापसे लिप्त होता है या नहीं? ॥ ३ ॥

सनत्सुजात उवाच

नैनं सामान्यृचो वापि न यजूंष्यविचक्षणम्।
त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ ४ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन्! मैं तुमसे असत्य नहीं कहता; ऋक्, साम अथवा यजुर्वेद कोई भी पाप करनेवाले अज्ञानीकी उसके पापकर्मसे रक्षा नहीं करते ॥ ४ ॥

नच्छन्दांसि वृजिनात् तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्तमानम्।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षा-
श्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ॥ ५ ॥

जो कपटपूर्वक धर्मका आचरण करता है, उस मिथ्याचारीका वेद पापोंसे उद्धार नहीं करते। जैसे पंख निकल आनेपर पक्षी अपना घोंसला छोड़ देते हैं, उसी प्रकार अन्तकालमें वेद भी उसका परित्याग कर देते हैं ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

न चेद् वेदा विना धर्मं त्रातुं शक्ता विचक्षण।
अथ कस्मात् प्रलापोऽयं ब्राह्मणानां सनातनः ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! यदि धर्मके बिना वेद रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं, तो वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके पवित्र होनेका प्रलाप* चिरकालसे क्यों चला आता है? ॥ ६ ॥

सनत्सुजात उवाच

तस्यैव नामादिविशेषरूपै-
रिदं जगद् भाति महानुभाव।
निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदा-
स्तद् विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति ॥ ७ ॥

सनत्सुजातने कहा—महानुभाव! परब्रह्म परमात्माके ही नाम आदि विशेष रूपोंसे इस जगत्की प्रतीति होती है। यह बात वेद अच्छी तरह निर्देश करके कहते हैं। किंतु वास्तवमें उसका स्वरूप इस विश्वसे विलक्षण बताया जाता है ॥ ७ ॥

तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या
ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान्।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात्
संजायते ज्ञानविदीपितात्मा ॥ ८ ॥

उसीकी प्राप्तिके लिये वेदमें तप और यज्ञोंका प्रतिपादन किया गया है। इन तप और यज्ञोंके द्वारा उस श्रोत्रिय विद्वान् पुरुषको पुण्यकी प्राप्ति होती है। फिर उस निष्काम कर्मरूप पुण्यसे पापको नष्ट कर देनेके पश्चात् उसका अन्तःकरण ज्ञानसे प्रकाशित हो जाता है ॥ ८ ॥

ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वा-
नथान्यथा वर्गफलानुकाङ्क्षी।
अस्मिन् कृतं तत् परिगृह्य सर्व-
ममुत्र भुङ्क्त्वा पुनरेति मार्गम् ॥ ९ ॥

तब वह विद्वान् पुरुष ज्ञानसे परमात्माको प्राप्त होता है; किंतु इसके विपरीत जो भोगाभिलाषी पुरुष धर्म, अर्थ

---

* 'ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते।' (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदसे पवित्र होकर ब्राह्मण ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है;) इत्यादि वेदवचन वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके पवित्र एवं निष्पाप होनेकी बात कहते हैं।

और कामरूप त्रिवर्गफलकी इच्छा रखते हैं, वे इस लोकमें किये हुए सभी कर्मोंको साथ ले जाकर उन्हें परलोकमें भोगते हैं तथा भोग समाप्त होनेपर पुनः इस संसारमार्गमें लौट आते हैं ॥ ९ ॥

अस्मिँल्लोके तपस्तप्तं फलमन्यत्र भुज्यते।
ब्राह्मणानामिमे लोका ऋद्धे तपसि तिष्ठताम् ॥ १० ॥

इस लोकमें जो तपस्या (सकामभावसे) की जाती है, उसका फल परलोकमें भोगा जाता है; परंतु जो ब्रह्मोपासक इस लोकमें निष्कामभावसे गुरुतर तपस्या करते हैं, वे इसी लोकमें तत्त्वज्ञानरूप फल प्राप्त करते हैं (और मुक्त हो जाते हैं)। इस प्रकार एक ही तपस्या ऋद्ध और समृद्धके भेदसे दो प्रकारकी है ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कथं समृद्धमसमृद्धं तपो भवति केवलम्।
सनत्सुजात तद् ब्रूहि यथा विद्याम तद् वयम् ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—सनत्सुजातजी! विशुद्ध भावयुक्त केवल तप ऐसा प्रभावशाली बढ़ा-चढ़ा कैसे हो जाता है? यह इस प्रकार कहिये, जिससे हम उसे समझ लें ॥ ११ ॥

सनत्सुजात उवाच

निष्कल्मषं तपस्त्वेतत् केवलं परिचक्षते।
एतत् समृद्धमप्यृद्धं तपो भवति केवलम् ॥ १२ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन्! यह तप सब प्रकारसे निर्दोष होता है। इसमें भोगवासनारूप दोष नहीं रहता। इसलिये यह विशुद्ध कहा जाता है और इसीलिये यह विशुद्ध तप सकाम तपकी अपेक्षा फलकी दृष्टिसे भी बहुत बढ़ा-चढ़ा होता है ॥ १२ ॥

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि क्षत्रिय।
तपसा वेदविद्वांसः परं त्वमृतमाप्नुयुः ॥ १३ ॥

राजन्! तुम जिस (तपस्या) के विषयमें मुझसे पूछ रहे हो, यह तपस्या ही सारे जगत्‌का मूल है; वेदवेत्ता विद्वान् इस (निष्काम) तपसे ही परम अमृत मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कल्मषं तपसो ब्रूहि श्रुतं निष्कल्मषं तपः।
सनत्सुजात येनेदं विद्यां गुह्यं सनातनम् ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—सनत्सुजातजी! मैंने दोषरहित तपस्याका महत्त्व सुना। अब तपस्याके जो दोष हैं, उन्हें बताइये, जिससे मैं इस सनातन गोपनीय ब्रह्मतत्त्वको जान सकूँ ॥ १४ ॥

सनत्सुजात उवाच

क्रोधादयो द्वादश यस्य दोषा-
स्तथा नृशंसानि दशत्रि राजन्।
धर्मादयो द्वादशैते पितॄणां
शास्त्रे गुणा ये विदिता द्विजानाम् ॥ १५ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन्! तपस्याके क्रोध आदि बारह दोष हैं तथा तेरह प्रकारके नृशंस मनुष्य होते हैं। मन्वादि-शास्त्रोंमें कथित ब्राह्मणोंके धर्म आदि बारह गुण प्रसिद्ध हैं ॥ १५ ॥

क्रोधः कामो लोभमोहौ विधित्सा
कृपासूये मानशोकौ स्पृहा च।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोषा
वर्ज्याः सदा द्वादशैते नराणाम् ॥ १६ ॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, चिकीर्षा, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और निन्दा—मनुष्योंमें रहनेवाले ये बारह दोष मनुष्योंके लिये सदा ही त्याग देने योग्य हैं ॥ १६ ॥

एकैकः पर्युपास्ते ह मनुष्यान् मनुजर्षभ।
लिप्समानोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुब्धकः ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ! जैसे व्याधा मृगोंको मारनेका छिद्र (अवसर) देखता हुआ उनकी टोहमें लगा रहता है, उसी प्रकार इनमेंसे एक-एक दोष मनुष्योंका छिद्र देखकर उनपर आक्रमण करता है ॥ १७ ॥

विकत्थनः स्पृहयालुर्मनस्वी
बिभ्रत् कोपं चपलोऽरक्षणश्च।
एतान् पापाः षण्नराः पापधर्मान्
प्रकुर्वते नो त्रसन्तः सुदुर्गे ॥ १८ ॥

अपनी बहुत बड़ाई करनेवाले, लोलुप, तनिक-से भी अपमानको सहन न करनेवाले, निरन्तर क्रोधी, चञ्चल और आश्रितोंकी रक्षा नहीं करनेवाले—ये छः प्रकारके मनुष्य पापी हैं। महान् संकटमें पड़नेपर भी ये निडर होकर इन पाप-कर्मोंका आचरण करते हैं ॥ १८ ॥

सम्भोगसंविद् विषमोऽतिमानी
दत्त्वानुतापी कृपणो बलीयान्।
वर्गप्रशंसी वनितासु द्वेष्टा
एते परे सप्त नृशंसवर्गाः ॥ १९ ॥

सम्भोगमें ही मन लगानेवाले, विषमता रखनेवाले, अत्यन्त मानी, दान देकर पश्चात्ताप करनेवाले, अत्यन्त कृपण, अर्थ और कामकी प्रशंसा करनेवाले तथा स्त्रियोंके द्वेषी—ये सात और पहलेके छः कुल तेरह प्रकारके मनुष्य नृशंसवर्ग (क्रूर-समुदाय) कहे गये हैं ॥ १९ ॥

धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च
अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया ।
यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च
व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य ॥ २० ॥

धर्म, सत्य, इन्द्रियनिग्रह तप, मत्सरताका अभाव, लज्जा, सहनशीलता, किसीके दोष न देखना, यज्ञ करना, दान देना, धैर्य और शास्त्रज्ञान—ये ब्राह्मणके बारह व्रत हैं ॥ २० ॥

यस्त्वेतेभ्यः प्रभवेद् द्वादशभ्यः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वार्थितो य-
स्तस्य स्वमस्तीति स वेदितव्यः ॥ २१ ॥

जो इन बारह व्रतों (गुणों) पर अपना प्रभुत्व रखता है, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वीके मनुष्योंको अपने अधीन कर सकता है। इनमेंसे तीन, दो या एक गुणसे भी जो युक्त है, उसके पास सभी प्रकारका धन है, ऐसा समझना चाहिये ॥ २१ ॥

दमस्त्यागोऽप्रमादश्च एतेष्वमृतमाहितम् ।
तानि सत्यमुखान्याहुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ॥ २२ ॥

दम, त्याग और अप्रमाद—इन तीन गुणोंमें अमृतका वास है। जो मनीषी (बुद्धिमान्) ब्राह्मण हैं, वे कहते हैं कि इन गुणोंका मुख सत्यस्वरूप परमात्माकी ओर है (अर्थात् ये परमात्माकी प्राप्तिके साधन हैं) ॥ २२ ॥

दमो ह्यष्टादशगुणः प्रतिकूलं कृताकृते ।
अनृतं चाभ्यसूया च कामार्थौ च तथा स्पृहा ॥ २३ ॥
क्रोधः शोकस्तथा तृष्णा लोभः पैशुन्यमेव च ।
मत्सरश्च विहिंसा च परितापस्तथारतिः ॥ २४ ॥
अपस्मारश्चातिवादस्तथा सम्भावनाऽऽत्मनि ।
एतैर्विमुक्तो दोषैर्यः स दान्तः सद्भिरुच्यते ॥ २५ ॥

दम अठारह गुणोंवाला है। (निम्नाङ्कित अठारह दोषोंके त्यागको ही अठारह गुण समझना चाहिये)—कर्तव्य-अकर्तव्यके-विषयमें विपरीत धारणा, असत्यभाषण, गुणोंमें दोषदृष्टि, स्त्री-विषयक कामना, सदा धनोपार्जनमें ही लगे रहना, भोगेच्छा, क्रोध, शोक, तृष्णा, लोभ, चुगली करनेकी आदत, डाह, हिंसा, संताप, शास्त्रमें अरति, कर्तव्यकी विस्मृति, अधिक बकवाद और अपनेको बड़ा समझना—इन दोषोंसे जो मुक्त है, उसीको सत्पुरुष दान्त (जितेन्द्रिय) कहते हैं ॥ २३-२५ ॥

मदोऽष्टादशदोषः स्यात् त्यागो भवति षड्विधः ।
विपर्ययाः स्मृता एते मददोषा उदाहृताः ॥ २६ ॥
श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागस्तृतीयो दुष्करो भवेत् ।
तेन दुःखं तरत्येव भिन्नं तस्मिन् जितं कृते ॥ २७ ॥

मदमें अठारह दोष हैं; ऊपर जो दमके विपर्यय सूचित किये गये हैं, वे ही मदके दोष बताये गये हैं। त्याग छः प्रकारका होता है, वह छहों प्रकारका त्याग अत्यन्त उत्तम है; किंतु इनमें तीसरा अर्थात् कामत्याग बहुत ही कठिन है, इसके द्वारा मनुष्य त्रिविध दुःखोंको निश्चय ही पार कर जाता है। कामका त्याग कर देनेपर सब कुछ जीत लिया जाता है ॥ २६-२७ ॥

श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः श्रियं प्राप्य न हृष्यति।
इष्टापूर्ते द्वितीयं स्यान्नित्यवैराग्ययोगतः ॥ २८ ॥
कामत्यागश्च राजेन्द्र स तृतीय इति स्मृतः।
अप्यवाच्यं वदन्त्येतं स तृतीयो गुणः स्मृतः ॥ २९ ॥

राजेन्द्र ! छः प्रकारका जो सर्वश्रेष्ठ त्याग है, उसे बताते हैं। लक्ष्मीको पाकर हर्षित न होना—यह प्रथम त्याग है; यज्ञ-होमादिमें तथा कुएँ, तालाब और बगीचे आदि बनानेमें धन खर्च करना दूसरा त्याग है और सदा वैराग्यसे युक्त रहकर कामका त्याग करना—यह तीसरा त्याग कहा गया है। महर्षिलोग इसे अनिर्वचनीय मोक्षका उपाय कहते हैं। अतः यह तीसरा त्याग विशेष गुण माना गया है ॥ २८-२९ ॥

त्यक्तैर्द्रव्यैर्यद् भवति नोपयुक्तैश्च कामतः।
न च द्रव्यैस्तद् भवति नोपयुक्तैश्च कामतः ॥ ३० ॥

(वैराग्यपूर्वक) पदार्थोंके त्यागसे जो निष्कामता आती है, वह स्वेच्छापूर्वक उनका उपभोग करनेसे नहीं आती। अधिक धन-सम्पत्तिके संग्रहसे निष्कामता नहीं सिद्ध होती तथा कामनापूर्तिके लिये उसका उपभोग करनेसे भी कामका त्याग नहीं होता ॥ ३० ॥

न च कर्मस्वसिद्धेषु दुःखं तेन च न ग्लपेत्।
सर्वैरेव गुणैर्युक्तो द्रव्यवानपि यो भवेत् ॥ ३१ ॥

जो पुरुष सब गुणोंसे युक्त और धनवान् हो, यदि उसके किये हुए कर्म सिद्ध न हों तो उनके लिये दुःख एवं ग्लानि न करे ॥ ३१ ॥

अप्रिये च समुत्पन्ने व्यथां जातु न गच्छति ।
इष्टान् पुत्रांश्च दारांश्च न याचेत कदाचन ॥ ३२ ॥

कोई अप्रिय घटना हो जाय तो कभी व्यथाको न प्राप्त हो (यह चौथा त्याग है) । अपने अभीष्ट पदार्थ—स्त्री-पुत्रादिकी कभी याचना न करे (यह पाँचवाँ त्याग है)॥ ३२॥

अर्हते याचमानाय प्रदेयं तच्छुभं भवेत्।
अप्रमादी भवेदेतैः स चाप्यष्टगुणो भवेत् ॥ ३३ ॥
सत्यं ध्यानं समाधानं चोद्यं वैराग्यमेव च।
अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च तथा संग्रहमेव च ॥ ३४ ॥

सुयोग्य याचकके आ जानेपर उसे दान करे (यह छठा त्याग है) । इन सबसे कल्याण होता है। इन त्यागमय

गुणोंसे मनुष्य अप्रमादी होता है। उस अप्रमादके भी आठ गुण माने गये हैं—सत्य, ध्यान, अध्यात्मविषयक विचार, समाधान, वैराग्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ॥ ३३-३४ ॥

एवं दोषा मदस्योक्तास्तान् दोषान् परिवर्जयेत्।
तथा त्यागोऽप्रमादश्च स चाप्यष्टगुणो मतः ॥ ३५ ॥

ये आठ गुण त्याग और अप्रमाद दोनोंके ही समझने चाहिये। इसी प्रकार जो मदके अठारह दोष पहले बताये गये हैं, उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। प्रमादके आठ दोष हैं, उन्हें भी त्याग देना चाहिये ॥ ३५ ॥

अष्टौ दोषाः प्रमादस्य तान् दोषान् परिवर्जयेत्।
इन्द्रियेभ्यश्च पञ्चभ्यो मनसश्चैव भारत।
अतीतानागतेभ्यश्च मुक्त्युपेतः सुखी भवेत् ॥ ३६ ॥

भारत! पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन—इनकी अपने-अपने विषयोंमें जो भोगबुद्धिसे प्रवृत्ति होती है, छः तो ये ही प्रमादविषयक दोष हैं और भूतकालकी चिन्ता तथा भविष्यकी आशा—दो दोष ये हैं। इन आठ दोषोंसे मुक्त पुरुष सुखी होता है ॥ ३६ ॥

सत्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः।
तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम् ॥ ३७ ॥

राजेन्द्र! तुम सत्यस्वरूप हो जाओ, सत्यमें ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। वे दम, त्याग और अप्रमाद आदि गुण भी सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं; सत्यमें ही अमृतकी प्रतिष्ठा है ॥ ३७ ॥

निवृत्तेनैव दोषेण तपोव्रतमिहाचरेत्।
एतद् धातृकृतं वृत्तं सत्यमेव सतां व्रतम् ॥ ३८ ॥
दोषैरेतैर्वियुक्तस्तु गुणैरेतैः समन्वितः।
एतत् समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम् ॥ ३९ ॥
यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र संक्षेपात् प्रब्रवीमि ते।
एतत् पापहरं पुण्यं जन्ममृत्युजरापहम् ॥ ४० ॥

दोषोंको निवृत्त करके ही यहाँ तप और व्रतका आचरण करना चाहिये, यह विधाताका बनाया हुआ नियम है। सत्य ही श्रेष्ठ पुरुषोंका व्रत है। मनुष्यको उपर्युक्त दोषोंसे रहित और गुणोंसे युक्त होना चहिये। ऐसे पुरुषका ही विशुद्ध तप अत्यन्त समृद्ध होता है। राजन्! तुमने जो मुझसे पूछा है, वह मैंने संक्षेपसे बता दिया। यह तप जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थाके कष्टको दूर करनेवाला, पापहारी तथा परम पवित्र है ॥ ३८–४० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

आख्यानपञ्चमैर्वेदैर्भूयिष्ठं कथ्यते जनः।
तथा चान्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथा परे ॥ ४१ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—मुने! इतिहास-पुराण जिनमें पाँचवाँ है, उन सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा कुछ लोगोंका विशेषरूपसे नाम लिया जाता है (अर्थात् वे पञ्चवेदी कहलाते हैं), दूसरे लोग चतुर्वेदी और त्रिवेदी कहे जाते हैं ॥ ४१ ॥

द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाप्यनृचश्च तथा परे।
तेषां तु कतरः स स्याद् यमहं वेद वै द्विजम् ॥ ४२ ॥

इसी प्रकार कुछ लोग द्विवेदी, एकवेदी तथा अनृच[1] कहलाते हैं। इनमेंसे कौन-से ऐसे हैं, जिन्हें मैं निश्चितरूपसे ब्राह्मण समझूँ? ॥ ४२ ॥

सनत्सुजात उवाच

एकस्य वेदस्याज्ञानाद् वेदास्ते बहवः कृताः।
सत्यस्यैकस्य राजेन्द्र सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥ ४३ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन्! सृष्टिके आदिमें वेद एक ही थे, परंतु न समझनेके कारण (एक ही वेदके) बहुत-से विभाग कर दिये गये हैं। उस सत्यस्वरूप एक वेदके सारतत्त्व परमात्मामें तो कोई विरला ही स्थित होता है ॥ ४३ ॥

एवं वेदमविज्ञाय प्राज्ञोऽहमिति मन्यते।
दानमध्ययनं यज्ञो लोभादेतत् प्रवर्तते ॥ ४४ ॥

इस प्रकार वेदके तत्त्वको न जानकर भी कुछ लोग 'मैं विद्वान् हूँ' ऐसा मानने लगते हैं; फिर उनकी दान, अध्ययन और यज्ञादि कर्मोंमें (सांसारिक सुखकी प्राप्तिरूप फलके) लोभसे प्रवृत्ति होती है ॥ ४४ ॥

सत्यात् प्रच्यवमानानां संकल्पश्च तथा भवेत्।
ततो यज्ञः प्रतायेत सत्यस्यैवावधारणात् ॥ ४५ ॥

वास्तवमें जो सत्यस्वरूप परमात्मासे च्युत हो गये हैं, उन्हींका वैसा संकल्प होता है। फिर सत्यरूप वेदके प्रामाण्यका निश्चय करके ही उनके द्वारा यज्ञोंका विस्तार (अनुष्ठान) किया जाता है ॥ ४५ ॥

मनसान्यस्य भवति वाचान्यस्याथ कर्मणा।
संकल्पसिद्धः पुरुषः संकल्पानधितिष्ठति ॥ ४६ ॥

किसीका यज्ञ मनसे, किसीका वाणीसे तथा किसीका क्रियाके द्वारा सम्पादित होता है। सत्यसंकल्प पुरुष संकल्पके अनुसार ही लोकोंको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

अनैभृत्येन चैतस्य दीक्षितव्रतमाचरेत्।
नामैतद् धातुनिर्वृत्तं सत्यमेव सतां परम् ॥ ४७ ॥

किंतु जबतक संकल्प सिद्ध न हो, तबतक दीक्षित व्रतका आचरण अर्थात् यज्ञादि कर्म करते रहना चाहिये। यह

१. जिन्होंने ऋगादि वेदोंका अध्ययन नहीं किया है, वे अनृच कहलाते हैं।

दीक्षित नाम 'दीक्ष व्रतादेशे' इस धातुसे बना है। सत्पुरुषोंके सत्यस्वरूप परमात्मा ही सबसे बढ़कर है ॥ ४७ ॥

ज्ञानं वै नाम प्रत्यक्षं परोक्षं जायते तपः।
विद्याद् बहु पठन्तं तु द्विजं वै बहुपाठिनम् ॥ ४८ ॥

क्योंकि परमात्माके ज्ञानका फल प्रत्यक्ष है और तपका फल परोक्ष है (इसलिये ज्ञानका ही आश्रय लेना चाहिये)। बहुत पढ़नेवाले ब्राह्मणको केवल बहुपाठी (बहुज्ञ) समझना चाहिये ॥ ४८ ॥

तस्मात् क्षत्रिय मा मंस्था जल्पितेनैव वै द्विजम्।
य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया ॥ ४९ ॥

इसलिये महाराज ! केवल बातें बनानेसे ही किसीको ब्राह्मण न मान लेना। जो सत्यस्वरूप परमात्मासे कभी पृथक् नहीं होता, उसीको तुम ब्राह्मण समझो ॥ ४९ ॥

छन्दांसि नाम क्षत्रिय तान्यथर्वा
पुरा जगौ महर्षिसङ्घ एषः।
छन्दोविदस्ते य उत नाधीतवेदा
न वेदवेद्यस्य विदुर्हि तत्त्वम् ॥ ५० ॥

राजन् ! अथर्वा मुनि एवं महर्षिसमुदायने पूर्वकालमें जिनका गान किया है, वे ही छन्द (वेद) हैं। किंतु सम्पूर्ण वेद पढ़ लेनेपर भी जो वेदोंके द्वारा जानने योग्य परमात्माके तत्त्वको नहीं जानते, वे वास्तवमें वेदके विद्वान् नहीं हैं ॥

छन्दांसि नाम द्विपदां वरिष्ठ
स्वच्छन्दयोगेन भवन्ति तत्र।
छन्दोविदस्तेन च तानधीत्य
गता न वेदस्य न वेद्यमार्याः ॥ ५१ ॥

नरश्रेष्ठ ! छन्द (वेद) उस परमात्मामें स्वच्छन्द सम्बन्धसे स्थित (स्वतःप्रमाण) हैं। इसलिये उनका अध्ययन करके ही वेदवेत्ता आर्यजन वेद्यरूप परमात्माके तत्त्वको प्राप्त हुए हैं ॥ ५१ ॥

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति
कश्चित् त्वेतान् बुध्यते वापि राजन्।
यो वेद वेदान् न स वेद वेद्यं
सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम् ॥ ५२ ॥

राजन् ! वास्तवमें वेदके तत्त्वको जाननेवाला कोई नहीं है अथवा यों समझो कि कोई बिरला ही उनका रहस्य जान पाता है। जो केवल वेदके वाक्योंको जानता है, वह वेदोंके द्वारा जानने योग्य परमात्माको नहीं जानता; किंतु जो सत्यमें स्थित है, वह वेदवेद्य परमात्माको जानता है ॥ ५२ ॥

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति
वेद्येन वेदं न विदुर्न वेद्यम्।
यो वेद वेदं स च वेद वेद्यं
यो वेद वेद्यं न स वेद सत्यम् ॥ ५३ ॥

जाननेवालोंमेंसे कोई भी वेदोंको अर्थात् उनके रहस्यको जाननेवाला नहीं है; क्योंकि जाननेमें आनेवाले मन-बुद्धि आदिके द्वारा न तो कोई वेदके रहस्यको जान पाता है और न जानने योग्य परमात्मतत्त्वको ही। जो मनुष्य केवल कर्म-विधायक वेदको जानता है; वह तो बुद्धिद्वारा जाननेमें आनेवाले पदार्थोंको ही जानता है; किंतु जो बुद्धिद्वारा जानने योग्य पदार्थोंको जानता है, वह (सकामी पुरुष) वास्तविक तत्त्व परब्रह्म परमात्माको नहीं जानता ॥ ५३ ॥

यो वेद वेदान् स च वेद वेद्यं
न तं विदुर्वेदविदो न वेदाः।
तथापि वेदेन विदन्ति वेदं
ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति ॥ ५४ ॥

जो महापुरुष वेदोंके रहस्यको जानता है, वह जानने योग्य परमात्माको भी जानता है; परंतु उस (जाननेवाले) को न तो वेदोंके शब्दोंको जाननेवाला जानता है और न वेद ही जानते हैं। तथापि वेदके रहस्यको जाननेवाले जो ब्रह्मवेत्ता महापुरुष हैं, वे उस वेदके द्वारा ही वेदके रहस्यको जान लेते हैं (अर्थात् वेदोंका कथन इतना गुप्त है कि केवल शब्दज्ञानसे उसका रहस्य एवं उसमें वर्णित परमात्मतत्त्व समझमें नहीं आता। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर सद्गुरु या प्रभुकी कृपासे ही साधक उसे समझ पाता है) ॥ ५४ ॥

धामांशभागस्य तथा हि वेदा
यथा च शाखा हि महीरुहस्य।
संवेदने चैव यथाऽऽमनन्ति
तस्मिन् हि सत्ये परमात्मनोऽर्थे ॥ ५५ ॥

द्वितीयाके चन्द्रमाकी सूक्ष्म कलाको बतानेके लिये जैसे वृक्षकी शाखाकी ओर संकेत किया जाता है, उसी प्रकार उस सत्यस्वरूप परमात्माका ज्ञान करानेके लिये ही वेदोंका भी उपयोग किया जाता है; ऐसा विद्वान् पुरुष मानते हैं ॥

अभिजानामि ब्राह्मणं व्याख्यातारं विचक्षणम्।
यश्छिन्नविचिकित्सः स व्याचष्टे सर्वसंशयान् ॥ ५६ ॥

मैं तो उसीको ब्राह्मण समझता हूँ, जो परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला और वेदोंकी यथार्थ व्याख्या करनेवाला हो, जिसके अपने संदेह मिट गये हों और जो दूसरोंके भी सम्पूर्ण संशयोंको मिटा सके ॥ ५६ ॥

नास्य पर्येषणं गच्छेत् प्राचीनं नोत दक्षिणम्।
नार्वाचीनं कुतस्तिर्यङ् नादिशं तु कथञ्चन ॥ ५७ ॥

इस आत्माकी खोज करनेके लिये पूर्व, दक्षिण, पश्चिम या उत्तरकी ओर जानेकी आवश्यकता नहीं है; फिर आग्नेय आदि कोणोंकी तो बात ही क्या है ? इसी प्रकार दिग्विभागसे रहित प्रदेशमें भी उसे नहीं ढूँढ़ना चाहिये ॥ ५७ ॥

तस्य पर्येषणं गच्छेत् प्रत्यर्थिषु कथञ्चन।
अविचिन्वन्निमं वेदे तपः पश्यति तं प्रभुम् ॥ ५८ ॥

आत्माका अनुसंधान अनात्मपदार्थोंमें तो किसी तरह करे ही नहीं, वेदके वाक्योंमें भी न ढूँढ़कर केवल तपके द्वारा उस प्रभुका साक्षात्कार करे ॥ ५८ ॥

तूष्णीम्भूत उपासीत न चेष्टेन्मनसापि च।
उपावर्तस्व तद् ब्रह्म अन्तरात्मनि विश्रुतम् ॥ ५९ ॥

वागादि इन्द्रियोंकी सब प्रकारकी चेष्टासे रहित होकर परमात्माकी उपासना करे, मनसे भी कोई चेष्टा न करे। राजन्! तुम भी अपने हृदयाकाशमें स्थित उस विख्यात परमेश्वरकी बुद्धिपूर्वक उपासना करो ॥ ५९ ॥

मौनाद्धि स मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः।
स्वलक्षणं तु यो वेद स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ६० ॥

मौन रहने अथवा जंगलमें निवास करनेमात्रसे कोई मुनि नहीं होता। जो अपने आत्माके स्वरूपको जानता है, वही श्रेष्ठ मुनि कहलाता है ॥ ६० ॥

सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत् तथा ॥ ६१ ॥

सम्पूर्ण अर्थोंको व्याकृत (प्रकट) करनेके कारण ज्ञानी पुरुष 'वैयाकरण' कहलाता है। यह समस्त अर्थोंका प्रकटीकरण मूलभूत ब्रह्मसे ही होता है, अतः वही मुख्य वैयाकरण है; विद्वान् पुरुष भी इसी प्रकार अर्थोंको व्याकृत (व्यक्त) करता है, इसलिये वह भी वैयाकरण है ॥ ६१ ॥

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।
सत्ये वै ब्राह्मणस्तिष्ठंस्तद् विद्वान् सर्वविद् भवेत् ॥ ६२ ॥

जो (योगी) सम्पूर्ण लोकोंको प्रत्यक्ष देख लेता है, वह मनुष्य उन सब लोकोंका द्रष्टा कहलाता है; परंतु जो एकमात्र सत्यस्वरूप ब्रह्ममें ही स्थित है, वही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण सर्वज्ञ होता है ॥ ६२ ॥

धर्मादिषु स्थितोऽप्येवं क्षत्रिय ब्रह्म पश्यति।
वेदानां चानुपूर्व्येण एतद् बुद्ध्या ब्रवीमि ते ॥ ६३ ॥

राजन्! पूर्वोक्त धर्म आदिमें स्थित होनेसे तथा वेदोंका क्रमसे (विधिवत्) अध्ययन करनेसे भी मनुष्य इसी प्रकार परमात्माका साक्षात्कार करता है। यह बात अपनी बुद्धिद्वारा निश्चय करके मैं तुम्हें बता रहा हूँ ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्मका निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

सनत्सुजात यामिमां परां त्वं
ब्राह्मीं वाचं वदसे विश्वरूपाम्।
परां हि कामेन सुदुर्लभां कथां
प्रब्रूहि मे वाक्यमिदं कुमार ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—सनत्सुजातजी! आप जिस सर्वोत्तम और सर्वरूपा ब्रह्मसम्बन्धिनी विद्याका उपदेश कर रहे हैं, कामी पुरुषोंके लिये वह अत्यन्त दुर्लभ है। कुमार! मेरा तो यह कहना है कि आप इस उत्कृष्ट विषयका पुनः प्रतिपादन करें ॥ १ ॥

सनत्सुजात उवाच

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं
यन्मां पृच्छन्नतिहृष्यतीव।
बुद्धौ विलीने मनसि प्रचिन्त्या
विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या ॥ २ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन्! तुम जो मुझसे बारंबार प्रश्न करते समय अत्यन्त हर्षित हो उठते हो, सो इस प्रकार जल्दबाजी करनेसे ब्रह्मकी उपलब्धि नहीं होती। बुद्धिमें मनके लय हो जानेपर सब वृत्तियोंका विरोध करनेवाली जो स्थिति है, उसका नाम है ब्रह्मविद्या और वह ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे ही उपलब्ध होती है ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अत्यन्तविद्यामिति यत् सनातनीं
ब्रवीषि त्वं ब्रह्मचर्येण सिद्धाम्।
अनारभ्यां वसतीह कार्यकाले
कथं ब्राह्मण्यममृतत्वं लभेत ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—जो कर्मोंद्वारा आरम्भ होने योग्य नहीं है तथा कार्यके समयमें भी जो इस आत्मामें ही रहती है, उस अनन्त ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली इस सनातन विद्याको यदि आप ब्रह्मचर्यसे ही प्राप्त होने योग्य बता रहे हैं तो

मुझ-जैसे लोग ब्रह्मसम्बन्धी अमृतत्व (मोक्ष) को कैसे पा सकते हैं ? ॥ ३ ॥

सनत्सुजात उवाच

अव्यक्तविद्यामभिधास्ये पुराणीं
बुद्ध्या च तेषां ब्रह्मचर्येण सिद्धाम्।
यां प्राप्यैनं मर्त्यलोकं त्यजन्ति
या वै विद्या गुरुवृद्धेषु नित्या ॥ ४ ॥

सनत्सुजातजी बोले—अब मैं (सच्चिदानन्दघन) अव्यक्त ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली उस पुरातन विद्याका वर्णन करूँगा, जो मनुष्योंको बुद्धि और ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त होती है, जिसे पाकर विद्वान् पुरुष इस मरणधर्मा शरीरको सदाके लिये त्याग देते हैं तथा जो वृद्ध गुरुजनोंमें नित्य विद्यमान रहती है ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रह्मचर्येण या विद्या शक्या वेदितुमञ्जसा।
तत् कथं ब्रह्मचर्यं स्यादेतद् ब्रह्मन् ब्रवीहि मे ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—ब्रह्मन्! यदि वह ब्रह्मविद्या ब्रह्मचर्यके द्वारा ही सुगमतासे जानी जा सकती है तो पहले मुझे यही बताइये कि ब्रह्मचर्यका पालन कैसे होता है ? ॥ ५ ॥

सनत्सुजात उवाच

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य
भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति
प्रहाय देहं परमं यान्ति योगम् ॥ ६ ॥

सनत्सुजातजी बोले—जो लोग आचार्यके आश्रममें प्रवेश कर अपनी सेवासे उनके अन्तरङ्ग भक्त हो ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, वे यहीं शास्त्रकार हो जाते हैं और देहत्यागके पश्चात् परम योगरूप परमात्माको प्राप्त होते हैं ॥६॥

अस्मिँल्लोके वै जयन्तीह कामान्
ब्राह्मीं स्थितिं ह्यनुतितिक्षमाणाः।
त आत्मानं निर्हरन्तीह देहा-
न्मुञ्जादिषीकामिव सत्त्वसंस्थाः ॥ ७ ॥

इस जगत्में जो लोग वर्तमान स्थितिमें रहते हुए ही सम्पूर्ण कामनाओंको जीत लेते हैं और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेके लिये ही नाना प्रकारके द्वन्द्वोंको सहन करते हैं, वे सत्त्वगुणमें स्थित हो यहाँ ही मूँजसे सींककी भाँति इस देहसे आत्माको (विवेकद्वारा) पृथक् कर लेते हैं ॥ ७ ॥

शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत।
आचार्यशास्ता या जातिः सा पुण्या साजरामरा ॥ ८ ॥

भारत ! यद्यपि माता और पिता—ये ही दोनों इस शरीरको जन्म देते हैं, तथापि आचार्यके उपदेशसे जो जन्म प्राप्त होता है, वह परम पवित्र और अजर-अमर है ॥

यः प्रावृणोत्यवितथेन वर्णा-
नृतं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ॥ ९ ॥

जो परमार्थतत्त्वके उपदेशसे सत्यको प्रकट करके अमरत्व प्रदान करते हुए ब्राह्मणादि वर्णोंकी रक्षा करते हैं, उन आचार्यको पिता-माता ही समझना चाहिये तथा उनके किये हुए उपकारका स्मरण करके कभी उनसे द्रोह नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत
स्वाध्यायमिच्छेच्छुचिरप्रमत्तः।
मानं न कुर्यान्नादधीत रोष-
मेष प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १० ॥

ब्रह्मचारी शिष्यको चाहिये कि वह नित्य गुरुको प्रणाम करे, बाहर-भीतरसे पवित्र हो प्रमाद छोड़कर स्वाध्यायमें मन लगावे, अभिमान न करे, मनमें क्रोधको स्थान न दे। यह ब्रह्मचर्यका पहला चरण है ॥ १० ॥

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ॥ ११ ॥

जो शिष्यकी वृत्तिके क्रमसे ही जीवन-निर्वाह करता हुआ पवित्र हो विद्या प्राप्त करता है, उसका यह नियम भी ब्रह्मचर्यव्रतका पहला ही पाद कहलाता है ॥ ११ ॥

आचार्यस्य प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि।
कर्मणा मनसा वाचा द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १२ ॥

अपने प्राण और धन लगाकर भी मन, वाणी तथा कर्मसे आचार्यका प्रिय करे, यह दूसरा पाद कहलाता है ॥

समा गुरौ यथा वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथाऽऽचरेत्।
तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १३ ॥

गुरुके प्रति शिष्यका जैसा श्रद्धा और सम्मानपूर्ण बर्ताव हो, वैसा ही गुरुकी पत्नी और पुत्रके साथ भी होना चाहिये। यह भी ब्रह्मचर्यका द्वितीय पाद ही कहलाता है ॥ १३ ॥

आचार्येणात्मकृतं विजानन्
ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन।
यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः
स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १४ ॥

आचार्यने जो अपना उपकार किया, उसे ध्यानमें रखकर तथा उससे जो प्रयोजन सिद्ध हुआ, उसका भी विचार करके मन-ही-मन प्रसन्न होकर शिष्य आचार्यके प्रति जो ऐसा भाव रखता है कि इन्होंने मुझे बड़ी उन्नत अवस्थामें पहुँचा दिया—यह ब्रह्मचर्यका तीसरा पाद है ॥

नाचार्यस्यानपाकृत्य प्रवासं
प्राज्ञः कुर्वीत नैतदहं करोमि ।
इतीव मन्येत न भाषयेत
स वै चतुर्थो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १५ ॥

आचार्यके उपकारका बदला चुकाये बिना अर्थात् गुरुदक्षिणा आदिके द्वारा उन्हें संतुष्ट किये बिना विद्वान् शिष्य वहाँसे अन्यत्र न जाय। [दक्षिणा देकर या गुरुकी सेवा करके] कभी मनमें ऐसा विचार न लावे कि मैं गुरुका उपकार कर रहा हूँ तथा मुँहसे भी कभी ऐसी बात न निकाले। यह ब्रह्मचर्यका चौथा पाद है ॥ १५ ॥

कालेन पादं लभते तथार्थं
ततश्च पादं गुरुयोगतश्च ।
उत्साहयोगेन च पादमृच्छे-
च्छास्त्रेण पादं च ततोऽभियाति ॥ १६ ॥

सनातनी विद्याके कुछ अंशको तथा उसके मर्मको तो मनुष्य समयके योगसे प्राप्त करता है, कुछ अंशको गुरुके सम्बन्धसे तथा कुछ अंशको अपने उत्साहके सम्बन्धसे और कुछ अंशको परस्पर शास्त्रके विचारसे प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

धर्मादयो द्वादश यस्य रूप-
मन्यानि चाङ्गानि तथा बलं च ।
आचार्ययोगे फलतीति चाहु-
र्ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्मचर्यम् ॥ १७ ॥

पूर्वोक्त धर्मादि बारह गुण जिसके स्वरूप हैं तथा और भी जो धर्मके अङ्ग एवं सामर्थ्य हैं, वे भी जिसके स्वरूप हैं, वह ब्रह्मचर्य आचार्यके सम्बन्धसे प्राप्त वेदार्थके ज्ञानसे सफल होता है, ऐसा कहा जाता है ॥ १७ ॥

एवं प्रवृत्तो यदुपालभेत वै
धनमाचार्याय तदनुप्रयच्छेत् ।
सतां वृत्तिं बहुगुणामेवमेति
गुरोः पुत्रे भवति च वृत्तिरेषा ॥ १८ ॥

इस तरह ब्रह्मचर्यपालनमें प्रवृत्त हुए ब्रह्मचारीको चाहिये कि जो कुछ भी धन (जीवननिर्वाह योग्य वस्तुएँ) भिक्षामें प्राप्त हो, उसे आचार्यको अर्पण कर दे। ऐसा करनेसे वह शिष्य सत्पुरुषोंके अनेक गुणोंसे युक्त आचार-को प्राप्त होता है। गुरुपुत्रके प्रति भी उसकी यही भावना रहनी चाहिये ॥ १८ ॥

एवं वसन् सर्वतो वर्धतीह
बहून् पुत्राँल्लभते च प्रतिष्ठाम् ।
वर्षन्ति चास्मै प्रदिशो दिशश्च
वसन्त्यस्मिन् ब्रह्मचर्ये जनाश्च ॥ १९ ॥

ऐसी वृत्तिसे गुरुगृहमें रहनेवाले शिष्यकी इस संसारमें सब प्रकारसे उन्नति होती है। वह (गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके) बहुत-से पुत्र और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। सम्पूर्ण दिशा-विदिशाएँ उसके लिये सुखकी वर्षा करती हैं तथा उसके निकट बहुत-से दूसरे लोग ब्रह्मचर्यपालनके लिये निवास करते हैं ॥ १९ ॥

एतेन ब्रह्मचर्येण देवा देवत्वमाप्नुवन् ।
ऋषयश्च महाभागा ब्रह्मलोकं मनीषिणः ॥ २० ॥

इस ब्रह्मचर्यके पालनसे ही देवताओंने देवत्व प्राप्त किया और महान् सौभाग्यशाली मनीषी ऋषियोंने ब्रह्मलोकको प्राप्त किया ॥ २० ॥

गन्धर्वाणामनेनैव रूपमप्सरसामभूत् ।
एतेन ब्रह्मचर्येण सूर्योऽप्यह्नाय जायते ॥ २१ ॥

इसीके प्रभावसे गन्धर्वों और अप्सराओंको दिव्य रूप प्राप्त हुआ। इस ब्रह्मचर्यके ही प्रतापसे सूर्यदेव समस्त लोकोंको प्रकाशित करनेमें समर्थ होते हैं ॥ २१ ॥

आकाङ्क्ष्यार्थस्य संयोगाद् रसभेदार्थिनामिव ।
एवं ह्येते समाज्ञाय तादृग्भावं गता इमे ॥ २२ ॥

रसभेदरूप चिन्तामणिसे याचना करनेवालोंको जैसे उनके अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य भी मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करनेवाला है। ऐसा समझकर ये ऋषि-देवता आदि ब्रह्मचर्यके पालनसे वैसे भावको प्राप्त हुए ॥ २२ ॥

य आश्रयेत् पावयेच्चापि राजन्
सर्वं शरीरं तपसा तप्यमानः ।
एतेन वै बाल्यमभ्येति विद्वान्
मृत्युं तथा स जयत्यन्तकाले ॥ २३ ॥

राजन्! जो इस ब्रह्मचर्यका आश्रय लेता है, वह ब्रह्मचारी यम-नियमादि तपका आचरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण शरीरको भी पवित्र बना लेता है तथा इससे विद्वान् पुरुष निश्चय ही अबोध बालककी भाँति राग-द्वेषसे शून्य हो जाता है और अन्त समयमें वह मृत्युको भी जीत लेता है ॥ २३ ॥

अन्तवतः क्षत्रिय ते जयन्ति
लोकान् जनाः कर्मणा निर्मलेन ।
ब्रह्मैव विद्वांस्तेन चाभ्येति सर्वं
नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ॥ २४ ॥

राजन्! सकाम पुरुष अपने पुण्यकर्मोंके द्वारा नाशवान् लोकोंको ही प्राप्त करते हैं; किंतु जो ब्रह्मको जाननेवाला विद्वान् है, वही उस ज्ञानके द्वारा सर्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। मोक्षके लिये ज्ञानके सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है॥

धृतराष्ट्र उवाच

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो
कृष्णमथाञ्जनं काद्रवं वा।
सद्ब्राह्मणः पश्यति योऽत्र विद्वान्
कथं रूपं तदमृतमक्षरं पदम्॥ २५॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वान् पुरुष यहाँ सत्यस्वरूप परमात्माके जिस अमृत एवं अविनाशी परमपदका साक्षात्कार करते हैं, उसका रूप कैसा है? क्या वह सफेद-सा, लाल-सा, काजल-सा काला या सुवर्ण-जैसे पीले रंगका प्रतीत होता है?॥ २५॥

सनत्सुजात उवाच

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो
कृष्णमायसमर्कवर्णम्।
न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे
नैतत् समुद्रे सलिलं बिभर्ति॥ २६॥

सनत्सुजातने कहा—यद्यपि श्वेत, लाल, काले, लोहेके सदृश अथवा सूर्यके समान प्रकाशमान अनेकों प्रकारके रूप प्रतीत होते हैं, तथापि ब्रह्मका वास्तविक रूप न पृथ्वीमें है, न आकाशमें। समुद्रका जल भी उस रूपको नहीं धारण करता॥ २६॥

न तारकासु न च विद्युदाश्रितं
न चाभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य।
न चापि वायौ न च देवतासु
नैतच्चन्द्रे दृश्यते नोत सूर्ये॥ २७॥

इस ब्रह्मका वह रूप न तारोंमें है, न बिजलीके आश्रित है और न बादलोंमें ही दिखायी देता है। इसी प्रकार वायु, देवगण, चन्द्रमा और सूर्यमें भी वह नहीं देखा जाता॥ २७॥

नैवर्क्षु तन्न यजुष्षु नाप्यथर्वसु
न दृश्यते वै विमलेषु सामसु।
रथन्तरे बार्हद्रथे वापि राजन्
महाव्रते नैव दृश्येद् ध्रुवं तत्॥ २८॥

राजन्! ऋग्वेदकी ऋचाओंमें, यजुर्वेदके मन्त्रोंमें, अथर्ववेदके सूक्तोंमें तथा विशुद्ध सामवेदमें भी वह नहीं दृष्टिगोचर होता। रथन्तर और बार्हद्रथ नामक साममें तथा महान् व्रतमें भी उसका दर्शन नहीं होता; क्योंकि वह ब्रह्म नित्य है॥ २८॥

अपारणीयं तमसः परस्तात्
तदन्तकोऽप्येति विनाशकाले।
अणीयो रूपं क्षुरधारया समं
महच्च रूपं तद् वै पर्वतेभ्यः॥ २९॥

ब्रह्मके उस स्वरूपका कोई पार नहीं पा सकता। वह अज्ञानरूप अन्धकारसे सर्वथा अतीत है। महाप्रलयमें सबका अन्त करनेवाला काल भी उसीमें लीन हो जाता है। वह रूप अस्तुरेकी धारके समान अत्यन्त सूक्ष्म और पर्वतोंसे भी महान् है (अर्थात् वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर और महान्‌से भी महान् है)॥ २९॥

सा प्रतिष्ठा तदमृतं लोकास्तद् ब्रह्म तद् यशः।
भूतानि जज्ञिरे तस्मात् प्रलयं यान्ति तत्र हि॥ ३०॥

वही सबका आधार है, वही अमृत है, वही लोक, वही यश तथा वही ब्रह्म है। सम्पूर्ण भूत उसीसे प्रकट हुए और उसीमें लीन होते हैं॥ ३०॥

अनामयं तन्महदुद्यतं यशो
वाचो विकारं कवयो वदन्ति।
यस्मिन् जगत् सर्वमिदं प्रतिष्ठितं
ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ ३१॥

विद्वान् कहते हैं, कार्यरूप जगत् वाणीका विकारमात्र है; किंतु जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है, वह ब्रह्म रोग, शोक और पापसे रहित है और उसका महान् यश सर्वत्र फैला हुआ है। उस नित्य कारणस्वरूप ब्रह्मको जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं॥ ३१॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४४॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

गुण-दोषोंके लक्षणोंका वर्णन और ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन

सनत्सुजात उवाच

शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मानः परासुता।
ईर्ष्या मोहो विधित्सा च कृपासूया जुगुप्सता॥ १॥
द्वादशैते महादोषा मनुष्यप्राणनाशनाः।

सनत्सुजातजी कहते हैं—राजन्! शोक, क्रोध, लोभ,

काम, मान, अत्यन्त निद्रा, ईर्ष्या, मोह, तृष्णा, कायरता, गुणोंमें दोष देखना और निन्दा करना—ये बारह महान् दोष मनुष्योंके प्राणनाशक हैं ॥ १½ ॥

एकैकमेते राजेन्द्र मनुष्यान् पर्युपासते ।
यैराविष्टो नरः पापं मूढसंज्ञो व्यवस्यति ॥ २ ॥

राजेन्द्र ! क्रमशः एकके पीछे दूसरा आकर ये सभी दोष मनुष्योंको प्राप्त होते जाते हैं, जिनके वशमें होकर मूढ़-बुद्धि मानव पापकर्म करने लगता है ॥ २ ॥

स्पृहयालुरुग्रः परुषो वा वदान्यः
क्रोधं बिभ्रन्मनसा वै विकत्थी ।
नृशंसधर्माः षडिमे जना वै
प्राप्याप्यर्थं नोत सभाजयन्ते ॥ ३ ॥

लोलुप, क्रूर, कठोरभाषी, कृपण, मन-ही-मन क्रोध करनेवाले और अधिक आत्मप्रशंसा करनेवाले—ये छः प्रकारके मनुष्य निश्चय ही क्रूर कर्म करनेवाले होते हैं। ये प्राप्त हुई सम्पत्तिका उचित उपयोग नहीं करते ॥ ३ ॥

सम्भोगसंविद् विषमोऽतिमानी
दत्त्वा विकत्थी कृपणो दुर्बलश्च ।
बहुप्रशंसी वन्दितद्विट् सदैव
सप्तैवोक्ताः पापशीला नृशंसाः ॥ ४ ॥

सम्भोगमें मन लगानेवाले, विषमता रखनेवाले, अत्यन्त अभिमानी, दान देकर आत्मश्लाघा करनेवाले, कृपण, असमर्थ होकर भी अपनी बहुत बड़ाई करनेवाले और सम्मान्य पुरुषोंसे सदा द्वेष रखनेवाले—ये सात प्रकारके मनुष्य ही पापी और क्रूर कहे गये हैं ॥ ४ ॥

धर्मश्च सत्यं च तपो दमश्च
अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया ।
दानं श्रुतं चैव धृतिः क्षमा च
महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य ॥ ५ ॥

धर्म, सत्य, तप, इन्द्रियसंयम, डाह न करना, लज्जा, सहनशीलता, किसीके दोष न देखना, दान, शास्त्रज्ञान, धैर्य और क्षमा—ये ब्राह्मणके बारह महान् व्रत हैं ॥ ५ ॥

यो नैतेभ्यः प्रच्यवेद् द्वादशभ्यः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वान्वितो यो
नास्य स्वमस्तीति च वेदितव्यम् ॥ ६ ॥

जो इन बारह व्रतोंसे कभी च्युत नहीं होता, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर शासन कर सकता है। इनमेंसे तीन, दो या एक गुणसे भी जो युक्त है, उसका अपना कुछ भी नहीं होता—ऐसा समझना चाहिये (अर्थात् उसकी किसी भी वस्तुमें ममता नहीं होती) ॥ ६ ॥

दमस्त्यागोऽथाप्रमाद इत्येतेष्वमृतं स्थितम् ।
एतानि ब्रह्ममुख्यानां ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियनिग्रह, त्याग और अप्रमाद—इनमें अमृतकी स्थिति है। ब्रह्म ही जिनका प्रधान लक्ष्य है, उन बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके ये ही मुख्य साधन हैं ॥ ७ ॥

सद् वासद् वा परीवादो ब्राह्मणस्य न शस्यते ।
नरकप्रतिष्ठास्ते वै स्युर्य एवं कुर्वते जनाः ॥ ८ ॥

सची हो या झूठी, दूसरोंकी निन्दा करना ब्राह्मणको शोभा नहीं देता। जो लोग दूसरोंकी निन्दा करते हैं, वे अवश्य ही नरकमें पड़ते हैं ॥ ८ ॥

मदोऽष्टादशदोषः स स्यात् पुरा योऽप्रकीर्तितः ।
लोकद्वेष्यं प्रातिकूल्यमभ्यसूया मृषा वचः ॥ ९ ॥

मदके अठारह दोष हैं, जो पहले सूचित करके भी स्पष्टरूपसे नहीं बताये गये थे—लोकविरोधी कार्य करना, शास्त्रके प्रतिकूल आचरण करना, गुणियोंपर दोषारोपण, असत्यभाषण, ॥ ९ ॥

कामक्रोधौ पारतन्त्र्यं परिवादोऽथ पैशुनम् ।
अर्थहानिर्विवादश्च मात्सर्यं प्राणिपीडनम् ॥ १० ॥

काम, क्रोध, पराधीनता, दूसरोंके दोष बताना, चुगली करना, धनका (दुरुपयोगसे) नाश, कलह, डाह, प्राणियोंको कष्ट पहुँचाना, ॥ १० ॥

ईर्ष्या मोदोऽतिवादश्च संज्ञानाशोऽभ्यसूयिता ।
तस्मात् प्राज्ञो न माद्येत सदा ह्येतद् विगर्हितम् ॥ ११ ॥

ईर्ष्या, हर्ष, बहुत बकवाद, विवेकशून्यता तथा गुणोंमें दोष देखनेका स्वभाव। इसलिये विद्वान् पुरुषको मदके वशीभूत नहीं होना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंने इस मदको सदा ही निन्दित बताया है ॥ ११ ॥

सौहृदे वै षड् गुणा वेदितव्याः
प्रिये हृष्यन्त्यप्रिये च व्यथन्ते ।
स्यादात्मनः सुचिरं याचते यो
ददात्ययाच्यमपि देयं खलु स्यात् ।
इष्टान् पुत्रान् विभवान् स्वांश्च दारा-
नभ्यर्थितश्चार्हति शुद्धभावः ॥ १२ ॥

सौहार्द (मित्रता) के छः गुण हैं, जो अवश्य ही जानने योग्य हैं। सुहृद्‌का प्रिय होनेपर हर्षित होना और अप्रिय होनेपर कष्टका अनुभव करना—ये दो गुण हैं। तीसरा गुण यह है कि अपना जो कुछ चिरसंचित धन है, उसे मित्रके

माँगनेपर दे डाले। मित्रके लिये अयाच्य वस्तु भी अवश्य देने योग्य हो जाती है और तो क्या, सुहृद्के माँगनेपर वह शुद्ध भावसे अपने प्रिय पुत्र, वैभव तथा पत्नीको भी उसके हितके लिये निछावर कर देता है ॥ १२ ॥

त्यक्तद्रव्यः संवसेन्नेह कामाद्
भुङ्क्ते कर्म स्वाशिषं बाधते च ॥ १३ ॥

मित्रको धन देकर उसके यहाँ प्रत्युपकार पानेकी कामनासे निवास न करे—यह चौथा गुण है। अपने परिश्रमसे उपार्जित धनका उपभोग करे (मित्रकी कमाईपर अवलम्बित न रहे)—यह पाँचवाँ गुण है तथा मित्रकी भलाईके लिये अपने भलेकी परवा न करे—यह छठा गुण है ॥ १३ ॥

द्रव्यवान् गुणवानेवं त्यागी भवति सात्त्विकः ।
पञ्च भूतानि पञ्चभ्यो निवर्तयति तादृशः ॥ १४ ॥

जो धनी गृहस्थ इस प्रकार गुणवान्, त्यागी और सात्त्विक होता है, वह अपनी पाँचों इन्द्रियोंसे पाँचों विषयोंको हटा देता है ॥ १४ ॥

एतत् समृद्धमप्यूर्ध्वं तपो भवति केवलम् ।
सत्त्वात् प्रच्यवमानानां संकल्पेन समाहितम् ॥ १५ ॥

जो (वैराग्यकी कमीके कारण) सत्त्वसे भ्रष्ट हो गये हैं, ऐसे मनुष्योंके दिव्य लोकोंकी प्राप्तिके संकल्पसे संचित किया हुआ यह इन्द्रियनिग्रहरूप तप समृद्ध होनेपर भी केवल ऊर्ध्वलोकोंकी प्राप्तिका कारण होता है [मुक्तिका नहीं] ॥ १५ ॥

यतो यज्ञाः प्रवर्धन्ते सत्यस्यैवावरोधनात् ।
मनसान्यस्य भवति वाचान्यस्याथ कर्मणा ॥ १६ ॥

क्योंकि सत्यस्वरूप ब्रह्मका बोध न होनेसे ही इन सकाम यज्ञोंकी वृद्धि होती है। किसीका यज्ञ मनसे, किसीका वाणीसे और किसीका क्रियाके द्वारा सम्पन्न होता है ॥ १६ ॥

संकल्पसिद्धं पुरुषमसंकल्पोऽधितिष्ठति ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण किञ्चान्यदपि मे शृणु ॥ १७ ॥

संकल्पसिद्ध अर्थात् सकामपुरुषसे संकल्परहित यानी निष्कामपुरुषकी स्थिति ऊँची होती है; किंतु ब्रह्मवेत्ताकी स्थिति उससे भी विशिष्ट है। इसके सिवा एक बात और बताता हूँ, सुनो ॥ १७ ॥

अध्यापयेन्महदेतद् यशस्यं
वाचो विकाराः कवयो वदन्ति ।
अस्मिन् योगे सर्वमिदं प्रतिष्ठितं
ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १८ ॥

यह महत्त्वपूर्ण शास्त्र परम यशरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है, इसे शिष्योंको अवश्य पढ़ाना चाहिये। परमात्मासे भिन्न यह सारा दृश्य-प्रपञ्च वाणीका विकारमात्र है—ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। इस योगशास्त्रमें यह परमात्मविषयक सम्पूर्ण ज्ञान प्रतिष्ठित है; इसे जो जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं ॥ १८ ॥

न कर्मणा सुकृतेनैव राजन्
सत्यं जयेज्जुहुयाद् वा यजेद् वा ।
नैतेन बालोऽमृत्युमभ्येति राजन्
रतिं चासौ न लभत्यन्तकाले ॥ १९ ॥

राजन्! (निष्कामभावके बिना किये हुए) केवल पुण्यकर्मके द्वारा सत्यस्वरूप ब्रह्मको नहीं जीता जा सकता। अथवा जो हवन या यज्ञ किया जाता है, उससे भी अज्ञानी पुरुष अमरत्व—मुक्तिको नहीं पा सकता तथा अन्तकालमें उसे शान्ति भी नहीं मिलती ॥ १९ ॥

तूष्णीमेक उपासीत चेष्टेत मनसापि न ।
तथा संस्तुतिनिन्दाभ्यां प्रीतिरोषौ विवर्जयेत् ॥ २० ॥

इसलिये सब प्रकारकी चेष्टासे रहित होकर एकान्तमें उपासना करे, मनसे भी कोई चेष्टा न होने दे तथा स्तुतिमें राग और निन्दामें द्वेष न करे ॥ २० ॥

अत्रैव तिष्ठन् क्षत्रिय ब्रह्माविशति पश्यति ।
वेदेषु चानुपूर्व्येण एतद् विद्वन् ब्रवीमि ते ॥ २१ ॥

राजन्! उपर्युक्त साधन करनेसे मनुष्य यहाँ ही ब्रह्मका साक्षात्कार करके उसमें विलीन हो जाता है। विद्वन्! वेदोंमें क्रमशः विचार करके जो मैंने जाना है, वही तुम्हें बता रहा हूँ ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

परमात्माके स्वरूपका वर्णन और योगीजनोंके द्वारा उनके साक्षात्कारका प्रतिपादन

सनत्सुजात उवाच

यत् तच्छुक्रं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद् यशः ।
तद् वै देवा उपासते तस्मात् सूर्यो विराजते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १ ॥

सनत्सुजातजी कहते हैं—राजन्! जो शुद्ध ब्रह्म है, वह महान् ज्योतिर्मय, देदीप्यमान एवं विशाल यशरूप है। सब देवता उसीकी उपासना करते हैं। उसीके प्रकाशसे सूर्य प्रकाशित होते हैं, उस सनातन भगवान्का योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ १ ॥

शुक्राद् ब्रह्म प्रभवति ब्रह्म शुक्रेण वर्धते।
तच्छुक्रं ज्योतिषां मध्येऽतप्तं तपति तापनम्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २ ॥

शुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्मसे हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति होती है तथा उसीसे वह वृद्धिको प्राप्त होता है। वह शुद्ध ज्योतिर्मय ब्रह्म ही सूर्यादि सम्पूर्ण ज्योतियोंके भीतर स्थित होकर सबको प्रकाशित कर रहा है और तपा रहा है; वह स्वयं सब प्रकारसे अतप्त और स्वयंप्रकाश है, उसी सनातन भगवान्का योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ २ ॥

अपोऽथ अद्भ्यः सलिलस्य मध्ये
उभौ देवौ शिश्रियातेऽन्तरिक्षे।
अतन्द्रितः सवितुर्विवस्वा-
नुभौ बिभर्ति पृथिवीं दिवं च।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ३ ॥

जलकी भाँति एकरस परब्रह्म परमात्मामें स्थित पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे अत्यन्त स्थूल पाञ्चभौतिक शरीरके हृदयाकाशमें दो देव—ईश्वर और जीव उसको आश्रय बनाकर रहते हैं। सबको उत्पन्न करनेवाला सर्वव्यापी परमात्मा सदैव जाग्रत् रहता है। वही इन दोनोंको तथा पृथ्वी और द्युलोकको भी धारण करता है। उस सनातन भगवान्का योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ ३ ॥

उभौ च देवौ पृथिवीं दिवं च
दिशः शुक्रो भुवनं बिभर्ति।
तस्माद् दिशः सरितश्च स्रवन्ति
तस्मात् समुद्रा विहिता महान्ताः।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ४ ॥

उक्त दोनों देवताओंको, पृथ्वी और आकाशको, सम्पूर्ण दिशाओंको तथा समस्त लोकसमुदायको वह शुद्ध ब्रह्म ही धारण करता है। उसी परब्रह्मसे दिशाएँ प्रकट हुई हैं, उसीसे सरिताएँ प्रवाहित होती हैं तथा उसीसे बड़े-बड़े समुद्र प्रकट हुए हैं। उस सनातन भगवान्का योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ ४ ॥

चक्रे रथस्य तिष्ठन्तोऽध्रुवस्याव्ययकर्मणः।
केतुमन्तं वहन्त्यश्वास्तं दिव्यमजरं दिवि।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ५ ॥

जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिका संघात—शरीर विनाशशील है, जिसके कर्म अपने-आप नष्ट होनेवाले नहीं हैं, ऐसे इस शरीररूप रथके चक्रकी भाँति इसे घुमानेवाले कर्मसंस्कारसे युक्त मनमें जुते हुए इन्द्रियरूप घोड़े उस हृदयाकाशमें स्थित ज्ञानस्वरूप दिव्य अविनाशी जीवात्माको जिस सनातन परमेश्वरके निकट ले जाते हैं, उस सनातन भगवान्का योगीजन साक्षात्कार करते हैं * ॥ ५ ॥

न सादृश्ये तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।
मनीषयाथो मनसा हृदा च
य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ६ ॥

उस परमात्माका स्वरूप किसी दूसरेकी तुलनामें नहीं आ सकता; उसे कोई चर्मचक्षुओंसे नहीं देख सकता। जो निश्चयात्मिका बुद्धिसे, मनसे और हृदयसे उसे जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। उस सनातन भगवान्का योगीजन साक्षात्कार करते हैं† ॥ ६ ॥

द्वादशपूगां सरितं पिबन्तो देवरक्षिताम्।
मध्वीक्षन्तश्च ते तस्याः संचरन्तीह घोराम्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ७ ॥

जो दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन बारहके समुदायसे युक्त है तथा जो परमात्मासे सुरक्षित है, उस संसाररूप भयंकर नदीके विषबरूप मधुर जलको देखने और पीनेवाले लोग उसीमें गोता लगाते रहते हैं। इससे मुक्त करनेवाले उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ ७ ॥

तदर्धमासं पिबति संचित्य भ्रमरो मधु।
ईशानः सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ८ ॥

---

* प्रस्तुत रूपकका कठोपनिषद्के प्रथम अध्यायकी तीसरी वल्लीके तीसरेसे लेकर नवें श्लोकतक विस्तृत विवरण मिलता है।

† इससे प्रायः मिलता-जुलता एक श्लोक कठोपनिषद्में मिलता है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

जैसे शहदकी मक्खी आधे मासतक शहदका संग्रह करके फिर आधे मासतक उसे पीती रहती है, उसी प्रकार यह भ्रमणशील संसारी जीव इस जन्ममें किये हुए संचित कर्मको परलोकमें (विभिन्न योनियोंमें) भोगता है। परमात्माने समस्त प्राणियोंके लिये उनके कर्मानुसार कर्मफलभोगरूप हविकी अर्थात् समस्त भोग-पदार्थोंकी व्यवस्था कर रक्खी है। उस सनातन भगवान्का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥८॥

हिरण्यपर्णमश्वत्थमभिपद्य ह्यपक्षकाः ।
ते तत्र पक्षिणो भूत्वा प्रपतन्ति यथा दिशम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ९ ॥

जिसके विषयरूपी पत्ते स्वर्णके समान मनोरम दिखायी पड़ते हैं, उस संसाररूपी अश्वत्थवृक्षपर आरूढ होकर पंख-हीन जीव कर्मरूपी पंख धारणकर अपनी वासनाके अनुसार विभिन्न योनियोंमें पड़ते हैं अर्थात् एक योनिसे दूसरी योनिमें गमन करते हैं; किंतु योगीजन उस सनातन परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ॥ ९ ॥

पूर्णात् पूर्णान्युद्धरन्ति पूर्णात् पूर्णानि चक्रिरे।
हरन्ति पूर्णात् पूर्णानि पूर्णमेवावशिष्यते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १० ॥

पूर्ण परमेश्वरसे पूर्ण—चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं, पूर्ण सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही वे पूर्ण प्राणी चेष्टा करते हैं, फिर पूर्णसे ही पूर्णब्रह्ममें उनका उपसंहार (विलय) होता है तथा अन्तमें एकमात्र पूर्णब्रह्म ही शेष रह जाता है। उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥१०॥

तस्माद् वै वायुरायातस्तस्मिंश्च प्रयतः सदा ।
तस्मादग्निश्च सोमश्च तस्मिंश्च प्राण आततः ॥ ११ ॥

उस पूर्णब्रह्मसे ही वायुका आविर्भाव हुआ है और उसीमें वह चेष्टा करता है। उसीसे अग्नि और सोमकी उत्पत्ति हुई है तथा उसीमें यह प्राण विस्तृत हुआ है ॥११॥

सर्वमेव ततो विद्यात् तत् तद् वक्तुं न शक्नुमः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १२ ॥

कहाँतक गिनावें, हम अलग-अलग वस्तुओंका नाम बतानेमें असमर्थ हैं। तुम इतना ही समझो कि सब कुछ उस परमात्मासे ही प्रकट हुआ है। उस सनातन भगवान्का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १२ ॥

अपानं गिरति प्राणः प्राणं गिरति चन्द्रमाः ।
आदित्यो गिरते चन्द्रमादित्यं गिरते परः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १३ ॥

अपानको प्राण अपनेमें विलीन कर लेता है, प्राणको चन्द्रमा, चन्द्रमाको सूर्य और सूर्यको परमात्मा अपनेमें विलीन कर लेता है; उस सनातन परमेश्वरका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १३ ॥

एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
तं चेत् संततमूर्ध्वाय न मृत्युर्नामृतं भवेत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १४ ॥

इस संसार-सलिलसे ऊपर उठा हुआ हंसरूप परमात्मा अपने एक पाद (जगत्) को ऊपर नहीं उठा रहा है; यदि उसे भी वह ऊपर उठा ले तो सबका बन्ध और मोक्ष सदाके लिये मिट जाय। उस सनातन परमेश्वरका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ १४ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
लिङ्गस्य योगेन स याति नित्यम् ।
तमीशमीड्यमनुकल्पमाद्यं
पश्यन्ति मूढा न विराजमानम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १५ ॥

हृदयदेशमें स्थित वह अङ्गुष्ठमात्र जीवात्मा सूक्ष्म (वहीं अन्तर्यामीरूपसे स्थित) शरीरके सम्बन्धसे सदा जन्म-मरणको प्राप्त होता है। उस सबके शासक, स्तुतिके योग्य, सर्वसमर्थ, सबके आदिकारण एवं सर्वत्र विराजमान परमात्माको मूढ़ जीव नहीं देख पाते; किंतु योगीजन उस सनातन परमेश्वरका साक्षात्कार करते हैं ॥ १५ ॥

असाधना वापि ससाधना वा
समानमेतद् दृश्यते मानुषेषु ।
समानमेतदमृतस्येतरस्य
मुक्तास्तत्र मध्व उत्सं समापुः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १६ ॥

कोई साधनसम्पन्न हों या साधनहीन, वह ब्रह्म सब मनुष्योंमें समानरूपसे देखा जाता है। वह (अपनी ओरसे) बद्ध और मुक्त दोनोंके ही लिये समान है। अन्तर इतना ही है कि इन दोनोंमेंसे जो मुक्त पुरुष हैं, वे ही आनन्दके मूलस्रोत परमात्माको प्राप्त होते हैं, (दूसरे

नहीं) । उसी सनातन भगवान्‌का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १६ ॥

उभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति
तदा हुतं चाहुतमग्निहोत्रम् ।
मा ते ब्राह्मी लघुतामादधीत
प्रज्ञानं स्यान्नाम धीरा लभन्ते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १७ ॥

ज्ञानी पुरुष ब्रह्मविद्याके द्वारा इस लोक और परलोक दोनोंके तत्त्वको जानकर ब्रह्मभावको प्राप्त होता है । उस समय उसके द्वारा यदि अग्निहोत्र आदि कर्म न भी हुए हों तो भी वे पूर्ण हुए समझे जाते हैं । राजन् ! यह ब्रह्मविद्या तुममें लघुता न आने दे तथा इसके द्वारा तुम्हें वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो, जिसे धीर पुरुष ही प्राप्त करते हैं । उसी ब्रह्मविद्याके द्वारा योगीलोग उस सनातन परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ॥ १७ ॥

एवंरूपो महात्मा स पावकं पुरुषो गिरन् ।
यो वै तं पुरुषं वेद तस्येहार्थो न रिष्यते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १८ ॥

जो ऐसा महात्मा पुरुष है, वह भोक्ताभावको अपनेमें विलीन करके उस पूर्ण परमेश्वरको जान लेता है। इस लोकमें उसका प्रयोजन नष्ट नहीं होता [अर्थात् वह कृतकृत्य हो जाता है] । उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १८ ॥

यः सहस्रं सहस्राणां पक्षान् संतत्य सम्पतेत् ।
मध्यमे मध्य आगच्छेदपि चेत् स्यान्मनोजवः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १९ ॥

कोई मनके समान वेगवाला ही क्यों न हो और दस लाख भी पंख लगाकर क्यों न उड़े, अन्तमें उसे हृदयस्थित परमात्मामें ही आना पड़ेगा । उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ १९ ॥

न दर्शने तिष्ठति रूपमस्य
पश्यन्ति चैनं सुविशुद्धसत्त्वाः ।
हितो मनीषी मनसा न तप्यते
ये प्रव्रजेयुरमृतास्ते भवन्ति ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २० ॥

इस परमात्माका स्वरूप सबके प्रत्यक्ष नहीं होता; जिनका अन्तःकरण विशुद्ध है, वे ही उसे देख पाते हैं । जो सबके हितैषी और मनको वशमें करनेवाले हैं तथा जिनके मनमें कभी दुःख नहीं होता एवं जो संसारके सब सम्बन्धोंका सर्वथा त्याग कर देते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं । उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ २० ॥

गूहन्ति सर्पा इव गह्वराणि
स्वशिक्षया स्वेन वृत्तेन मर्त्याः ।
तेषु प्रमुह्यन्ति जना विमूढा
यथाध्वानं मोहयन्ते भयाय ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २१ ॥

जैसे साँप बिलोंका आश्रय ले अपनेको छिपाये रहते हैं, उसी प्रकार दम्भी मनुष्य अपनी शिक्षा और व्यवहारकी आड़में अपने दोषोंको छिपाये रखते हैं । जैसे ठग रास्ता चलनेवालोंको भयमें डालनेके लिये दूसरा रास्ता बतलाकर मोहित कर देते हैं, मूर्ख मनुष्य उनपर विश्वास करके अत्यन्त मोहमें पड़ जाते हैं; इसी प्रकार जो परमात्माके मार्गमें चलनेवाले हैं, उन्हें भी दम्भी पुरुष भयमें डालनेके लिये मोहित करनेकी चेष्टा करते हैं, किंतु योगीजन भगवत्कृपासे उनके फंदेमें न आकर उस सनातन परमात्माका ही साक्षात्कार करते हैं ॥ २१ ॥

नाहं सदासत्कृतः स्यां न मृत्यु-
र्नचामृत्युरमृतं मे कुतः स्यात् ।
सत्यानृते सत्यसमानबन्धे
सतश्च योनिरसतश्चैक एव ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २२ ॥

राजन् ! मैं कभी किसीके असत्कारका पात्र नहीं होता । न मेरी मृत्यु होती है न जन्म, फिर मोक्ष किसका और कैसे हो [क्योंकि मैं नित्यमुक्त ब्रह्म हूँ] । सत्य और असत्य सब कुछ मुझ सनातन समब्रह्ममें स्थित हैं । एकमात्र मैं ही सत् और असत्‌की उत्पत्तिका स्थान हूँ । मेरे स्वरूपभूत उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ २२ ॥

न साधुना नोत असाधुना वा-
समानमेतद् दृश्यते मानुषेषु ।

समानमेतदमृतस्य विद्या-
देवंयुक्तो मधु तद् वै परीप्सेत्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २३ ॥

परमात्माका न तो साधुकर्मसे सम्बन्ध है और न असाधु कर्मसे । यह विषमता तो देहाभिमानी मनुष्योंमें ही देखी जाती है । ब्रह्मका स्वरूप सर्वत्र समान ही समझना चाहिये । इस प्रकार ज्ञानयोगसे युक्त होकर आनन्दमय ब्रह्मको ही पानेकी इच्छा करनी चाहिये । उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ २३ ॥

नास्यातिवादा हृदयं तापयन्ति
नानधीतं नाहुतमग्निहोत्रम्।
मनो ब्राह्मी लघुतामादधीत
प्रज्ञां चास्मै नाम धीरा लभन्ते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २४ ॥

इस ब्रह्मवेत्ता पुरुषके हृदयको निन्दाके वाक्य संतप्त नहीं करते । 'मैंने स्वाध्याय नहीं किया, अग्निहोत्र नहीं किया' इत्यादि बातें भी उसके मनमें तुच्छ भाव नहीं उत्पन्न करतीं । ब्रह्मविद्या शीघ्र ही उसे वह स्थिरबुद्धि प्रदान करती है, जिसे धीर पुरुष ही प्राप्त करते हैं । उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ २४ ॥

एवं यः सर्वभूतेषु आत्मानमनुपश्यति ।
अन्यत्रान्यत्र युक्तेषु किं स शोचेत् ततः परम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार जो समस्त भूतोंमें परमात्माको निरन्तर देखता है, वह ऐसी दृष्टि प्राप्त होनेके अनन्तर अन्यान्य विषय-भोगोंमें आसक्त मनुष्योंके लिये क्या शोक करे ? ॥ २५ ॥

यथोदपाने महति सर्वतः सम्प्लुतोदके।
एवं सर्वेषु वेदेषु आत्मानमनुजानतः ॥ २६ ॥

जैसे सब ओर जलसे परिपूर्ण बड़े जलाशयके प्राप्त होनेपर जलके लिये अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार आत्मज्ञानीके लिये सम्पूर्ण वेदोंमें कुछ भी प्राप्त करने योग्य शेष नहीं रह जाता ॥ २६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो महात्मा
न दृश्यते सौ हृदि संनिविष्टः।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितश्च
स तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः ॥ २७ ॥

यह अङ्गुष्ठमात्र अन्तर्यामी परमात्मा सबके हृदयके भीतर स्थित है, किंतु सबको दिखायी नहीं देता । वह अजन्मा, चराचरस्वरूप और दिन-रात सावधान रहनेवाला है । जो उसे जान लेता है, वह ज्ञानी परमानन्दमें निमग्न हो जाता है ॥

अहमेव स्मृतो माता पिता पुत्रोऽस्म्यहं पुनः।
आत्माहमपि सर्वस्य यच्च नास्ति यदस्ति च ॥ २८ ॥

धृतराष्ट्र ! मैं ही सबकी माता और पिता माना गया हूँ, मैं ही पुत्र हूँ और सबका आत्मा भी मैं ही हूँ । जो है, वह भी और जो नहीं है, वह भी मैं ही हूँ ॥ २८ ॥

पितामहोऽस्मि स्थविरः पिता पुत्रश्च भारत।
ममैव यूयमात्मस्था न मे यूयं न वो वयम् ॥ २९ ॥

भारत ! मैं ही तुम्हारा बूढ़ा पितामह, पिता और पुत्र भी हूँ । तुम सब लोग मेरी ही आत्मामें स्थित हो, फिर भी (वास्तवमें) न तुम हमारे हो और न हम तुम्हारे हैं ॥ २९ ॥

आत्मैव स्थानं मम जन्म चात्मा
ओतप्रोतोऽहमजरप्रतिष्ठः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितोऽहं
मां विज्ञाय कविरास्ते प्रसन्नः ॥ ३० ॥

आत्मा ही मेरा स्थान है और आत्मा ही मेरा जन्म (उद्गम) है । मैं सबमें ओतप्रोत और अपनी अजर (नित्य-नूतन) महिमामें स्थित हूँ । मैं अजन्मा, चराचरस्वरूप तथा दिन-रात सावधान रहनेवाला हूँ । मुझे जानकर ज्ञानी पुरुष परम प्रसन्न हो जाता है ॥ ३० ॥

अणोरणीयान् सुमनाः सर्वभूतेषु जाग्रति।
पितरं सर्वभूतेषु पुष्करे निहितं विदुः ॥ ३१ ॥

परमात्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म तथा विशुद्ध मनवाला है। वही सब भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे प्रकाशित है । सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयकमलमें स्थित उस परमपिताको ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

रजि० सं० ए

॥ श्रीहरिः ॥

प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंसे सादर निवेदन

१-'महाभारत' का यह ग्यारहवाँ अङ्क है। बारहवाँ अङ्क प्रकाशित हो जानेपर
पूरा हो जायगा। इसके पश्चात् दूसरा वर्ष प्रारम्भ होगा।

२-विविध प्रकारकी उलझनोंमें पड़े हुए आजके व्यग्र जगत्को—आसक्ति-काम
द्रोह, असंतोष-अशान्ति आदिकी भीषण आगमें झुलसते हुए मानव-प्राणीको 'महाभ
प्रकाशित छोटी-बड़ी सच्ची प्रेरणाप्रद घटनाओंके द्वारा वह विचित्र समाधान प्राप्त
जिससे उसकी सारी उलझनें सुलझ जाती हैं और त्याग-वैराग्य, समता-संतोष तथा आ
अनुरागका वह मधुर शीतल सुधा-सलिल-रस-प्रवाह मिलता है, जिससे कामना-वास
असंतोष-अशान्तिकी प्रचण्ड अग्नि सदाके लिये सहज ही शान्त हो जाती है। इसमें
कथा ऐसी प्रेरणाप्रद होती है कि ध्यानपूर्वक पढ़नेपर जीवनमें सहज ही सुन्दर प
हो सकता है।

३-दूसरे वर्षमें भी प्रतिमास दो सौ पृष्ठ तथा २ रंगीन और ६ सादे चित्र देन
है। लाइन-चित्र भी प्रसङ्गानुसार दिये जा सकते हैं।

४-वार्षिक मूल्य डाकखर्चसहित २०) है। यदि किसी कारणवश डाकखर्च बढ़
वार्षिक मूल्य कुछ बढ़ाया जा सकता है। जिन ग्राहकोंके ४॥) गतवर्षके जमा
केवल १५॥) ही भेजनेकी कृपा करें।

५-जिन ग्राहकोंके चंदेके रुपये अङ्क निकलनेतक नहीं मिलेंगे, उनको वी० पी
प्रथम अङ्क भेज दिया जायगा।

६-सभी पुराने ग्राहकोंको अगले वर्ष भी ग्राहक रहना ही चाहिये, अन्यथा उनकी
अधूरी रहेगी। यदि किसी विशेष कारणवश किसीको ग्राहक न रहना हो तो कृपापूर्व
कार्ड लिखकर सूचना दे दें ताकि डाकखर्चकी हानि न सहनी पड़े।

७-जिन नये ग्राहकोंको प्रथम वर्षके प्रारम्भसे ही अङ्क लेने हों, वे दो सालके
४०) भेजनेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—'मासिक महाभारत', पो० गीताप्रेस (गोरख

